

संस्थापक-संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

संयुक्तांक : 14-15

जनवरी-दिसंबर 2013

संपादक

विनोद तिवारी

सहायक संपादक

तेजभान

अक्षर संयोजन

कॉम्पैक्ट प्रिन्टर्स

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : सुरेन्द्र राजन

मूल्य

एक प्रति : 50 रुपये

सदस्यता

चार अंकों के लिए : 200 रुपये

संस्थाओं के लिए : 300 रुपये

वार्षिक : 100 रुपये

पंचवार्षिक : 500 रुपये

दस वार्षिक : 1000 रुपये

आजीवन : 2500 रुपये

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी,
सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, 1/11700-बी,
एफ-934, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह
के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-6762315

मो. : 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

PAKSHDHAR

A bi-annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

सम्पादकीय

- दर्द तो बहुत है आशिक्राना नहीं है 5
(आलोचना की जरूरत आज किसे?)

एक कवि : एक राग

- अशोक वाजपेयी की कविताएँ 9

व्याख्यान

- संस्कृत कविता में जनजीवन के निरूपण व प्रतिरोध की परंपरा / राधावल्लभ त्रिपाठी 19

अनंतर

- दो कविताएँ और कुछ पोर्ट्रेट / अर्चना वर्मा 41

विशेष

- अन्हियारे तलछट में चमका (उपन्यास) / अल्पना मिश्रा 48

बात कहूँ मैं खरी

- समाज से साहित्य का रिश्ता और संवाद अनेक स्तरीय होता है 121
(अशोक वाजपेयी से सूर्य नारायण और विवेक निराला की बातचीत)

आलेख

- लाज़िम नहीं कि खिज़्र की हम पैरवी करें / रवि श्रीवास्तव 129

- महिमा उसकी भी रहे जिसका नाम नज़ीर / आशीष त्रिपाठी 164
(नज़ीर की कविता)

- जमीन से जुदा नहीं हो सकता आकाश / विनोद शाही 189
(भारतीय यथार्थवाद और पतंजलि)

- घिसी-पिटी जर्जर दुनिया की एक झाँकी / जॉक दरीदा (अनु. रामकीर्ति शुक्ल) 198

कविता

छः कविताएँ / विवेक निराला	215
चार कविताएँ / शैलेन्द्र चौहान	220
तीन कविताएँ / वंदना मिश्रा	223
पाँच कविताएँ / अस्मुरारी नंदन मिश्र	226
तीन कविताएँ / तरुण गुहा नियोगी	232

कहानी

विखंडन / राजेन्द्र दानी	234
राधा की हँसी / भवानी सिंह	242
जूठ / जितेन्द्र विसारिया	253

पुनर्पाठ

'गोदान' की उत्तरकथा : 'मढ़ी का दीवा' / जितेन्द्र गुप्ता	262
---	-----

दर्द तो खूब है आशिक्राना नहीं है (आलोचना की जरूरत आज किसे?)

...यह एक बेहद तलख
और हिला देने वाली टिपण्णी है
मेरे समूचे समय पर

(उत्तर कबीर)

हिन्दी-आलोचना को लेकर इधर बराबर यह संदेह प्रकट किया गया है और किया जा रहा रहा है कि वह लगातार कमजोर, लचर, सतही, असम्वादी और अविश्वसनीय हुयी है। आलोचना ने अपनी साख गवाई है। उसकी विश्वसनीयता का दायरा कमतर हुआ है। हिन्दी आलोचना में यह निराशा का दौर है। क्या सचमुच स्थिति इतनी निराशा-जनक है? एक पक्ष से यह सही लग सकता है पर यह सिक्के का एक पहलू है। नजर यहाँ भी टिकानी चाहिए कि आलोचना की जरूरत आज किसे है? कौन आज आलोचना की परवाह करता है? शिदत से इस बात को महसूस किया जा रहा है कि आज आलोचना का लोकतंत्र लगातार घटता-सिमटता जा रहा है। क्या इसके पीछे एकमात्र कारण यही है कि अब आलोचना और आलोचकों में वह बात नहीं रही जो पहले हुआ करती थी। इसके ठीक उलट भी तो है। कभी अज्ञेय ने कहा था कि, “यह सच है कि, नकलची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नकली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियां ही झूठी हैं।” अब तो इसकी पहचान ही गड़-मड़ हुयी जा रही है कि कौन नकलची है और कितने नकली हैं। खोटा कहने की बात तो दूर अब हर ‘धातु’ अपने को कंचन ही मानकर महान हुआ जा रहा है। अगर कसौटी पर कस कर उसे आप कांसा या पीतल कहने की हिमाकत करते हैं तो ‘खोटा’ सिक्का अपने नक्कालेपन को जिस समानता, बराबरी, लोकतंत्र आदि के खोखे में सुरक्षित किये रहता है उन सबको भूलकर मर्यादा की सारी हदें पार कर आपकी ऐसी-तैसी करके आपसे जीवन भर

के सारे तकाजे तोड़ लेगा। असहिष्णुता की सारी हदें पार कर 'युद्धं देहि', 'युद्धं देहि' की मुद्रा में आ जायेगा। इस संघर्ष के लिए रणभूमि सोशल मीडिया ने मुहैया करा ही दिया है। प्रच्छन्न लांछन, अस्पष्ट आरोप, अपुष्ट तथ्य और अतार्किक घामड़पन को आज के साहित्यिक वातावरण का निर्भीक निरभ्रांत सत्य बनाने की पूरी कवायद चल रही है। भाषा सपाट, तीखी और लड्डुमार होती जा रही है। सनसनी और चटखारापन इसका मिजाज बनता जा रहा है और 'कनकौवा उड़ाना' इसकी प्रवृत्ति। सोशल मीडिया ने व्यक्तिगत मतभेद और विरोध को सामाजिक मतभेद और विरोध के नाम पर रोमानवादी छल-प्रपंच का ऐसा मंच दिया है जिसकी कोई सीमा नहीं। उत्तर-पूंजीवादी समाज में मध्यवर्ग के झूठ और प्रवंचना का यह ऐसा जरिया बनता जा रहा है जिसमें हम सुनाना तो अधिक से अधिक चाहते हैं पर सुनना एकदम से पसंद नहीं करते। सुनाने की इतनी अधीर उग्रता और न सुनने की इतनी उद्धत उपेक्षा का माहौल पहले कभी नहीं रहा। तुरंत 'निपटान' सोशल मीडिया की रहन में है। अभी नहीं निपटाया तो सबकुछ खत्म हो जाएगा। पीछे छूट जाने का इतना भय। यह कहा जा रहा है और सच ही कहा जा रहा है कि, मुद्रण-संस्थाओं के समानांतर सोशल मीडिया ने एक ऐसा 'स्पेस' दिया है जहाँ कोई भी लेखक, चिन्तक आलोचक, कवि, कथाकार कुछ भी हो सकता है। पर यदि, नजर गड़ाई जाय और तवज्जो दिया जाय तो दिखेगा कि, उस स्वतः सुलभ 'स्पेस' का अधिकांश हिस्सा पुनरुत्पादित, पुनरावृत्त, विचारहीन तलछट से आच्छादित प्रतिविम्ब मात्र है उससे अधिक कुछ नहीं। यह सच है कि वर्तमान को हम फूंक कर उड़ा नहीं सकते। वर्तमान की अपनी गति, अपनी अपरिहार्यता और अपनी तार्किकता होती है। पर यह भी सच है किया वर्तमान की इस गति, इस अपरिहार्यता और इस तार्किकता में त्वरा के साथ शामिल जो कुछ है वह इतना समसामयिक है कि 'अतीत' होने पर उसकी 'ऐतिहासिकता' का कोई तकाजा नहीं बनता। क्योंकि, 'ऐतिहासिक' होने की भी अपनी अपरिहार्यता और अपनी तार्किकता होती है। अपने समय में बुरुजा संस्कृति के संकट को पहचानने वाले मार्क्सवादी आलोचक और चिन्तक क्रिस्टोफर कॉडवेल के हवाले से कहा जाय तो, "ऐतिहासिक वही होगा जो इतिहास का सृजनशील अभिकर्ता होगा।"

रचना और आलोचना में बैर तो पुश्तैनी रहा है। परन्तु, इतना असम्वादी, असहिष्णु, गैर-जिम्मेदाराना माहौल कभी नहीं रहा। 'लाग-डांट प्यार-बात' का 'स्पेस' खत्म नहीं हुआ था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जब निराला को नकारा या उनकी आलोचना की तो निराला ने 'कालेज का बचुआ' शीर्षक कविता लिखकर उनकी खबर ली। परन्तु वही निराला हिन्दी साहित्य सम्मलेन के फैजाबाद अधिवेशन में 'शुकुल जी' का अपमान बर्दाश्त नहीं करते हैं। प्रसाद, पन्त सबने अपने समय की आलोचना से मुठभेड़ किया है। जवाब दिया है पर उसको विसम्वादी नहीं होने दिया। परस्पर मिलने पर दुआ-सलाम, खैर-खातिर को बंद नहीं किया। यह नहीं कि, तुम होंगे आलोचक-फालोचक, मेरे ठेंगे से। त्रिलोचन अज्ञेय, मुक्तिबोध, किसको नहीं रही है अपने समय की आलोचना से शिकायत? मुक्तिबोध ने तो हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति की भी सधे शब्दों में खबर ली है। विजय देव नारायण साही जहाँ 'मार्क्सवादी आलोचना की कम्युनिस्ट परिणति' दिखाते हैं तो धर्मवीर भारती की भी आलोचना करते हैं। 'विवेचना' गोष्ठी में सार्वजनिक तौर पर यह उद्घोष करते हैं कि 'लोकायतन' न पढ़ा है न पढ़ूंगा। रामविलास शर्मा तो रचनाकारों के बीच खासे विवादी और नापसंद किये जाने वाले आलोचक रहे हैं और केवल अपनी विचारधारा के प्रतिकूल रचनाकारों की ही नहीं वरन खुद अपनी विचारधारा के हमनवा रचनाकारों को भी उन्होंने केवल और केवल प्रशंसा ही नहीं की। नामवर सिंह ने यह कार्य किया है। अशोक

वाजपेयी अगर 'अकेलेपन का वैभव' लिखकर अज्ञेय के काव्य में "मनुष्य की हालत को प्रभावित करने वाली प्राकृतिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों" को चिह्नित करते हैं तो 'बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फेलाए' जैसा लेख लिखकर उनके शिथिल होने, लडखड़ाने और पैस्टोरल को पहचानने का साहस भी उन्हीं का है। आज क्या सचमुच सब का सब बहुत अच्छा और महान लिखा जा रहा है? भिन्न-भिन्न लेखक संगठनों, खेमों, गुटों के अन्दर प्रश्रीत-पोषित, घोषित-अघोषित सभी तरह के रचनाकार 'महान' से नीचे का साहित्य लिखते ही नहीं हैं। 'प्रमोटर' की भूमिका पहले भी लोग निभाते रहे हैं पर साथ ही इसकी पहचान भी कराते रहे हैं कि अमुक रचनाकार बहुत ही कमजोर रचनाकार है। भले ही वह अपने संगठन का ही क्यों न हो? क्या वह नैतिक साहस बिला गया है या अब सच को सच कहने और सुनने की जगह लगातार सिकुड़ती-सिमटती जा रही है? पूरा माहौल ही बिगड़ चुका है। यह कैसा भेड़ियाधसान है? यह कौन सा समय है?

वही आलोचनाएं-समीक्षाएं पसंद की जा रही हैं जो सुखद-सुभाषी और निरापद हैं। एक दूसरे के स्तुति-ब्याज से सारा कारोबार चल रहा है। क्रान्ति पूर्व रूस की साहित्यिक-दुनिया के एक चमकते सितारे निकोलाई अलेक्जान्द्रोविच ने इस तरह की आलोचना की बहुत ही सधी शैली में लिहाड़ी ली है। निकोलाई अलेक्जान्द्रोविच रूस में दास-प्रथा और जारशाही के कटु आलोचक रहे हैं। पर दुर्भाग्य से मात्र 25 साल की अवस्था में ही वे इस दुनिया को अलविदा कह गए थे। निकोलाई ने लिखा है—“तुर्गनेव के नए उपन्यास की विषय-वस्तु इस प्रकार है (यहाँ कथानक का सारांश होता है)। उपन्यास की यहाँ जो हमने बहुत ही क्षीण रूपरेखा दी है उससे पता चल जाता है कि उस उपन्यास में कितना जीवन और कितनी काव्यात्मकता है। एक-एक पन्ना जीवन और कविता की सुगंध से पगा है। जीवन के अत्यंत सूक्ष्म-रंगों, तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जन-जीवन के अंतर की हिलोरों और आवेगों उद्वेगों की गहरी समझ और वास्तविकता के प्रति वह अपनत्व से भरा किन्तु साहसपूर्ण रुख जो कि तुर्गनेव की प्रतिभा की निजी विशेषता है—इन सबका सही आभास उपन्यास को पढ़े बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता। उदाहरण के लिए जरा देखिये, कितनी सूक्ष्मता से तुर्गनेव ने इन मनोवैज्ञानिक तत्वों को पेश किया है (यहाँ कथा का एक और सारांश तथा उपन्यास से एक लम्बा उद्धरण दिया जाता है)। कितना अद्भुत है यह दृश्य जिसका अंकन अत्यंत कमनीय और मुग्धकर हुआ है (फिर एक उद्धरण)। या, फिर देखिये कितनी सौम्यता और साहस से इस चित्र को उभारा गया है (उपन्यास से एक और उद्धरण)। क्या यह आपके अंतरतम को नहीं छूता? इसे पढ़कर क्या आपके हृदय का स्पंदन और तीव्र नहीं हो जाता? क्या आपको ऐसा महसूस नहीं होता कि इसने आपके जीवन में एक नया सौन्दर्य डाल दिया है एक नयी जान फूंक दिया है। मानव की गरिमा को, सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की पवित्र भावना के महान, चिरंतन महत्त्व को यह सामने उजागर नहीं करता, उसे ऊँचा नहीं उठाता?” आज जो पुस्तक समीक्षाएं लिखी या लिखवाई जाती हैं उनका क्या हथ्र हो गया है? किसी प्रकाशन समूह की प्रचार-पत्रिका में एक पुस्तक को जिस ढंग से पेश किया जाता है क्या आज पुस्तक समीक्षाएं उससे भिन्न कुछ कहती हैं? अगर भिन्न नहीं तब तो यही ठीक है कि एक-आध पेज में पुस्तक परिचय देकर उसका प्रचार कर दिया जाय जिसमें न समीक्षा हो न आलोचना न प्रशंसा हो न मीन-मेख। बस निरापद हो। लेखक को सुख दे।

इस अंक में कोई पुस्तक-समीक्षा नहीं दी जा रही है। रसूल हमजातोव ने 'मेरा दागिस्तान' में एक वाक्य का जिक्र किया है जिसमें एक साहित्य-संस्थान में एक परीक्षार्थी से पूछा जाता

है कि, यथार्थवाद और रोमानवाद में क्या अंतर है? परीक्षार्थी उत्तर देता है कि, जब उकाब को उकाब कहते हैं तो यह यथार्थवाद है और जब मुर्गे को उकाब कहते हैं तो यह रोमानवाद होता है। क्या सचमुच मुर्गे को मुर्गा कहने का चलन अब खत्म हो गया? क्या अब मुर्गे को उकाब कहलाना ही पसंद है?

साल दो हजार तेरह में हमारे बीच से शिवकुमार मिश्र, असगर अली इंजिनियर, मन्ना डे, राजेन्द्र यादव, गोविन्द पुरुषोत्तम देशपांडे, रेशमा, परमानन्द श्रीवास्तव, के.पी. सक्सेना, हरिकृष्ण देवसरे, ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसी कई ऐसी सख्शियतें हमें अलविदा कह चलीं जिनका होना हमारे लिए एक मानी था। पक्षधर की ओर से इन सबको श्रद्धांजलि।

विनोद तिवारी

एक कवि : एक राग

दस कविताएँ

अशोक वाजपेयी

वे कवि हैं

वे घायल कर देंगे सुबह को
वे खिड़की से हाथ बढ़ाकर
नक्षत्रों को बटोर लेंगे टोकनी में
वे शून्य के शिखर पर दियना बारेंगे
वे बादलों को खींचकर खूँटी पर टाँग देंगे
वे धूप को एक लालटेन में भरकर लटका देंगे
वे सागर में डूबी एक नदी को
उबारकर घाटी की ओर बहा देंगे
वे अर्श के उधर बना लेंगे अपना मकान,
वे शब्दों में भर देंगे
रोशनी और खामोशी
वे कवि हैं
समय के रास्ते पर
अनन्त की क्रतार में प्रतीक्षारत हैं...

पुकार

हमने ध्यान नहीं दिया
पत्तियाँ धीरे-धीरे अपनी लय में झर रही थीं
हलकी सी बारिश थी
जिसमें पदचाप सुनायी नहीं देती थीं

देवता भीग रहा था
और उस पर चढ़े फूल
धीरे-धीरे खिसक रहे थे
मन्दिर का गर्भगृह सूखा था

कोई पुकार रहा था
सदियों से हर पल कोई
कहीं न कहीं से पुकारता है
हम कभी भी उत्तर देने ठहर नहीं पाते

थिरा हुआ

सुबह के दृश्य की तरह
सब कुछ साफ़ था—
समय, अपनी अनेक परतों में उलझा हुआ
आकाश, अपनी अबाध नीलिमा में पसरा हुआ
कविता, अपने शब्दों में चुपचाप ठहरी हुई :
सब कुछ साफ़ था
सुबह के दृश्य की तरह...

परदा

शब्द एक पत्थर है
जिसे याद नहीं है कि यहाँ
वह कैसे-कब आया...
देवता एक दस्तक है
पवित्रता के बन्द पड़े दरवाज़े पर
जिसके पीछे अब कोई नहीं रहता...
दृश्य एक परदा है
जिसके पार तमाशा
बहुत देर पहले खत्म हो गया...

भुरभुरी रेत

हम उल्कापिण्ड नहीं हैं
जिन्हें अब याद नहीं है
कि वे कहाँ से आये या गिरे थे।

हम दरवाज़े नहीं हैं
जो किसी घर के ढह जाने के बाद भी
एक ज़िद की तरह बचे हुए हैं।

हम रास्ता नहीं हैं
जिन पर चलकर कोई भूला-भटका
अपने घर पहुँच सकता है।

हम हैं और नहीं हैं के बीच
भुरभुरी रेत हैं
जो धीरे-धीरे समय के पार खिसक रही है।

नक्षत्रहीन समय में

इतनी देर हो गयी है
कि हमारे आने के समय के तारे
कब के बुझ चुके होंगे
अब हम नक्षत्रहीन समय में हैं।

इस समय का रंग साफ़ नहीं है
भूरा, काला, नीला, लाल, पीला, हरा
कुछ भी साफ़ नहीं है...

ऐसा समय होता ही होगा
जिसका रंग साफ़ न हो
साफ़ रंगों वाले समय
बेहतर होते हैं यह कौन कह सकता है।
हम तो अपने नक्षत्रहीन
बुझे तारों और बेसाफ़ रंगवाले समय में
कविता में बचे-खुचे रंग खोज रहे हैं।

हमने

हमने कुछ नहीं किया
हम तो दूसरों के किये-धरे को भुगत रहे हैं।
हमने कुछ क्यों नहीं किया?
दूसरे पेश-पेश थे
हमने उन्हें करने दिया।
हमने उन्हें सब कुछ क्यों करने दिया?
हमें संकोच था, हम निरुपाय थे,
हमारी कुछ करने की इच्छा और हिम्मत दोनों ही कमजोर थी।

हमने सपने देखे थे : बेहतर दुनिया के,
हम बदलाव चाहते थे :
पर उनके लिए हम कुछ करने से बचते रहे।
हमें बढ़ते अँधरे की पहचान थी।
और यह भरोसा भी कि अन्ततः रोशनी आ सकती है—
लेकिन उसके लिए हमने कोई कोशिश नहीं की।

वैसे हम सफल हैं : घर-मकान, सुख-सुविधाएँ, सुरक्षाएँ,
अपनों के लिए उजला भविष्य, अपने लिए आरामदेह बुढ़ापा
सब कुछ हमने सुरक्षित कर लिया है—
पर हम जानते हैं कि हमारे होने से
इस दुनिया को, दूसरों को कोई फ़र्क नहीं पड़ा।
हमें कोई याद नहीं करेगा शायद घर-परिवार भी नहीं
क्योंकि हमने कुछ किया नहीं, सब कुछ दूसरों पर छोड़ दिया—
यही है जो हम याद कर सकते हैं, वह भी तभी तक जब तक हम हैं।

फिर से

फिर से वह कथा कैसे कहें
जिसे असंख्य बार कहा जा चुका और जो फिर भी
बासी नहीं पड़ती है :
यह याद करना कठिन है कि पहले पहल उसे किसने कब और क्यों कहा था।
उसके शब्द, क्रम, छवियाँ, प्रसंग सब बदलते रहे हैं :
फिर भी सबको लगता है कि वही कथा है।
हमारा समय कथाएँ दुहराने का नहीं, नयी कथाएँ खोजने-गढ़ने का है।
इतिहास कथाओं का घूरा है,
कविता कथाओं का गोदाम :
फिर भी हम उसी कथा पर क्यों बार-बार लौटते हैं
यह समझना कठिन है।

हर समय में हर कोई शुरू करता है एक नयी कथा
और कहते हुए भी जान जाता है कि वही कथा है :
उस कथा में धुँधले पड़ते गये हैं समय के पैरों के निशान
उस कथा में अब सुनायी नहीं देतीं कुछ आदिम आवाजें
उस कथा में चरित्रों और प्रसंगों के बदल गये हैं सभी कपड़े
उस कथा में आदि और अन्त भी उलट-पुलट चुके हैं
फिर भी उसे वही कथा मानने के पीछे
अनादि काल से चली आ रही कोई ग़लतफ़हमी है
याकि नयी कथा को न पहचान पाने के लिए ज़रूरी हिम्मत की कमी?
फिर से सोचते हैं कि कैसे नयी कथा कहें
जिसे उसी कथा का एक संस्करण मनाये जाने की विवशता न हो।
फिर से, पर क्या हमारे पास इतना समय बचा है?

हमारे पास

हमारे पास इतना समय नहीं था कि हम कुछ रुक-ठिठक कर
इतिहास से सबक लेते :
हम अधीर थे और हमें भरोसा था कि सपना भर देखने से
सच बदल जायेगा।
हमारे पास समझ और जतन कम थे।
और हमें लगता था कि हमारे पास कुछ करने के लिए समय भी कम है।

बहुत सारा इतिहास था
कुछ पोथियों में, कुछ घूरे पर पड़ा हुआ...
बहुत सारा समय था
कुछ घड़ियों-पंचांगों में
कुछ प्रतीक्षा के बही खातों में,
बहुत सारे सपने थे
कुछ चिनमिनाती आँखों में
कुछ खिड़कियों पर सूख गयी बेलों की तरह लटके हुए;
अब समय है
कुछ हँसने के लिए
बहुत सारा विलाप के लिए
लेकिन हमारे समय में
सपनों के परिसर में अब कोई नहीं रोता
सच की दुनिया में सब कुछ इतिहास से आगे निकल गया है।
कविता में बचे हैं शब्द और थोड़ा सा सिकुड़ता हुआ समय...
हमारे पास यही है
और यह कुछ भी नहीं है।

कितना समय?

कितना समय चाहिए वहाँ तक अब भी पहुँचने के लिए
जहाँ तक जाने के लिए हम सदियों पहले चले थे?
कितना समय चाहिए कि करीब के किसी आरामदेह मुकाम तक पहुँचकर
कुछ देर सुस्ता सकें?
कितना समय है कि हम अपने सामान में से वह सब नबेर कर फेंक सकें जिसकी
आगे अब हमें ज़रूरत नहीं है?
कितना समय है कि हम जेबों से वे सिक्के निकालकर किसी नदी में फेंक दें
जिनसे अब कुछ ख़रीदा नहीं जा सकता?
कितना समय है हम जान पायें कि कितना समय है
और अब इसमें इतना करना संभव है, इतना नहीं।

संस्कृत कविता में जनजीवन के निरूपण व प्रतिरोध की परंपरा

राधावल्लभ त्रिपाठी

आदरणीय राजेश पुरोहित जी, आदरणीया प्रो. मीरा दीक्षित, परमादरणीया श्रीमती सत्यप्रकाश मिश्र तथा आचार्य सत्यप्रकाश मिश्र के परिवारजनो और उपस्थित सभी सुधीजनो, देवियो और सज्जनो,

आदरणीय सत्यप्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यान की इस छठी शृंखला में, कुछ बोलने का अवसर मुझे दिया गया इसके लिये मैं अपने आप को अत्यंत गौरवान्वित अनुभव करता हूँ तथा आयोजक बंधुजनों के प्रति इसके लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता भी ज्ञापित करता हूँ। मुझे थोड़ा विचित्र सा लगा जब मैं आचार्य सत्यप्रकाश मिश्र के चित्र पर पुष्प अर्पित कर रहा था, क्योंकि मैंने कभी कल्पना नहीं की थी कि मुझे इस तरह उनके चित्र पर पुष्प चढ़ाने होंगे। मेरा बहुत ज्यादा उनसे मिलना जुलना नहीं हो पाता था लेकिन हम लोग वर्षों से एक दूसरे को जानते थे और यदा कदा वे मेरी चर्चा करते रहते थे। मेरी रचना उन्होंने 'माध्यम' में छपी। संपर्क उनसे बना हुआ था। साहित्य के बारे में उनकी सोच हमारे जैसे लोगों के लिए प्रेरणा है।

इस कार्यक्रम के संयोजक सूर्यनारायण जी से विषय को लेकर मेरी चर्चा तो हुई थी। पर जैसा वे चाहते हैं वैसा मैं बोल पाऊँगा या नहीं यह मैं नहीं जानता। मैं पिछले दो तीन महीनों में बहुत व्यस्त रहा हूँ और बहुत ज्यादा भागदौड़ मुझे करनी पड़ती रही। मैं इसलिए भी विशेष कृतज्ञ हूँ आयोजकों का कि बहुत समय बाद मुझे आचार्य ओमप्रकाश यादव जी के दर्शन हुए। शिमला में मैं कुछ समय इनके साथ रहा हूँ। तब वहाँ ये कार्य कर रहे थे और जो गहन शोध इनका इतिहास के क्षेत्र में है उससे परिचित होने का अवसर मुझे मिला है। जैसा मैंने विषय समझा उसके अनुसार मैं संस्कृत में एक दूसरी परंपरा है विरोध और प्रतिरोध की कविता की, उसके बारे में कुछ कहूँगा। उसके पहले मैं संस्कृत में जनजीवन की कविता की जो परंपरा है, उसके बारे में कुछ कहूँगा। विषय बहुत लंबा है, और उसे समेटना कठिन होगा।

में श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग से अपनी बात आरंभ करूँगा। प्रसंग श्रीमद्भागवत के पाँचवें स्कंध में आता है। एक अवधूत भरत थे। परमहंस भरत भी उनको कह सकते हैं। वे 'जड़, उन्मत्त और बधिर की भाँति' विचरण करते रहते थे। ये शब्द भागवत के हैं। एक बार वे एक पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। पास से सिंधु सौवीरपति राजा रहुगण इक्षुमति नदी के किनारे से होते हुए निकले। इक्षुमती का तटीय क्षेत्र, जहाँ तक मैं समझता हूँ, उत्तर-पश्चिम का कोई पहाड़ी इलाका है क्योंकि राजा रहुगण घोड़े या रथ पर नहीं जा रहा है बल्कि पालकी में जा रहा है। तो कोई ऊबड़-खाबड़ या पहाड़ी रास्ता है जिस पर शिविका में आरूढ़ चल रहा है। उसके शिविका के जो भारवाहक हैं, उनमें से एक बीमार हो गया है। शिविका के लिये चार भारवाहकों की आवश्यकता होती है। तो राजसेवक या सिपाहियों से कहा गया कि विष्टि (बेगार) के लिए कोई एक भारवाहक को ढूँढो। विष्टि करने वाले को दिहाड़ी भी नहीं मिलती, कुछ अनाज वगैरह मिल जाय तो ठीक वरना उसे राजा या जमींदार के आदेश पर हाँक करके ले जाया जाता है। उसे मेहनताना मिलेगा या नहीं इसकी कोई गारंटी नहीं होती। राजा के सिपाही विष्टि के लिए किसी मजदूर को ढूँढ़ रहे थे तो उन्होंने अवधूत भरत को ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे देखा। अवधूत भरत फक्कड़ थे, मैले कुचैले वेश में थे और कुछ मोटे तगड़े भी थे। तो सिपाहियों ने समझा कि विष्टि के लिए एक अच्छा मजदूर मिला है। उन्होंने कहा कि चल उठ, राजा की पालकी ढोनी है। तो अवधूत भरत ने कि कहा कि अच्छा है चलता हूँ। बड़े खुश कि अहा क्या बढ़िया काम बताया जा रहा है, और उठकर उनके साथ चल दिये। उन्होंने कहा कि इस काम पर लग जाओ और अवधूत भरत ने कहा कि बिल्कुल लग जाता हूँ। कंधा उन्होंने पालकी के नीचे लगा दिया। जिंदगी में कभी उन्होंने पालकी ढोयी नहीं थी, तो राजा की पालकी में बार-बार दचके लग रहे थे क्योंकि उनसे पालकी संभल नहीं रही थी। राजा ने चिढ़ कर मजदूरों से पूछा कि तुम लोग ठीक से क्यों नहीं पालकी ढो रहे हो, मुझे बार-बार दचके क्यों लग रहे हैं? बाकी जो तीन बेगार करने वाले थे वे घबराये कि राजा उन्हें सजा दे देगा। तब उन्होंने राजा से कहा कि महाराज हमारी कोई गलती नहीं है, यह जो नया मजदूर आया है इतना मोटा-तगड़ा यही दचके लगा रहा है। इससे पालकी संभल नहीं रही है और इसी वजह से आपको तकलीफ हो रही है। तो राजा ने अवधूत भरत से कहा कि देखने में तुम इतने मोटे तगड़े लग रहे हो और तुम से पालकी का इतना सा केवल एक कोना भी नहीं संभल रहा है? बाकी तीन तरफ से तो ये लोग संभाले ही हुए हैं। तो उस पर फिर अवधूत भरत ने राजा से जो कहा उसका मूल भागवत से हिंदी अनुवाद पढ़ रहा हूँ—“ऊपरी तौर से तुम्हारी यह बात सही है कि मैं बोझा ढो रहा हूँ पर न तो मैं यह बोझा ढो रहा हूँ, न मैं रास्ते पर चल रहा हूँ, न मैं मोटा-तगड़ा ही हूँ। स्थूलता, कृशता, व्याधियाँ, क्षुधा, तृषा, भय, वैर, जरा, इच्छा, निद्रा, रति, क्रोध, अहंकार, मद और शोक इस देह में उत्पन्न होते हैं यह मेरे नहीं हैं।”

“स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च

क्षुत्तृभयं कलिरिच्छा जरा च।

निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो

देहे न जातस्य हि मे न सन्ति।।” श्रीमद्भागवत, 5.10.9-10

जब इतना उन्होंने एकदम से कह दिया तो राजा चौंका। वह भी मूर्ख तो था नहीं। उसने सोचा यह तो एक अलग तरह का आदमी है। यह तो कोई मजदूर तो नहीं है। राजा पालकी से उतरा और उनके पैरों में गिरकर कहा कि महाराज गलती हो गयी है, इन लोगों

ने समझा नहीं आपको कि आप अवधूत या महात्मा हो सकते हैं। तो जो गलती हो गयी उसे क्षमा कर दीजिए और मुझे ब्रह्मविद्या का ज्ञान दे दीजिए। जैसे अवधूत भरत को कहा गया कि पालकी में कंधा लगा दीजिए तो उन्होंने कंधा लगा दिया, उसी तरह जब उनसे आग्रह किया गया कि ब्रह्मविद्या दे दीजिए तो उन्होंने राजा से कहा कि बैठ जा मैं तुझे सिखा देता हूँ और वे राजा को ब्रह्मविद्या सिखाने लगे। ब्रह्मविद्या के उपदेश के क्रम में उन्होंने राजा से एक बात कही जिसका शब्दशः अनुवाद मैं कर रहा हूँ। “हे राजा, धरती पर बाकी लोगों की तरह तू भी चल रहा है। तू राजा बाकी लोग मजदूर यह कैसे? बाकी लोगों की तरह तेरे भी दो पैरों के ऊपर दो पिण्डलियाँ हैं, कमर, छाती, गर्दन और माथा है। फिर तू ही क्यों पालकी में चढ़ा हुआ है? इन लोगों के कंधों से यह पालकी ढुलवा रहा है और अपने आप को सौवीरराज कहलवा रहा है। तू अपने आपको सिंधु का राजा समझ कर मद से अंधा हुआ जा रहा है। इन कष्ट उठा रहे दीन हीन जनों को क्रूरता के साथ बेगार में लगाए हुए है फिर भी अपने आपको इन दीन हीन जनों का रक्षक बताकर डींग हाँकता है। जानकार लोगों के बीच तेरी यह ढिठाई शोभनीय नहीं है—

“असेऽधि दार्वी शिविका च यस्यां सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते।

यस्मिन् भवान् रुढनिजाभिमानो राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः।

जनस्य गोप्तास्मि विकथमानो न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः॥” (वही, 5.12.6-7)

जो भागवत पर प्रवचन करते हैं उनको अवधूत भरत के ये वचन विदित हैं। पर मुझे नहीं लगता कि भागवत पर प्रवचन करने वाला कोई प्रवचनकार जनता को यह बताता होगा कि अवधूत भरत ने सौवीरराज से इन शब्दों में यह बात कही थी। ये बातें वे लोग नहीं बताते। वे लोग यह भी नहीं बताते कि एक चतुश्लोकी गीता भी है, जिसमें चार श्लोकों में कृष्ण ने यह कहा है कि बेटा होने से कोई नहीं तर जाता है। बेटा नरक में भी गिरा सकता है, लेकिन पेड़ जो लगाएगा वो जरूर तर जाएगा क्योंकि एक पेड़ जो लगाओगे वो तुम्हारे लिए स्वर्ग को जन्म देगा। लेकिन प्रवचनकारों की दुकान चतुश्लोकी गीता बताने से नहीं चल सकती। वो आपको भजन कीर्तन करा देंगे, भक्तिरस में मगन करा देंगे लेकिन जो पुराणों में प्रवचनकारों ने प्रतिरोध की परंपरा से जुड़कर बातें कही हैं उसे आज के साधु महात्मा नहीं बताएँगे। अवधूत भरत ने राजा को जिस तरह फटकारते हुए जो बातें कही, उनका मर्म वे नहीं उघाड़ेंगे।

अवधूत भरत ने तो उसी सहज भाव से राजा से यह सब कह दिया, जिस सहज भाव से वे उसकी पालकी की ढुलाई के काम में लग गये थे। पर उनकी बातों में राजसत्ता के लिए प्रबल चुनौती थी। राजा रहूगण समझदार था, उसने उस चुनौती को आदर दिया। कोई मूर्ख और अभिमानी राजा होता, तो वह अवधूत को कारागार में पटकवा देता। पर अवधूत और फक्कड़ सत्ता को इसी तरह निर्द्वंद्व निर्विकार रह कर बेबाक चुनौती देते आये हैं। वास्तव में तो साहित्य का भी कार्य सत्ता को इसी तरह बेबाक चुनौती देना है। इस दृष्टि से साहित्य की दो परंपराएँ हैं—अवधूतों, फक्कड़ों या संतों के वचनों की परंपरा एक ओर है, तो दूसरी ओर निम्नवर्ग या निम्नमध्यवर्ग से जुड़े कवियों की रचना परंपरा, जिसमें वे आम जनता के संघर्ष और स्वप्न की बात करते हैं। दोनों की परंपराएँ सत्ता के समानांतर प्रतिसत्ता रचती हैं। लगभग हजारों वर्षों से संस्कृत साहित्य में प्रतिरोध की दोनों परंपरा रही है। दोनों परंपराएँ, दोनों धाराएँ कई बार एक दूसरे से मिलती हैं। संस्कृत में एक क्लासिक्स की या महान कवियों की परंपरा है, जिसमें भास, कालिदास भवभूति जैसे कवि हुए। उसके समानांतर ये दोनों परंपराएँ निरंतर लगभग दो हजार वर्षों से अस्तित्व में रही है। इन्होंने प्रतिरोध की संस्कृति को जीवित

रखा। संस्कृत काव्य धारा में पहली परंपरा का प्रतिनिधित्व पुराणों के प्रवचनकार तथा भर्तृहरि जैसे कवि करते हैं। भर्तृहरि एक ऐसे कवि हैं जिनमें कबीर जैसे फक्कड़ों की बानगी का पूर्वाभास हमें मिलता है, विशेष रूप से उनके 'वैराग्यशतक' में या एक और पुराना शतक है 'विज्ञान शतक' जिसको भर्तृहरि के 'शतकत्रयी' के अपने संस्करण में डी.डी. कोसाम्बी ने उद्धृत किया है। कवि यहाँ अवधूत हो कर बोलता है, कविता के स्वर सत्ता के प्रतिरोध में हथियार की तरह उठते हैं। भर्तृहरि के शतक से श्लोक है—

“किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुख गताः निर्झरा वा गिरिभ्यः ।
 प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरस फलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।
 वीक्षन्ते यन्मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां
 दुःखोपात्तवित्तस्मयवशपवनानर्तितभ्रूलतानि ।।”

(शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह, 184)

क्या लुप्त हो गये हैं कंदराओं से कंद?
 क्या सूख गये हैं पर्वतों के निर्झर?
 क्या एकदम ध्वस्त हो गये हैं सरस फलों वाले पेड़
 और वल्कल वाली उनकी शाखाएँ
 उनकी जो मुँह ताके जा रहे हैं,
 विनय का लबादा ओढ़े रहने वाले
 उन दुष्टों के
 कठिनाई से पाए थोड़े से धन के घमण्ड में
 हवा में थिरकती भौंहों वाले चेहरे!

कहीं कहीं इसमें आक्रोश उभरता है सत्ता को लेकर। राजसत्ता को लेकर यह आक्रोश संस्कृत काव्य की परंपरा में कई सारे कवियों में मिलता है। उनमें राजसत्ता को चुनौती देने का साहस और राजा के सामने खरी खरी कहने का साहस है। भर्तृहरि शतक में ही एक अन्य श्लोक मिलता है जिसमें, जिसकी भाषा में चुनौती की तेजस्विता है—

“न नटा न विटा न गायकाः न च सभ्येतरवादचञ्चवः ।
 नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः ।।”

हम नहीं है नट, भाड़-भड़ेते गायक,
 कुछ गंदा भद्दा भी कहना नहीं जानते हम।
 झुक झुक पड़ते वक्षस्थलों वाली स्त्रियाँ भी नहीं हम।
 तो राजा जी के दर्शन पाने वाले
 हम हैं ही कौन!

मेरी पुस्तक है 'संस्कृत कविता की लोकधर्मी परंपरा' 1987 में उसका पहला संस्करण निकला, दूसरा 2000 में और 'संस्कृत कविता में लोकजीवन' नाम से पिछले साल एक संस्करण निकला है। उसमें विस्तार से बहुत सारे इस तरह के प्रसंग हैं, उनकी जो वैचारिक पृष्ठभूमि, सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, उस पर भी कुछ चर्चा है। जो लोग ज्यादा जिज्ञासु हैं, उसे देख सकते हैं। अस्तु। यह एक दूसरी परंपरा है क्योंकि इस तरह की कविता लिखने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनका रास्ता अलग है।

धर्मकीर्ति एक बौद्ध कवि हुए जो बहुत बड़े आचार्य और दार्शनिक भी थे। उनका एक प्रसिद्ध श्लोक है—

“वहति न पुरः कश्चिन्न पश्चात् कोप्यनुयाति माम्
न च नवपदक्षुण्णो मार्गः कथं न्वहमेककः।
भवतु विदितं पूर्वव्यूढोद्युना खिलतां गतः
स खलु बहलो वामः पन्था मया स्फुटमूर्जितः।।”

(धर्मकीर्ति, सुभाषितरत्नकोश, 1729)

कोई नहीं जा रहा है मेरे आगे-आगे
कोई नहीं आ रहा है मेरे पीछे-पीछे
ऐसा नहीं है कि केवल मैं ही चला हूँ पहली बार इस पथ पर
फिर भला मैं एकाकी कैसे!
चले हैं पहले भी इस पर लोग
आज भले ही रीता हो यह पथ
पर मैंने इसे चुन ही लिया है बस।
यह मेरा समृद्ध वामपंथ।

यहाँ जो वामपंथ आया है उसका आशय ‘लेफ्टिस्ट’ से नहीं है। धर्मकीर्ति कहते हैं—“स खलु बहलो वामः पन्था मया स्फुटमूर्जितः”—एक अलग तरह का टेढ़ा रास्ता मैंने चुन लिया है। जो दक्षिण पंथ है—सीधा, सरल, ऋजु रास्ता—उसकी बजाय संघर्ष का रास्ता मैंने चुन लिया है।

इस प्रतिरोध और प्रतिसत्ता की परंपरा की वैचारिक पृष्ठभूमि पर भी मैं थोड़ी बात करूँगा। एक तो हमारे यहाँ भारत की परंपरा की अपनी विशेषता है, जो उसे इतर परंपराओं से, यूरोप की परंपराओं से या नॉन पेगनिज्म से—अलगाती है, वह है वाक् केन्द्रित परंपरा। अर्थात् शब्द हमारी परंपरा में प्रकाशक ही नहीं आरम्भक और आविष्कारक भी है। भट्टोजी दीक्षित अपनी सिद्धांतकोमुदी में कहते हैं—‘शब्द उपसर्गादाविष्कारे’। शब्द आविष्कार भी करता है, नई सृष्टि करता है। वाक् केवल संप्रेषण के लिए ही नहीं है अपितु स्रष्ट्री या स्रजनकर्त्री भी है। वाणी इसलिए दी गयी है कि हम एक अलग विश्व रच सकते हैं। एक अलग विश्व रच सकते हैं तो सत्ता के बरक्स प्रतिसत्ता भी रच सकते हैं। इस वैचारिक भित्ति पर इन कवियों का प्रस्थान आरंभ होता है कि शब्द की सत्ता से हम संसार को बदल सकते हैं। एक आचार्य हुए राजशेखर जिन्होंने कहा कि ‘कवि वचनायत्ता च लोकयात्रा’। लोकयात्रा या मनुष्य और समाज की जीवनयात्रा कवियों की वाणी पर टिकी हुई है, क्योंकि उस वाणी से इसको बदला जा सकता है। इस वैचारिक मान्यता के अनुसार कुपथ पर अग्रसर लोगों के लिए कविता निवारक का कार्य करती है और इस प्रकार साहित्य का उद्धारक रूप लोक के सामने आता है। राजशेखर दसवीं शताब्दी में हुए। ऐतरेय महीदास उनसे भी दो हजार साल पहले हो चुके थे। उनको निहार रंजन रे ने दुनिया का पहला सौंदर्यशास्त्री कहा है। ऐतरेय महीदास अपने ऐतरेय ब्राह्मण में कहते हैं कि दो प्रकार के शिल्प होते हैं—देव शिल्प और मानुष शिल्प। देव शिल्प ईश्वर का रचा हुआ शिल्प है और मानुष शिल्प उसके समानांतर मनुष्य का रचा हुआ शिल्प है। छंद और कविता मानुष शिल्प है। छंद इसलिए कहते हैं कि वह आच्छादक बन जाय, कवच बन जाय। जब जब मानवता पर कोई संकट आएगा साहित्य छंद के रूप में हर चुनौती का प्रतिरोधी कवच बन जाएगा। ऐतरेय ने कला के इस दर्शन को समझाने के लिये शुनःशेष की कथा अपने ग्रंथ में कही है। संस्कृत पण्डितों के बीच यह बहुत प्रसिद्ध आख्यान है। एक ब्राह्मण

हे अकाल में भूखा उसका परिवार मर रहा है। उसके तीन बेटे हैं। तीनों के नाम भी विचित्र ही हैं। शुनोलांगूल, शुनःशेष और शुनःपुच्छ। शुनःशेष मँझला था। हरिश्चन्द्र राजा जिनको कि आगे चलकर सत्यवादी बताया गया उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने बेटे रोहित की बलि दे दूँगा लेकिन उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की और जब बलि देने का समय आया तो उन्होंने उसे छिपा कर रखा। जब छिपाने से बात न बनी तो उन्होंने पुरोहितों से पूछा कि अगर इसकी जगह किसी और की बलि दे दी जाय तो कैसा रहेगा। तो ब्राह्मणों ने कहा कि हाँ, ऐसा हो सकता है। राजा ने आदेश दे दिया—किसी बलि पुरुष को पकड़ लाओ। तब यह ब्राह्मण जिसका परिवार भूखा मर रहा था उसने कहा कि मैं अपने मँझले बेटे को बलि चढाने के लिये दे दूँगा। शुनःशेष को दे दिया गया कुछ रुपयों के बदले में। यह चला वहाँ हरिश्चन्द्र के नरमेघ यज्ञ में बलि दिये जाने के लिए जहाँ उसे एक स्तंभ से बाँध दिया गया। विश्वामित्र ऋषि बगल में खड़े थे तो शुनःशेष ने उनसे पूछा कि क्या आप मुझे बचा सकते हैं? विश्वामित्र ने कहा कि हाँ मैं तुम्हें बचा सकता हूँ। मैं तुझे वाणी देता हूँ कि तू वरुण की स्तुति कर सके। तू इस सूक्त को पढ़ तो तेरे पाश खुल जाएँगे और यह वाणी तुझे बचा ले जाएगी। शुनःशेष ने सूक्त पढ़ा और उसके पाश खुल गये। वरुण ने कहा कि इसकी बलि नहीं दी जा सकती है। वैदिक परंपरा के विद्वान लोग इस कथा का आध्यात्मिक रहस्य बता सकते हैं। पर वेद यह भी तो बताता है कि बगैर आधिभौतिक के आधिदैविक और आध्यात्मिक नहीं होता। आधिभौतिक के आधार पर ही सारी अधिरचना निर्मित होती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों में अन्विति होनी चाहिए। पहले के बगैर दूसरा घटित नहीं होता। शुनःशेष की कथा की अगर बहुत गहरी आध्यात्मिक व्याख्याएँ हैं तो जो जीवन का आधिभौतिक कटु सत्य है उससे ही वे निकलेंगी। ऐतरेय जो कला दर्शन अपना दे रहे हैं कि 'छंदसू रक्षा कवच बनकर बचा ले जाएँगे मनुष्य को', वो अपमृत्यु से बचा लेंगे। वो कहते हैं कि तीन चीजों—संसार के संताप, अपमृत्यु और पाप—से छंदसू, कवि की वाणी बचा ले जाती है। यह व्याख्या बार-बार आती है, तैत्तरीय संहिता में, छांदोग्य उपनिषद् में। उदाहरण देते हैं कि देवता लोग जब मृत्यु से डर गये तो अपने आप को छंदों से ढँक लिया। सारी जो पौराणिक कथाएँ हैं उनके अनुसार वे मृत्यु से डर रहे थे तो उन्होंने अपने आपको त्रयी में प्रवेश करा लिया। त्रयी के जो छंद हैं वो उनके रक्षा कवच बन गये। यह जो कला दर्शन है उसमें कविता मनुष्य के लिए नया संसार रच सकती है साथ ही उसकी रक्षा भी कर सकती है।

दूसरी तरफ एक अलग तरह की सौंदर्यानुभूति की परंपरा है जो कि बराबर बनी रही है। इसी बात को बहुत पहले जयशंकर प्रसाद ने कहा कि भारतीय जीवनबोध में दो तरह की दृष्टियाँ मिलती हैं। एक आनंदवाद है और दूसरा दुःखवाद है। पहले के प्रतिनिधि इन्द्र हैं और दूसरे के प्रतिनिधि वरुण हैं। साहित्य में ये दोनों धाराएँ बराबर चलती रही हैं। कविता केवल वही नहीं है जो रमाने, रिझाने और रंजन करने के लिए होती है। चित्त को उच्छ्वसित करने के लिए, रति में भिगोने के लिए जो हो वही कविता नहीं है। जो उद्वेग पैदा करती है, जो जुगुप्सा पैदा करती है, जो नफरत पैदा करती है वह भी कविता होगी। उतनी ही गहरी और बड़ी कविता हो सकती है, जितनी कि शृंगार के सबसे महान कवि की कविता हो सकती है। अगर यह हम अपने विद्यार्थियों को नहीं बताते हैं तो आधा सत्य छिपाते आ रहे हैं। कालिदास शृंगार के महान् कवि हैं, शृंगार रसराज है यह बता दिया हमने लेकिन हम यह नहीं बताते कि भरतमुनि ने चार मूल रस माने उनमें वीभत्स रस भी मूल रस है। वीभत्स में तो आप आनंद में सराबोर नहीं हो सकते हैं, उसका तो जुगुप्सा स्थायी भाव है। नफरत, घृणा, उद्वेग,

एक बहुत गहरा परिताप और विरक्ति संसार के प्रति अगर कविता उत्पन्न करती है तो वह बीभत्स रस की कविता है। केवल गंदगी के वर्णन में बीभत्स नहीं होता है। युद्ध के दृश्यों में, युद्ध की विभीषिकाओं में, जीवन की उद्वेजक स्थितियों में बीभत्स के प्रसंग बनते हैं। भवभूति कहते हैं—‘एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावा येभ्यो बीभत्समाना सन्त्यज्य सर्वान् कामान् अरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः’—ये सब हृदय के मर्म को बींधने वाली संसार की सच्चाइयाँ हैं, जिन से मनीषी जन बीभत्स का अनुभव कर के सारी कामनाएँ त्याग कर वन में विश्रान्ति पाते हैं। संसार की कड़वी वास्तविकताएँ जो जुगुप्सा पैदा करती हैं—अमांगलिक, भीषण, भयावह, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, बलात्कार, हत्या, नरसंहार- जिससे हमको उबकाई भी आती है, जिसके प्रति हमें नफरत होती है और हम क्रोध से उबल भी पड़ते हैं उन के चित्रण में बीभत्स रस होगा। इस बीभत्स को भरत मुनि ने मूल रस माना है। कहते हैं कि चूंकि चार पुरुषार्थ हैं इसलिए चार मूल रस होंगे। शृंगाररस काम पुरुषार्थ के लिए, वीररस धर्म पुरुषार्थ के लिए। रौद्ररस अर्थ पुरुषार्थ के लिए और बीभत्सरस मोक्ष पुरुषार्थ के लिए क्योंकि गहरी वितृष्णा, विरक्ति और चिढ़, खीझ के अनुभव हमें मुक्ति और शांति की खोज के लिए ले जा सकते हैं। यह अभिनव गुप्त का कला दर्शन है, जरूरी नहीं है कि हम उसको स्वीकार करें। पर उसे अस्वीकार करने के पहले उसे समझ जरूर लें। अभिनवगुप्त कहते हैं कि बीभत्स रस दो प्रकार का होता है। क्षोभज और उद्वेगी। गहरा क्षोभ जो कविता पैदा करे वहाँ क्षोभज बीभत्स रस होगा और जहाँ कविता गहरा उद्वेग उत्पन्न करे वहाँ उद्वेगी बीभत्स रस होगा। बीभत्स रस किस प्रकार शांत रस की परिणति में ले जाता है, उसका उदाहरण अभिनव गुप्त ने दिया है—

“वृथा दुग्धोनऽड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता।।”

थनों के भार से झुकी दुधारू
गाय मान कर
व्यर्थ एक साँड दुहा मैंने
कोई नवयौवना समझ कर
बाहों में बाँधा हिजड़ा मैंने
चमकीले काच शकल पर
आस लगाई मैंने मणि की
मूढ था मैं
जो करता रहा प्रणाम
कृपण और अगुणज्ञ तुझ को।

हम विद्यार्थियों को यह सब श्लोक नहीं पढ़ाते हैं। यह भी एक परंपरा है बीभत्स रस के काव्य की। यह मोहभंग की कविता है, जिसमें कवि बताता है कि सत्ता के सामने हमारा झुकना और समझौते करना इसी तरह का गंदा-गंदा कृत्य था जैसे हिजड़े को गले लगाना या गाय समझ कर साँड को दुहने का प्रयास करना। अब हम इससे उबरे। यह मोहभंग का भाव बार-बार भर्तृहरि में आता है, बहुत सारे सुभाषितकारों में आता है, अनेक कवियों में आता है। यह जो पूरा रस-प्रस्थान है उसमें रस वही नहीं होता है जो चित्त को रमाये, सुंदरता में

लुभाये या रमणीयता से सराबोर करे। रस का एक बोध और है, जो मोहभंग और रमाने तथा लुभाने वाले रसबोध के अवसान में अपनी दुर्निवार प्रबलता के साथ व्यक्त होता है। जब बाद के आचार्यों ने नये रस सुझाये तो भोज ने उद्धृत को भी एक रस माना। भोज 10वीं शताब्दी के बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आचार्य हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी प्रभाव में जो संरचनावादी काव्यशास्त्र आया उसमें वे बेहद प्रासंगिक होते चले गए हैं। उन्होंने बारह तरह के रस माने हैं, नौ रस के अलावा जो तीन हैं उनमें उद्धृत भी एक रस है। उद्धृत तो बगावत का रस है, सिर पर कफन बाँध कर चल पड़ने वाले लोगों के चित्त का जो भाव है, जिसमें सत्ता को चुनौती देकर उनसे जूझने के लिए उतर पड़ने वाले लोगों का ही चित्रण होगा। भोज के अनुसार पूर्ण आत्मविश्वास और गर्व का प्रकर्ष जहाँ हो वहाँ उद्धृत रस होता है। इसमें चित्त विशुद्ध होता है। आनंद की तरंगों में तो मन नहीं उतरा सकता जब आंदोलन की अवस्था हो। धनञ्जय जो रसानुभूति या काव्यबोध में चित्त की चार दशाएँ मानते हैं—विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप। चित्त सुखानुभूति में विकसित हो जाता है, विस्तारित होता है केवल यही चित्त भूमि नहीं होती सौंदर्यशास्त्र में क्षोभ और विक्षेप भी सौंदर्यानुभूति हुआ करती हैं। चूंकि चार मूल रस है—शृंगार, वीर, रौद्र और बीभत्स—तो शृंगार में विकास, वीर में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप ये चार चित्त की भूमियाँ होती हैं। जिस तरह से आनंदवर्धन मीमांसा करते हैं महाभारत की तो कहते हैं कि यह युद्ध के खिलाफ कविता है। पूरा महाभारत युद्ध के प्रतिरोध की कविता है। जिस महाभारत में लगातार भीषण नरसंहार का चित्रण है उसको बहुत ही तार्किक ढंग से आनंदवर्धन सिद्ध करते हैं कि उसका पर्यवसान ही मोहभंग में होता है। सारा परिवार समाप्त हो गया, क्या मिला?—यह संसार की क्षुद्रता के विरुद्ध एक बयान है। इसलिए यह युद्ध के खिलाफ एक कविता है। महाभारत के कथानक को लेकर जो नाटक लिखे गये उनको एक तरह से युद्ध के विरोध के नाटक कह सकते हैं। खासकर भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक की संरचना की व्याख्या करें तो पूरा नाटक आद्यंत युद्ध के विरोध में खड़ा है। दूसरे अंक में जिस तरह से शृंगार को लाया जा रहा है, जिसमें तरफ तो भीम दुःशासन का कहीं खून पी रहे हैं छाती चीरकर और दूसरी तरफ दुर्योधन भानुमती के साथ रंगरेलियाँ कर रहा है। तो यह जो सारा बीभत्स है, जीवन उसके माध्यम से व्यक्त होता है। अंतिम अंक में युधिष्ठिर आते हैं बहुत पश्चाताप से भरे हुए दुःख की मुद्रा में जबकि पूरी लड़ाई खत्म हो चुकी है। वेणीसंहार पश्चिमी अर्थ में त्रासदी नहीं है, पर है बड़ी दारुण त्रासदी, इसका अंत आनंद और उल्लास में तो नहीं ही हो रहा है, युद्ध की सारी विभीषिका की छाया में विलाप के साथ शांति की कामना में इसका अवसान हो रहा है। तो पूरा नाटक ही युद्ध के विरोध का नाटक है। कई प्रबन्ध ऐसे हैं जो सत्ता को चुनौती देने वाले लोगों का चित्रण करते हैं। महान् कवियों की रचनाएँ भी हैं संस्कृत साहित्य की परंपरा में जैसे कि शूद्रक का मृच्छकटिकम् और भास का चारुदत्त हैं। मृच्छकटिकम् में लगातार आद्यन्त क्रांति की भूमिका रची जाती है, उस राजा की सत्ता पलटी जानी है जो कि अन्यायी और अत्याचारी है। पूरे नाटक की संरचना की व्याख्या अगर आप करें तो निरंतर उसमें नाटककार एक सूत्र देता चलता है कि कौन लोग हैं जो इस बगावत में शामिल हैं। जो गायक रेभिल है वो भी आर्यक के पक्ष का है। जो शर्विलक चोरी करने के लिए घुस गया था चारुदत्त के घर में वह तो खुद ही कहता है कि अब मैं उस लड़ाई में शामिल हो जाता हूँ जो आर्यक को बचाने के लिए जो इस गोपालक अत्याचारी राजा को हटाने के लिए चल रही है। वह रदनिका से कहता है कि तू उस रेभिल के यहाँ चली जा वह तुझे कुछ समय शरण दे देगा। वह अपनी प्रिया को वसंतसेना के भवन

से छुड़ाकर किसी तरह लाया , लेकिन जैसे ही सुना कि क्रांतिवीर आर्यक कारागार से भाग गया है तो कहा कि मैं तो आर्यक का साथ देने और उसकी लड़ाई में शामिल होने जा रहा हूँ, तू रेभिल के यहाँ चली जा। यह रेभिल जिसका गाना सुनने चारुदत्त जा रहा है। यह सारे सूत्र संकेत करते हैं कि स्वयं चारुदत्त भी उन लोगों के साथ हैं, जो राजा गोपालक के विरुद्ध लड़ाई में शामिल हैं। अंत में गोपालक तो हटाया ही जाता है और आर्यक राजा बनता है जो महान शूरवीर है और लोग उसे चाहते हैं। मृच्छकटिकम् में जो क्रांति होती है उसमें निम्नवर्ग के लोग शामिल हैं।

महान कवियों ने प्रसंगवश अपनी रचनाओं में विरोध और मदांध सत्ता के प्रतिरोध की भूमिका रची है। कालिदास जब अग्निमित्र के लिए विदूषक के मुँह से कहलवाते हैं कि तुम कसाईखाने के ऊपर मँडराते गिद्ध की तरह हो जो कच्चे मांस को झपटने के लिए ललचा भी रहा है और कायर भी है—‘सूना परिसर इव गृधः आमिष लोलुपो भीरुश्च।’ आमतौर पर विदूषक राजा को जो पसंद है वही बात कहता है लेकिन कालिदास शूद्रक के विदूषक राजा और सामंतों के मुँह पर वे बातें कह देते हैं जो आधुनिक कवि भी सरकार के खिलाफ कहने में हिचकिचा सकता है। भर्तृहरि कहते हैं किसी राजा को संबोधित करते हुए कि, “तुम राजा हो तो हम भी गुरु की उपासना कर उनकी प्रज्ञा के अभिमान से ऊँचे हैं। नाम तुम्हारा है अपने वैभव के कारण तो हमारी भी कीर्ति कविगण दिशा-दिशा में फैला रहे हैं। हे मानी! बहुत बड़ा तो नहीं है यूँ हम दोनों में अंतर। फिर भी तुम यदि मुँह फेरे हो हमसे तो हमको भी तुमसे क्या लेना देना है।”

“त्वं राजा वयमप्युपसितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्मताः

ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।

इत्थ मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं

यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।।”

(भर्तृहरि—शतकत्रयादिसुभाषितसङ्ग्रह, 163)

यह तो एक तरह से मोहभंग और निर्वेद का भाव है, यही कहीं कहीं चुनौती के भाव में भी परिणत हो जाता है। बाणभट्ट लोगों के कहने पर राजसभा में चले गये थे। राजा ने उनके लिये कह दिया कि यह तो बड़ा लम्पट है। बाण ने इस बात पर हर्ष को तमक कर उत्तर दिया कि, “मैं बहुत ज्ञानियों के, श्रोत्रियों के कुल में जन्मा पावन ब्राह्मण हूँ। क्या लम्पटता आपने मेरी देखी जो ऐसा कह दिया आपने?” हर्ष कोई उत्तर न दे सके और कहा कि ऐसा कुछ लोग कह रहे थे मुझसे। बाण कुछ समय तक तो रहे बाद में सबकुछ छोड़कर वापस अपने गाँव आ गये। ये कवि कभी राजा के आश्रय में नहीं रहे—न बाण, न कालिदास और न भवभूति ही।

राजा भोज की बहुत बात हुई। क्या कहना उनके अवदान और कला चिंतन के। भट्ट लक्ष्मीधर उनके समकालीन एक कवि थे। उन्होंने चक्रपाणिविजय महाकाव्य लिखा है दसवीं शताब्दी में। उस महाकाव्य को यदि आप पढ़ें तो लगेगा कि किसी भी तरह भारवि और माघ की कविता से घटकर उनकी कविता नहीं है। अपने उस महाकाव्य में लक्ष्मीधर बताते हैं कि भोजराज की सभा में तो सभी चाटुकार, दुष्ट लोग राजा को घेरे रहते हैं। वहाँ मेरे जैसे की कहाँ घुसपैठ हो सकती है? मैं तो उसको छोड़कर चला आया। ठीक इन्हीं शब्दों में कहते हैं कि, “दुर्जन और तस्कर लोग वहाँ इतने ज्यादा मौजूद थे कि मुझे घुसने नहीं दिया गया इसलिए मैं वहाँ से आ गया।”

“श्रीभोजदेवेन्दुविराजितायां तस्यां सभापञ्चदशीनियायाम् ।
विनाऽपि मुद्रामतिवाह्यमेव दूरीकृतं दुर्जनतस्करेण ।।”

(चक्रपाणिविजयमहाकाव्य, 1.9)

राजसभा में जाना पेट पालने के लिए जरूरी था कवियों के लिए लेकिन जब वे देखते थे कि उनके आत्मसम्मान के लायक वह जगह नहीं है तो छोड़ कर चले आते थे। लक्ष्मीधर ने अद्भुत महाकाव्य लिखा है जिसमें उषा और अनिरुद्ध के प्रणय की कथा है। बहुत सारे इन्होंने फुटकर श्लोक लिखे होंगे जो बहुत लोकप्रिय हुए, ये श्लोक गाँवों में लोगों की जुबान पर चढ़ गये होंगे तो वे वाचिक परंपरा में इस तरह के श्लोक प्रचलित रहे। बाद में अन्य ग्रंथों में उद्धृत हुए, संकलित किये गये लक्ष्मीधर जैसे कवियों के श्लोक। लक्ष्मीधर का एक श्लोक है जो स्वयं भोज ने उद्धृत किया है, राजशेखर ने उद्धृत किया है जिसमें जाड़े की कड़ाके की सर्दी का वर्णन है।

“कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति
श्वा चुल्लीकपहरोदरं श्रणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति ।
शीतार्तिव्यसनातुरः पुरनयं दीनो जनः कूर्मवत्
स्वान्यडअगानि शरीर एव हि निजे निहोतुमाकाङ्क्षति ।। ”

कटकटा कर काँप रहे हैं बंदर ।
गायें, भेड़-बकरियाँ सब छीझ रही हैं सर्दी के मारे जड़ होकर
ठिठुरती हुई
रात को भड़ी की भभूधल में घुसकर सोया कुत्ता
निकल नहीं रहा है बाहर
बार बार लतियाया भी जाकर
शीत की बिपत ऐसी गिरी है गाँव के लोगों पर
कि कछुए की तरह
अपने देह के हर अंग को
अपने ही देह में छिपा लेने की इच्छा
अब ये लोग अब कर रहे हैं ।

इस कविता में अलग तरह की उपमाएँ हैं। कुत्तों से भी उपमाएँ देते हैं इस धारा के कवि। प्रसंग और विषय तथा मुहावरे और उपमान अलग-हैं उनकी कविता के। इस कविता की पारिस्थितिकी को भी समझा जाना चाहिए। कुत्ता हमारे यहाँ की परंपरा में गाली नहीं रहा, हिकारत की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कम से कम 18वीं सदी तक के साहित्य में मुझे ऐसा नहीं मिला। ये तो हमें अंग्रेजों या किसी और ने सिखाया होगा कि गधे को हमने हास्यास्पद माना लेकिन गधे को हमारे यहाँ सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। अब तो कितना अजीब लगता है। हमारे संस्कार बदल दिये गये। तो उपमा अगर दी गयी है तो प्रसंग भी उसका अलग है क्योंकि अपनी पत्नी को भी कुतिया की उपमा दी है इस परंपरा के कवियों ने। बहुत अद्भुत हैं वो कविताएँ जिसमें उन्होंने उस तरह की उपमा दी है। बिल्हण ने बहुत सारे ऐसे श्लोक लिखे हैं। जिन बिल्हण ने ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा ‘विक्रमांकदेवचरितम्’ उन्होंने बाद में उसी राजा के लिए लिखा कि क्या बिगाड़ लेगा मेरा। ठीक है मैंने तो इसके चरित पर लिख दिया उस समय मुझे अच्छा लगता था। सर्वस्व छीन ले अगर ये तब भी मेरा सारस्वत

भाण्डागार ये नहीं छीन सकता है। क्षुद्र लोग जो इस राजा के चाटुकार हैं ये तो मुदित हैं, होते रहें लेकिन मेरा जो कविता का साम्राज्य है उसे कौन छीनेगा?

“सर्वस्वं गृहवर्ति कुन्तलपतिर्गृह्णातु तन्मे पुन-
भाण्डागारमखण्डमेव हृदये जागर्ति सारस्वतम्।
रे क्षुद्रास्त्यजत प्रमोदमचिरादेष्यन्ति मन्मन्दिरं
हेलान्दोलितकर्णतालकरटिस्कन्धाधिरूढाः श्रियः।।”

(विक्रमाङ्कदेवचरितम्, सं. विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. 11)

जो इस तरह के महाकवि हुए उन्होंने अपने स्वाभिमान को सत्ता के सामने गिरवी नहीं रखा। एक तो यह परंपरा है। दूसरी गाँव-गिराँव और दूर-दराज के लोगों की चली आ रही परंपरा है संस्कृत में। कम से कम डेढ़ हजार साल तक इन कवियों की परंपरा चली रही, जिन्होंने मौलिकता इस दृष्टि से कि उन्होंने जैसा देखा है जैसा जीवन निम्न वर्ग या निम्न-मध्यम वर्ग का उसको वैसा ही बयान किया है। उससे पूरा हमारा काव्यशास्त्र बदल जाता है। घर को लेकर बहुत सारी कविताएँ हैं। अपने घर के बारे में कवि बताता है।

“चलत्काष्ठं गलत्कुड्यमुत्तानतृणसञ्चयम्।
गण्डूपदार्यिमण्डूककीर्णं जीर्णं गृहं मम।।”

यह मेरा घर है।

बल्लियां हिलती रहती हैं इसमें।

भीतें गल रही हैं इसकी।

घास ऊँची हो रही है इसमें।

बिलबिलाते हुए केंचुओं को ढूँढते हुए मेंढक इसमें घुसे चले आते हैं।

बहुत पुराना जीर्ण शीर्ण है मेरा घर।

अद्भुत उपमा और मुहावरे हैं इनकी कविता में। अगर आप संस्कृत के प्राध्यापक से पूछें कि केंचुए या चमगादड़ को संस्कृत में क्या कहते हैं तो शायद न बता पाए। चूंकि ऐसी कविताएँ उन कवियों द्वारा लिखीं गयीं हैं जिनके घर में केंचुए, चमगादड़ आदि घुस जाया करते हैं। इसलिए अनोखी और अलग शब्द संपदा है इनकी कविता में।

“हस्तप्राप्यतृणोज्झिताः प्रतिपयोवृत्तिस्खलद्भिन्नयो

दूरालम्बितदारुदन्तुरमुखाः पर्यन्तवल्लिवृताः।

वस्त्रभावविलीनसत्रपवधूदत्तार्गला निर्गिर-

स्त्यज्यन्ते चिरशून्यविभ्रमभृतो भिक्षाचरैर्मद्गृहाः।।” (अज्ञात, वही, 2247)

यह मेरा घर है।

हाथ में आया तिनका भी टिक नहीं पाता इसमें रहकर।

हर बरसात में इसमें दीवारें ढहती जाती हैं।

बहुत नीचे तक झुक आयी बल्लियों से दाँत निपोरता है मेरा घर।

चारों ओर से इसे जकड़ रखा है बेलों ने।

भीतर ही भीतर डोलती है, दुबकी सी रहती है इस घर की बहू।

तन पर कपड़ों की कमी के कारण वह झट से चढ़ा लेती है साँकल

जब भी मैं जाता हूँ इस घर के बाहर या आता हूँ बाहर से घर के भीतर।

बोलता नहीं है यह घर, गुँगा सा घर है मेरा।
बहुत समय से बंद हैं इसकी किलकारियाँ,
बहुत समय से पसरा है इसमें सूनापन।
बहुत दूर से इसे देखकर
आगे बढ़ जाते हैं भिखमंगे।

“धूमेन रिक्तमपि निर्भरवाष्पकारि
दूरीकृतानलमपि प्रतिपन्नपतापम्।
देन्यातिशून्यमपि भूषितबन्धुवर्ग-
माश्चर्यमेव खलु खेदकर गृहं नः।।” (जलचन्द्र, वही. 2249)

यह मेरा घर है।
धुँआ नहीं उठता इसमें
लेकिन आँखों में उमड़ते रहते हैं आँसू।
आग नहीं जलती लेकिन ताप बहुत है इस घर के भीतर।
दलिदर के कारण बहुत खोखला है मेरा घर
पर हम बंधु जनों का गहना धरती तो है ही।
है तो बहुत खेदकर किंतु अचरज से भरा हुआ है मेरा घर।

“उत्सन्नच्छदिरुच्छवद्वृत्ति गलद्भिक्ति स्खलन्मण्डलि
भ्राम्यत्कुण्डलि हिण्डदाखु खुरलिप्रक्रिडिभेकावलि।
चञ्चाच्चर्मचरौघपक्षतिपुटप्रारब्धभाभाकृति
श्रीमत्सेनकुलावतंस भवतः शत्रोरिवास्मद्गृहम्।।” (सोहोक, वही, 2250)

ढह गयी है छत, दरक गयी है नींव।
ढह गयी हैं दीवारें, धसक रही है धरन।
रेंगते हैं साँप अंदर आकर, सैर करते हैं चूहे।
छुआ-छायी खेलते हैं मेंढक।
चंचल चमगादड़ों के झुण्ड उड़ते हैं पँख फैलाए हुए
उससे भाँय भाँय की आवाज तैरती है घर के भीतर।
राजन्, हमारा घर ठीक वैसा ही है जैसा आपके शत्रु का होना था।

“मद्गोहे मुसलीव मूषिकवधूर्मूषीव मार्जारिका
मार्जारिव शुनी शुनीव गृहिणी वाच्याः किमन्यो जनः?
किञ्च क्षुतक्लमघूर्णमाननयनेरुन्निद्रमुर्वीगतैः
कर्तुं वाग्व्ययमक्षमैः स्वजननी बालैः समालोक्यते।।” (दुर्गत, वही, 2229)

मेरे घर में छिपकली जैसी है चुहिया।
चुहिया जैसी है बिल्ली।
बिल्ली जैसी है कुतिया और कुतिया जैसी है पत्नी।
और बाकी के लिए क्या कहूँ?
धरती पर बिलखते-बिलबिलाते, उचटी नींद वाले,

भूख से अशक्त पर कुछ कह पाने में असमर्थ
बच्चे ताकते हैं अपनी माँ को।

गृहणियों के माध्यम से घर के भूगोल का अद्भुत चित्रण है कि कैसे वो अपने घर को बचा रही हैं। जो लोग जीवन से जूझ रहे हैं वहीं ये कविताएँ लिख रहे हैं। ये श्लोक लगभग लुप्त हुए, संग्रहीत सुभाषितों से हैं जो लगभग डेढ़ हजार साल के दरम्यान लिखे गए हैं। लगभग तीन सौ के करीब मैंने और भी कई अन्य लोगों द्वारा इकट्ठे किये गये हैं। प्रतिरोध का स्वर इनमें कैसे अंतर्निहित है उसे एक उदाहरण के द्वारा हम देख सकते हैं, ये अपनी घरवाली से कोई आदमी कह रहा है—

“पोतानेतानपि गृहवति ग्रीष्ममासावसानं
यावन्निर्वाहयतु भवती येन वा केनचिद् वा।
पश्चादम्भोधरजलपरीपातमासाद्य तुम्बी
कूष्माण्डी च प्रभवति तदा भूभुजः के वयं के?” (सुरको, 1306 धरणीधर)

गर्मी के ये दिन बीत जाएँ बस,
बच्चों को सम्भाले रहो ओ घरवाली
जैसे भी बन पाये वैसे।
फिर आएगी बरसात गिरेगा पानी,
जिसको पाकर फल जाएँगी कुम्हड़े और लौकी की बेलें।
तब फिर हम क्या और राजे महाराजे क्या।

जो मन से छोटा नहीं हुए हैं, तमाम दुःख दारिद्र्य के बावजूद यह उन लोगों की कविता है। बहुत सारे श्लोक राजा को संबोधित हैं जहाँ राजा एक प्रतीक है।

“अम्बा तुष्यन्ति न मया
न स्नुषया, सापि नाम्बया न मया।
अहमपि तया, न तया
वद राजन्, कस्य दोषोऽयम्?” (अज्ञात, वही, 2231, भोजप्रबन्ध में भी प्राप्त)

माँ न मुझसे प्रसन्न रहती है न बहू से।
बहू उसकी न माँ से प्रसन्न रहती है न मुझसे।
मैं भी प्रसन्न नहीं रहता इन दोनों से।
बताइये राजन् इसमें दोष भला किसका है।

एक और है श्लोक है, जिसमें निर्दय जमींदार किस तरह से बेगार के लिए सत्ता रहा है, कैसे लोग पलायन कर रहे हैं शहर की तरफ। सूने हो रहे हैं गाँव। यह बता रहा है।

“कैश्चिद् वीतदयेन भोगपतिना निष्कारणोपप्लुत-
प्रक्षीणैर्निजवंशभूरितिमितैरत्यज्यमाना कुलैः।
ग्रामा निस्तृणजीर्णकुड्यबहुला स्वैरं भ्रमद्बभ्रवः।
प्रायः पाण्डुकपोतकण्ठ मुखरारामे न यान्त्यत्कण्ठताम्।।” (अज्ञात, सुरको, 1175)

गाँव में कुछ इने-गिने परिवार अभी भी हैं ऐसे
दरिद्रे जमींदार द्वारा बिना कारण सताये गये
पतली हालत है उनकी,

पर छोड़ कर नहीं जा रहे हैं गाँव
 कि यह पुरुखों की धरती ठहरी।
 गाँव में तिनका भी अब बचा नहीं है
 टूटी-फूटी भीतों से भरा है गाँव
 बेखटके घूमते रहते हैं नोवले गाँव में
 गाँव में अब कोई सनसनाहट नहीं दौड़ती
 जब भी कबूतरों के कण्ठ से गूँज उठता है बगीचा।

“पीठाः कच्छपवत् तरन्ति सलिले सम्मार्जनी मानवद्
 दर्वी सर्पविचेष्टितानि कुरुते सन्नासयन्ती शिशून्।
 शूर्पाद्द्रावृतमस्तका च गृहिणी भित्तिः प्रपातोन्मुखी
 रात्रौ पूर्णतडागसन्निभममूद् राजन् मदीयं गहम्।।” (सूक्तिमञ्जरी, पृ. 75)

मूड़े कछुवों से तैर रहे थे
 झाड़ू था मछली सा
 चम्मच बच्चों को डरा रही थी
 सर्प सरीखी बल खाती
 सूर्य का आधा टुकड़ा सिर पर संभाले रही घरवाली
 भीत गीरने-गीरने को थी
 राजन्, रात में
 भरी तलैया था घर हमारा।

“दारिद्र्यगृध्रपरिभुक्तमस्तमांसं
 स्नायूपरुद्धसकलास्थिचयावशेषम्।
 पीयूषवृष्टिमिव नाथ निधेहि दृष्टिं
 कङ्कालजालमिदमङ्कुरमातनोति।।” (अज्ञात, सकम्, 2234)

सारा मांस नोच-नोच कर खा गया है
 गीध दरिद्र का
 नाड़ियों का जाल भर है
 बँधे हुए हड्डियों के इस ढाँचे को
 अब तो अमरित बरसाइए
 इधर भी दृष्टि सरसाइए
 राजन्, अस्थिकंकाल यह
 फिर से अंकुरा जाये शायद।

कई महाकवियों के काव्य में इसका प्रसंग आता है जिसमें जीवन की जो समानांतर धारा है, प्रतिरोध का स्वर है वह देखा-सुना जा सकता है। इस दृष्टि से दो एक जो बहुत महत्त्वपूर्ण कवि हैं उनकी चर्चा मैं करूँगा। इन्होंने एक नयी जमीन ढूँढी जिनमें एक तो क्षेमेन्द्र हैं जो बहुत ही उर्वर और प्रचुर साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकार हैं। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र दसवीं शताब्दी के रचनाकार हैं। वेश्याओं के जीवन पर उन्होंने लिखा। दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—एक तो कला-विलास और दूसरी समयमातृका है। ये क्षेमेन्द्र की रचनाएँ

हैं जिसमें वेश्याओं के जीवन का वर्णन है। इनमें ऐसे नंगे यथार्थ का वर्णन है कि अब यदि आप पढ़ें तो शायद झेल नहीं पाएँगे। कुटनियों आपस में बात करती हैं जो आज के नैतिकताबोध में शायद स्वीकार्य न हो। अंग्रेजों के आने के पहले हम काफी स्पष्टवादी थे। सच को सच की तरह स्वीकार और अभिव्यक्त करने वाले। नैतिकता का आवरण तो बाद में चढ़ाया गया। दामोदरगुप्त का एक 'कुटनीमत काव्य' ही है जिसमें ठोस बेलोस नंगा यथार्थ वर्णित है। आठवीं शताब्दी की बहुत सम्पन्न कविता है। बहुत सारे ऐसे उदाहरण काव्यशास्त्र में उद्धृत होते हैं वो कुटनीमत काव्य के हैं। क्षेमेन्द्र की रचनाओं में एक 'सेव्यसेवकोपदेश' है जिसके कुछ श्लोकों का अनुवाद मैं पढ़ूँगा। राजा के जो सेवक होते हैं उनकी क्या गति होती है उसका वर्णन है।

“सेवाव्रते प्राय इवोपविष्टः

सर्वात्मना निश्चितजीवनाशः ।

द्रास्थैः प्रयत्नेन निवारितोऽपि

न दुर्ग्रहं मुञ्चति नष्टसंज्ञः ॥”

जो बैठ गया गुलामी का व्रत लेकर,

वह बैठ गया जीवन भर के अनशन पर।

जीवन में फिर आस नहीं उसके किसी तरह की।

जीवन फिर उसका नहीं बचेगा किसी तरह भी।

वह रोका जाता है झिड़की दे देकर अधिकारी के द्वारा हरेक दरवाजे पर।

नहीं छोड़ता है लेकिन वह भीतर घुसने का अपना आग्रह।

जो बैठ गया गुलामी का व्रत लेकर, वह रह गया बस बुद्ध बनकर।

वह अँधियारे में रहता है।

वह रास्ते की थकन बराबर सहता है

वह देह सिकोड़े ही रहता है,

चिंता और दीनता के कारण, सर्दी और हीनता के कारण।

सुख की बस आस लगाए वह दुःख बराबर झेला करता है।

“गच्छामि गच्छामि दिनं गतं मे

दिनो गतोऽहं न नृपोऽद्य दृष्टः ।

इत ब्रुवाणस्य सदा जनस्य

जीर्णतरां तस्य तनुर्न तृष्णा ॥”

चलूँ अब चलूँ अब।

आज तो बीत ही गया यूँ ही दिन।

कब से यहाँ खड़ा हूँ

पर पा न सका राजा के दर्शन।

वह रोज रोज कहता है बस,

यह कहते कहते देह हो गयी है जर्जर।

तृष्णा तो है किन्तु अजर, बनी हुई है जस की तस।

“एकः खमेव क्षितिमीक्षतेऽन्यः

स निर्जनार्थी स च गाढलग्नः ।

स्वस्थार्थिता तस्य भृशं स चार्थी
कथं स सेव्यः स च सेवकोस्तु ।।” (क्षेमेन्द्रः सेव्यसेकोपदेश, 38-40,43)

इसकी आँखें टँगी हुई हैं ऊपर नभ पर।
उसकी आँखें लगी हुई हैं नीचे धरती पर।
यह मिलना उससे चाह रहा एकाकी।
वह लोगों से घिरा हुआ है।
इसकी इच्छा दो कौड़ी के लिए अड़ी है।
उसकी इच्छा तो बहुत बड़ी है।
तब फिर मिलना हो पाएगा कैसे आखिर
मालिक वह और बिचारा यह चाकर।

“प्रम्लाना सरसत्वमेति न पुनर्मालिव लग्नातपा
भग्ना काचमयीव सन्धिघटना योगेन नो श्लिष्यति।
सेवा दीपशिखेव दुर्गतगृहे सन्धार्यमाणा परं
निःस्नेहा क्षयमेति खेजदजनितैरुच्छ्वासमालानिलैः ।।”

चाकरी गरीब के घर की
जैसे एक दिये की बाती है
धारे रहो जितनी देर धार सको
उसके भीतर की चिकनाई
आखिर चुक ही जाती है
दुःख में फूटी हुई साँस से
भभककर फिर वह बुझ जाती है
गरीब के घर की चाकरी
जैसे बेहद कुम्हलाई माला है
धूप में मार खाती हुई
उसको फिर कौन खिलाने वाला है ?
गरीब के घर की चाकरी
जैसे फूटी शीशी है काँच की
कितना ही जोड़ो
वह जुड़ नहीं सकती।

“कस्त्वं गत्वर, सेवकस्त्वरितता कस्मात् प्रभुर्दृश्यते
लाभः कस्तव वेत्रिविपुलघातैः शिरस्ताडनम्।
किं मृद्नासि मदा विशालचरणैर्मिथ्यैव रथ्यामिमां
बन्धो वन्ध्यनरेन्द्रभव्यभवनभान्त्या विडम्ब्यामहे ।।”

कौन हो भैया राही ?
'मैं एक चाकर हूँ भाई।'
'ऐसी जल्दी में कहाँ जा रहे हो भागे-भागे?'
'वे, लो मालिक जो दीख रहे हैं आगे।'

‘मालिक से क्या तुमको मिल जायेगा।’
‘बस पहरेदारों की मार यह माथा खायेगा।’
‘तो फिर यों खुश हो-होकर
क्यो व्यर्थ रौंदते हो धरती को रह-रहकर?’
‘बन्धु, पाल लिया है हमने यह जीवन भर का चक्कर
राजा के भव्य भवन में चक्कर लगा लगाकर।’

“सुप्ताकर्षणदाम धाम महतो मोहस्य दैन्यस्य वा
सेवाक्लेशमहर्निशं विषहते यो वित्तलेशाशया
प्रस्फूर्जद्वडवाग्निगर्भगहनोद्भूतोर्मिलालाकुलं
सङ्क्षुब्धं मकरालयं प्रविशति श्रीरत्नलब्धै न किम्।।”

चाकरी होती है ऐसी रस्सी
सोते गुलाम को भी वह घिसटा लेती है
चाकरी होती है ऐसी गठरी
जो महामोह से भरी सदा रहती है
या कि दीनता से अटी हुआ करती है
जो क्लेश चाकरी से सहता है
पैसे के लालच में
वह बड़वानल से धधक रहे और धाड़ मारते
ऐसे सागर में धँसता है मोती पानी को
जो बड़े मगरमच्छों से भरा हुआ है।

“व्यर्थार्थगतगतव्यतिकरोरश्रान्ततीव्रत्वरो
द्वारालोककनतत्परः परिजनैरुत्सार्यमाणः परम्।
यत्नैव पुरःप्रवेशशकलनैः क्लेशावमानाश्रयः
सर्वापत्तिशुनः सुनः स शतामालप्स्यते सेवकः।।” (वही, वही, 49-52)

वह लगातार आता है, जाता है,
वह व्यर्थ लगाता है चक्कर
वह भागता है, हड़बड़ाता है
नहीं बैठता पर थक कर।
वह दरवाजे पर आँख टिकाता है।
वह घर के लोगों से धकियाया जाता है।
वह बन जाता है दुःख और तिरस्कार का घर
वह बन जाता है सारी विपदाओं का एक घर
एक कुत्ता बन कर रह जाता है एक चाकर।

“कूजळूरकपाटपीडनरुषादत्तप्रहारैः परं
द्वारावस्थगनाय सुस्थिरभुजैर्द्वाःस्थैर्भृशं भहत्सतः।
कुब्जीभूय जनस्य जानुविवरेः क्षिप्रप्रवेशोत्सुकः
पृच्छत्यन्तरनिर्गितानवसरं मौनव्रतान् सेवकः।।”

क्रूरता के साथ चीख-चीख उठते हैं किवाड़
 ठोकर मारते हैं रिसाते हुए पहरेदार
 गालियाँ बकते हुए वे
 छेकते है द्वार— स्थित भुजाओं से
 वह कुबड़ा बन कर ललक रहा है
 लोगों के घुटनों के बीच से भीतर घुसने को।
 वह जो बन गया है चाकर
 वह भीतर से बाहर जाते लोगों से
 पूछ रहा है— क्या है अब अवसर ?
 निकल रहे हैं लोग मगर
 मौन का जैसे व्रत लेकर।

“द्वारे रुद्धमुपेक्षते कथमपि प्राप्तं पुरो नेक्षते
 विज्ञप्तौ गजमीलनानि कुरुते गृह्णाति वाक्यच्छलम्।
 निर्यातस्य करोति दोषगणानां स्वल्पापराधे यमः
 स स्वामी यदि सेव्यते मरुतटे किं नः पिशाचौः कृतम्?” (वही, वही, 53-54)

जो अटक गया है दरवाजे पर
 उसकी ओर ध्यान नहीं वह देता
 जो खड़ा हो गया आगे आकर
 उसकी ओर नहीं यह देखा करता, कहा सुनी करने पर
 वह आँखें मूद लिया करता है या
 करता है टालमटोल
 मीनमेख निकाला ही करता है
 काम खतम होने पर
 थोड़ी भी चूक हुई तो
 वह बन जाता है यम
 ऐसे स्वामी की यदि सेवा की
 तो बिगाड़ा ही क्या है
 मरुस्थल के पिशाचों ने ?

“क्व भ्रातश्चलितोऽसि यासि कटकं किं तत्र सेवाशयाः
 कः सेव्यो नृपतिः, कतं निजगुणैः, के ते गुणाः, ये सताम्।
 किं तैरद्य, कुतः परे व्रज वनं किं वा त्वया न श्रुतं
 पूज्यन्ते शठमत्सरिप्रभृतयः कर्णेजपाः सेवकाः।।” (अज्ञात, सुभा.. 3072)

कहाँ चल दिये भाई ?
 राजसभा में जाऊँगा भाई।
 क्या है वहाँ ?
 सेवा मिलने की आशा है वहाँ।
 किसकी करनी है सेवा ?

राजा की ही तो
 कैसे करोगे सेवा?
 करेंगे अपने गुणों से सेवा।
 और गुण कौन से हैं वे तुम्हारे ?
 वे ही, जो सज्जनों के हुआ करते हैं।
 अरे, अब उन गुणों का काम क्या ?
 क्यों भला ?
 जाओ, यहाँ धूर्त, जलकुकड़े और चुगलखोर सेवक
 की ही बस पूछ हुआ करती है

मैने अपने व्याख्यान के आरंभ में धर्मकीर्ति की चर्चा की है, उनके अनोखे वामपंथ की बात कही है। धर्मकीर्ति का भी एक पद्य मिलता है बड़े आदमी के घर चाकरी करने वाले मनुष्य की नियति पर। यह पद्य स्वयं धर्मकीर्ति ने अपने बहुत प्रौढ दार्शनिक ग्रंथ वादन्याय में भी उद्धृत किया है—यह बताने के लिये कि वाद या बहस में वादी या प्रतिवादी के द्वारा की जाने वाली पुनरुक्ति सदैव दोष नहीं होती।

“हसति हसतिस्वामिन्युच्चौ रुदत्यपि रोदिति
 कृतपरिकरः स्वेदोद्गारं प्रधावति धावति।
 गुणसमुदितं दोषापेतं प्रनिन्दति निन्दति
 धनलवपरिक्रीतो भृत्यः प्रनृत्यति नृत्यति।।” (धर्मकीर्ति, सुभा, 3232)

हँसता है स्वामी के हँसने पर
 रोता है चीख-चीखकर स्वामी के रोने पर
 बाँधकर कमर बहाता हुआ पसीना
 वह भागता है स्वामी के भागने पर
 गुणों से भरे दोषों से रहती व्यक्ति की
 रूपये के टूकड़े से खरीदा गया सेवक
 नाचता है स्वामी के नाचने पर

वास्तव में तो भिक्षा माँगने की नियति या चाकरी की नियति पर अनेक कवियों ने अपने अपने मंतव्य प्रकट किये हैं—सभी में यथार्थ की तीखी धार है। प्राचीन संस्कृत कविता से ही कुछ और पद्य देखिये—

“सप्रस्वेदः पुलकपुरुषः सम्भ्रमात् सप्रकम्पः
 सान्तर्दाहः प्रसिथिलधृतिः सास्यशोषः सतर्षः।
 सवृत्तो यो गुरुपरि लघुहन्त तैस्तै प्रकारै
 याञ्चशब्दः स्पृशति पदवीं सन्निपातज्वरस्य।।”

याचना के शब्द और ज्वार सन्निपात का
 ये दोनों एक बराबर हैं
 दोनों में खूब पसीना आता है,
 दोनों में रोये खड़े हुआ करते हैं
 दोनों में आता है चक्कर और कँपकँपी
 दोनों के मन में होता है दाह, छूट जाता है धीरज

मुँह सूखता है दोनों में, बढ़ती है तृषा
दोनों में हर तरह से
बड़ा ही बन जाया करता है छोटा।

“शून्यार्थैर्वचनैर्मया नरपते कर्णौ तवापूरितौ
तेभ्यः शून्यमत्वयापि बहुशो मत्कर्णपूरः कृतः।
इत्थं वञ्चयतोः परस्परमयं कालो ब्रजत्यावयोः
क्षीणा शक्तिरहं जितस्त्वमजितो जेता नृपः शस्यते।।”

खोखले वचनों से हे राजा,
मैने भी तेरे कान भरे
उससे भी खोखला तूने रच दिया
मेरे लिये कर्णपूर।
इस तरह हम दोनों
ठगते रहे एक दूसरे को
और बीतता गया काल
अब छिछ गयी है शक्ति मेरी
मै हारा, तुम जीते
जो जीत गया वह है राजा।

“उन्नत्यै नमति, प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधी रागामिवित्ताशया।
प्राणान् प्राणितु मे मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छाया
सर्वं तद् विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धक् सेवकः।।”

ऊँचा उठने को
वह झुकता है नीचे, प्रभु के आगे
प्रभु के घर के भीतर जाने को
वह खड़ा रहता है, करता है बाहर
अपने पास से रुपये खर्च कर देता है मूर्ख
आगे रुपया मिलने की आशा में,
जिन्दा रहने के लिये
युद्ध में देता है प्राण
सुख भोगने के लिये
उठाता रहा है दुःख
सब कुछ उल्टा करता है सेवक
तृष्णा के आँखें जिनकी अन्धी होती है।

“अमीषां प्राणानां तुलितविसीनपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्वगलतिविवेकैर्व्यसितम्।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां

कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ।।”

(भल्लटशतक, 168, महासुभा...संग्रह भाग-2, 2483)

तिरछे कमल के पत्तों पर गिरी
पानी की बूँदों जैसी है जिन्दगी
इसके लिये विवेक विसराकर
क्या क्या नहीं कर बैठे हैं हम ।
हम जो कि
धन के बेहोश मन वाले
अमीरों के आगे
लाज को धकियाकर
अपने गुण बखान करने का
पाप भी कर गये ।

“अरण्यरुदितं कृतं शवशीरमुदवर्तितं
स्थलेऽमवनामिडं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।
श्वर्षुच्छमवानमितं बधिरकर्णजापः कृतः
कृतान्धमुखमण्डना यद्बुधजनो सेवितः ।”

यह जंगल में रोना हुआ
यह मुर्दे के तन पर लगाया हुआ उबटन
यह रोपना हुआ सूखी धरती पर कमल
यह बड़ी देर बरसना हुआ ऊसर में
यह कुत्ते की पूँछ सीधी करना हुआ
यह बहरे के कान में फुसफुसाता हुआ
और हुआ अंधे के चेहरे को सजाना
यह तो नासमझ की सेवा करना चाहता था ।

“भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दनेभ्यश्च भवन्ति ये च भुवने लब्धप्रतिष्ठाः विद्याः ।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायास्यतः
सेवां लाघवकारिणीं धृतधियः स्थाने शववृत्तित्विदुः ।।”

(विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, सूमु., 123/8)

डरना होता है राजा से
फिर डरना होता है मन्त्री से
फिर डरना होता है राजा के प्रेमपात्र से
और उन सभी दलालों से जो
हो चुके प्रतिष्ठित इस दुनियाँ में ।
बात करना होता है दीनता के साथ ऊँचा मुँह कर के
रोटी के टुकड़े के लिये क्या क्या नहीं करना होता है

गुलामी छोटा बना देती है आदमी को
ठीक ही कहते है लोग

गुलाम होना कुत्ता का जीवन जीना है।

बहुत सारे संस्कृत के श्लोकों पर पूरे के पूरे नाटक रचे जा सकते हैं। जैसे मेरी पुस्तक 'संस्कृत लोकजीवन की परंपरा' में एक श्लोक उद्धृत है जिस पर अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी ने एक पूरा नाटक लिखा है। उस में कहा गया है कि एक चोर किसी घर में घुस गया और उसने घरवाली को अपने पति से बात करते हुए सुना। वो कह रही थी कि यह घास का जो पुआल है इस आप ही पूरा सोये हुए हैं, मैं बेटे को लेकर जमीन पर सो रही हूँ। सर्दी बहुत तेज है, यह जमीन भी गीली हो गयी है और बेटा भी परेशान है तो आप जरा पुआल पर एक तरफ हो जाएँ तो मैं भी ठीक से सो सकूँ। चोर को यह बातें सुनकर बहुत दुःख होता है। वह चुपचाप अपना दुशाला उन्हें ओढ़ाकर आँखों में आँसू लिए उस घर से निकल जाता है।

मनुष्य को उसकी संपूर्ण गरिमा और स्वाभिमान में प्रतिष्ठित करने वाली और उसके संघर्ष और स्वप्न की कथा कहने वाली इस कविता के बहुत ही थोड़ी सी झलक मैंने अपनी सीमाओं में आपको दी। धन्यवाद।

(सत्यप्रकाश मिश्र साहित्य संस्थान द्वारा स्व. सत्यप्रकाश मिश्र की स्मृति में प्रत्येक वर्ष आयोजित होने वाली व्याख्यानमाला का छठा व्याख्यान-23 मार्च, 2013)

(लिप्यंतरण-अजीत कुमार तिवारी)

दो कतिवाएँ और कुछ पोर्ट्रेट

अर्चना वर्मा

बच निकलने के बाद

बात बात पर हँसने की बेबात
आदत हो गयी थी उसे
या शायद हो ही
कोई बात और हमें
मालूम न रहा हो।

यह भी शायद दुर्घटना का
वैसा ही एक नतीजा रहा हो
जैसा कि उसका आना और
लगभग क्षमायाचनापूर्वक
अपना नाम बताना
कि अगर हम शायद
पहचान न पाये हों
क्योंकि हालांकि
वह तो वही थी जिसे
हम जानते थे
लेकिन चेहरा बदल गया था।
इसलिए शायद पहचानते न हों,
मानो चेहरे का बदल जाना

उसकी अपनी गलती हो ।

दुर्घटना के साल भर बाद
बचे हुए निशानों के साथ
पहली बार उसे देखते हुए
क्या कर सकते थे हम
स्तब्ध रह जाने के सिवा ।
कुछ कहना ज़रूरी था
इसलिए कहा
पिछले चेहरे को याद
न करने की कोशिश में
अंदाज़ा नहीं था
इतना संगीन रहा होगा
जो हुआ
ईश्वर को लाख लाख
धन्यवाद,
इसके बावजूद वह मरने से बची ।

हम जानते थे उसे
क्या सचमुच
वह वही थी?
जो हँसी कहने के पहले
मरने से कौन बचता है
हाँ उस दिन नहीं मरी ।

वह शब्दों से खेल रही थी
इतनी जल्दी?
कि मज़बूरन खेल में शामिल हो
कहना पड़ा हमें भी
उस दिन बची न होती
तो आज यह
कैसे कह पाती?
फिर से हँसी वह
कहने के पहले
बचना तो मुझे था ही
हर हाल में
मर गयी होती तो
जीने से बची होती ।
कहने के बाद

फिर हँस पड़ी हालांकि
हँसने की कोई बात
थी तो नहीं
या शायद रही ही हो
कोई बात और हमें मालूम न हो।

बहस नहीं इन सलाहों के साथ

जो हुआ सो तो हो चुका।
आगे के लिए
बस इतना ही संभव है
जो हो चुका उससे सबक लो
सावधान रहो।
दुर्घट के घट चुकने के बाद ही
दी जा सकती है यह सलाह
निस्संदेह नेकनीयत
उन्होंने दी।

सुन लिया उसने चुपचाप
नेकनीयत सलाहों को
सिर्फ सुन ही तो सकते हैं,
बहस नहीं इन सलाहों के साथ,
बहस में
उनकी नीयत का अपमान है।

उसने सुन लिया चुपचाप
और नहीं कहा—
लेकिन अगली बार की दुर्घटना
उसी तरह नहीं घटेगी
जिससे तुमने सबक लिया है
उस जगह भी नहीं घटेगी
जहाँ सावधानी के सारे इन्तजाम
किये जा चुके हैं
और उस वक्त तो घटेगी ही कैसे
क्योंकि वह बीत चुका होगा
और बीते वक्त में
तुम लौटोगे कैसे भेले ही
तब से अब तक उसी में
जीते रहे हो।

जैसे जब और जहाँ वह घटेगी
वहाँ काम नहीं आयेंगे
पिछली दुर्घटना के सबक।
अगर लिये ही गये होंगे
तो इतना भर करेंगे
कि सिर्फ सावधान बनाये रखें तुम्हें
हर जगह हर समय हर तरह।
अकारण
किसी संभावी दुर्घटना की टोह में
जो शायद घटे ही न
अगली बार
और तुम ढोते ही रह जाओ
चौकन्नेपन का बोझ और
सुघटना भी रह जाये घटते घटते।

आहुति

(मन्नू भण्डारी के लिए)

बाँस भर ऊँचाई पर टँगी
खिचड़ी की हँडिया के नीचे अपर्याप्त
अपनी अस्थियाँ सुलगा कर
दूरी को देखे बिना
उसने आहुति दी और आग के बावजूद
कण्ठ तक पानी में
पूस की समूची रात दूर दीपक के सहारे
ठिठुरती रही।

इंतजार अब भी शायद है/शायद नहीं।
न हो तो बेहतर।
जाने क्यों गाते हैं हम आशा का गीत
जगाये रखना चाहते हैं उम्मीद की लौ
ना उम्मीदी की ताकत को जानते नहीं
बेहतर होता है कभी कभी उम्मीद का
हार जाना भी पूरी तरह।

जानती तो वह होगी ज़रूर
आहुति के लिए नहीं होतीं अस्थियाँ

मान भी लेगी शायद-
आहुति में जो भी डालो
बचती है राख ही ।

आईना

(राजेन्द्र यादव के लिए)

अपने हाथों फाड़ फेंका
खुद अपना ही पैरहन
और उन्हीं हाथों में पत्थर लिए
अपने ही आईने के सामने खड़ा हुआ ।

यह नंगई की हद है या गुण्डई की
हर दिशा से बौछार है पत्थरों की
और उसी आइने को ढाल बना कर
वह हँसता है, बेशरम ।
यह दीवानगी की हद है या बेगानगी की
सामने वही आइना है और अपने ही हाथों में
पत्थर भी ।

लालटेन

(विष्णु खरे के लिए)

धुंधुआती बाती
कालिख की परतों में
अंधी चिमनी
रोशनी तो कहीं भी लगभग नहीं
धुँआ है इसलिए तय है कि
भीतर कुछ है जो जल रहा है ।
हालांकि तुम्हें वह सिखा सकता है
सर्वोत्तम संपूर्ण
लालटेन जलाने की कला ।

उत्तरदायित्व

(अजित कुमार के लिए)

रास्ते उसे सब मालूम थे ।
जो मालूम नहीं थे
उन्हें भी वह खोज कर खोद कर
निकाल सकता था
हमें भी बता सकता था
वहाँ तक का रास्ता
जहाँ हमें जाना नहीं था
और मनवा भी सकता था कि
एक बार तो कम से कम
हमें वहाँ हो आना ही चाहिए ।

ताज्जुब कि इतने बेहिसाब तमाम
रास्तों के बावजूद
वह खुद वहीं ठिठका खड़ा रहा ताउम्र
जहाँ उसे एक मिनट को भी
नहीं रहना था ।

अभिमान

(स्नेहमयी चौधरी के लिए)

पहले तो हर खिड़की हर दरवाज़े के बाहर
बोई उसने नागफनी
फिर भीतर से सिटकिनी चढ़ा ली ।
फिर दीवारों से घिस घिस कर
उधेड़ती रही अपनी ही चमड़ी ।
बाहर खींच निकालने के लिए
बढ़े हर हाथ को वापस धकेलती रही
नागफनी को पार कर
दरवाज़े तक आई हर दस्तक लौटाती रही अनसुनी ।
उसे जुटाने थे सबूत अनुपम उस पीड़ा के
जिसकी प्रतियोगिता में सदा सदा के लिए
उसे अद्वितीय रहना था ।
निशान अगर दिखते हैं तो

घाव भी रहा ही होगा
आखिरकार सन्नाटा था ।

अब इस उधड़ी हुई
चमड़ी का वह क्या करे ।
सबूत तो सब हैं,
साबित मगर कुछ भी नहीं
लिए बैठी है अपनी पीड़ा
अप्रमाणित ।

अन्हियारे तलछट में चमका

अल्पना मिश्र

चिंदी चिंदी : रंग रंग

(आत्मकथा - 1)

में अपने आप से लड़ रही थी। यह आसान नहीं था। आदमी लहलुहान हो जाता था और बाहर से दिखता भी नहीं था। दुनिया चोट के निशान का प्रत्यक्ष प्रमाण माँगती थी। प्रमाण नहीं होने पर सिरे से खारिज कर दिया जाता था। इसके बावजूद भीतर की लड़ाई जारी रहती थी। बड़ा भीषण था युद्ध का भीतर की तरफ होना। भीषण था कि शत्रु अपने ही भीतर छिपा बैठा था। अपने ही भीतर कायरता का अगाध समुद्र लहरा रहा था, रोकता, डराता, विचलित करता। जहाँ सबसे ज्यादा गहरा था, वहीं से उतरा कर निकलना था। शैलो एंड से तैर कर निकल जाएंगे, इसका कुछ कुछ भरोसा अपने को दिलाती रहती थी। डीप एंड की सब समस्या थी।

डीप एंड ऊपर से अलग नहीं लगता था पर होता अलग था।

अलग दिखना और अलग होने में फर्क था।

इसी फर्क में जीवन बहता रहता था।

बहते हुए कुछ साफ दिख जाता था, कुछ बह कर आगे निकल जाता था। हमारी पकड़ से बाहर, हमारी नींद से बाहर, हमारे स्वप्न से भी बाहर, हमारी पहचान से भी बाहर.....

तो छोटे छोटे टुकड़े ही जहाँ तहाँ से हाथ आते थे।

जीवन टुकड़ों में बिखरा था। कतरनों को सी सी कर एक समूची कथरी सिलने जैसा उपक्रम था। सोचती थी कि जीवन को समझने के लिए लोगों की कहानी जान लूंगी, जितना जानती जाऊँगी, उतना समझती जाऊँगी पर ज्यादातर जीवन कहानियों के बाहर फैला था। चिंदी चिंदी में बिखरा.... चिंदी चिंदी में सजा सँवरा..... तमाम तमाम रंगों में डूबा.....

मैं खयालों में डूबी मानो दर्शनशास्त्र की विद्यार्थी बन गयी थी। किसी हल्के से खटकने मुझे चौंका कर उठा दिया। लगा कि कोई दरवाजा खटखटा रहा है।

ऐसा था नहीं।

हवा थी, जो टकरा कर लौट गयी थी।

दिल का दरवाजा नहीं खटखटाया गया था।

मैं उमस भरे इस हॉलनुमा कमरे की खिड़की से देख रही थी। इसी हॉलनुमा कमरे में मेरी सब गृहस्थी फैली थी। फैली थी या सिमटी थी, दोनों ही तरह इसे देखा जा सकता था। मुझे संसार हमेशा खुलता हुआ सा लगता था, अपनी गृहस्थी भी इसी के मुताबिक फैलती हुई सी लगती थी। सामान कुछ खास नहीं था। जो था, वह भी गृहस्थी का ही माना जाएगा। अकेले की कोई गृहस्थी नहीं होती, मैं इसे नहीं समझ पाती थी। गृहस्थी हो या न हो यह अपने उपर था। मैं अकेले थी और भूत काल में अपनी अच्छी खासी गृहस्थी, जो पता नहीं कितनी बड़ी हो जाती, छोड़ आई थी। अब जो था, वही 'सब' था।

सामने सड़क पर एक छोटा सा जुलूस, जिसमें मुश्किल से बीस पच्चीस लोग थे, जा रहा था। आगे के कुछ लोगों ने कपड़े का बैनर पकड़ा था, जिसको पढ़ कर पता चलता था कि जुलूस छात्र हित में कुछ माँग ले कर निकाला गया है। वे लोग कुछ बोल रहे थे। शायद बीच बीच में कोई नारा। नारे की आवाज कहीं तक पहुँचती होगी, यहाँ तक नहीं पहुँचती थी। वे हँसते और बतियाते थे। वह आवाज भी वहीं गिर कर बिखर जाती थी। उन्हीं में पीछे कुछ लोगों के साथ हँसी ठट्ठा करते शचीन्द्र दिखा। उसका काला चमकता चेहरा धूप में और दमक रहा था। वह कुछ साथियों के साथ जुलूस से निकल कर किनारे की दुकान पर चाय पीने लगा। चाय पीते हुए वे जोर जोर से बोल रहे थे। व्यवस्था पर बहस कर रहे होंगे, ऐसा मैंने अंदाज लगाया। इतनी दूर से भी उनके ठठा कर हँसने और झगड़ा करने जैसे हाव भाव को देख कर आराम से अंदाज लगाया जा सकता था। शिक्षा का मुद्दा रहा होगा, जिस पर बहस चल पड़ी होगी। या कोई और मुद्दा होगा। हँसते हुए वे लोग वहाँ से पैदल ही आगे बढ़ गए थे। आगे बढ़ते हुए 'सुंदर' टॉकीज की तरफ जा रहे थे। उसमें कोई एडल्ट फिल्म लगी थी। वे लोग उसी में घुस गए। मैंने अंदाज किया कि फिल्म देखने घुसे होंगे। शचीन्द्र अपने परिचित अंदाज में बीड़ी फूँके जा रहा था। उसके साथी उसी में से एक दो कश खींच रहे थे।

फिल्म, बीड़ी और हँसी ठट्ठा, एक उनका अपना माहौल बनाता था। आत्मीय, आनन्दम् परमानन्दम्!

इनमें से कितने लोग छात्र थे, कहना मुश्किल था। कम से कम मैं जितने को पहचान पा रही थी, उनमें से कोई भी छात्र नहीं था। खुद शचीन्द्र सात साल पहले अपनी पढ़ाई छोड़ चुका था। सात साल पहले कई विषयों में एम.ए. कर कर के वह बेमतलब के एम.ए. से तंग आ चुका होगा और अंत में किसी भी विषय से एम.ए. किए बिना छात्रों के बीच बने रहने को चुना होगा, ऐसा मुझे लगता था। उससे पूछना बेकार था। बेकार इस अर्थ में कि यह पूछते ही वह बात को घुमा देता था। घुमा कर न जाने कैसे शिक्षा तंत्र पर पहुँच जाता था। फिर वहीं, अध्यापक से ले कर शिक्षामंत्री तक और सड़क से ले कर संसद तक शिक्षा की राजनीति को मुझे समझा कर ही दम लेने की कोशिश! इस झिंक झिंक में बड़ी बोरियत थी।

तब भी वह छात्रों में डटा हुआ था। पढ़ाई छोड़ देने से छात्रों को छोड़ देने का तर्क नहीं बनता था।

यह दृश्य का इतना छोटा टुकड़ा था, जो गुजर गया था। इसमें कई किस्म के रंग थे। अपनी अपनी समझ और सामर्थ्य के हिसाब से लोग इन रंगों को जान लेते थे। मैंने अपने हिसाब से इन सबमें से दो विपरीत रंग पहचानने की कोशिश की थी- हल्की सी बची रह गयी इच्छा का रंग और दूसरा गहरा डूबता सा रंग.....

रिक्शे की सवारी और कल्पना में पड़ी सलवटें

बहुत देर से रिक्शा जाम में फँसा था। जाम यहाँ पहले भी लगा करता था। पहले, मतलब मेरे बचपन के दिनों में। कभी कभार जब मैं यहाँ आई थी, ज्यादातर माँ के साथ। लेकिन तब के जाम और अब के जाम में फर्क आ गया था। तब बैलगाड़ियाँ और उन पर लदे बोरों या नीचे सरका दिए गए बोरों से जगह बंद हो जाया करती थी। कभी कभी बोरे फट जाते, उनके भीतर की दुनिया बिखर जाती और बोरों का मालिक अपने नौकरों समेत अपना सामान बटोरने के लिए रास्ते की आवाजाही रुकवाने की कोशिश करता, पर अब अगल बगल दुकानों और मोटर गाड़ियों से जगह पट गयी थी। रिक्शा निकलना दूभर था। इधर मेरी मौसी का घर था। अब, इतने वर्षों बाद जब मैं इस शहर में पढ़ने आ गयी तो एक बार फिर कभी कभार इस तरफ आना पड़ने लगा था। माँ, मौसी के लिए कुछ सामान, पुरानी साड़ियाँ, स्वेटर वगैरह या कभी थोड़े से रूपये दे आने को कहतीं, तब आना पड़ता। रूपये ज्यादा नहीं होते। पचास, सौ से दो सौ के बीच होते। माँ इसे ही दे आने पर जोर देतीं। मौसी इसे ही पा कर निहाल होतीं। ये रूपये उनकी लाइफ लाइन हैं, ऐसा वे नहीं कहतीं, केवल जतातीं। मैं कभी कभार वाले इन रूपयों को दे आने में देरी करती। देरी करती नहीं, देरी हो ही जाती। माँ को लगता था कि एक ही शहर की बात है। पर एक ही शहर की बात होते हुए भी रूपये देने जाने भर में सारा दिन स्वाहा हो जाता था।

रिक्शा रेंग रेंग कर आगे बढ़ता था। शहर का यह हिस्सा एक बड़े थोक मार्केट के लिए जाना जाता था। इसी से रिक्शों, ठेलों की, मोटर गाड़ियों, बैलगाड़ियों की, छोटी ट्रकों, लारियों आदि की भारी आवाजाही बनी रहती थी। अगल बगल आकाश तक लदी लारियों के बोरों से गर्द उठती रहती। हल्दी, लाला मिर्च, बड़ियाँ, चावल, गेहूँ.....सबको अलग अलग और सम्मिलित रूप में पहचाना जा सकता था। सड़कें पतली थीं। तब भी यानी मेरे बचपन के समय भी। पता नहीं, बीसेक साल बाद ऐसी न रह जायें। क्या पता, कभी कोई बड़ी कम्पनी विदेश से चल कर आये और इस पूरे शहर के साथ साथ बिसेसरगंज के इस इलाके पर कब्जा कर ले और यहाँ की तंग गलियों में बने दो तीन पाँच तल्लों वाले मकानों को गिरा कर उनकी जगह साफ सुथरे चमकते मॉल खोल दे, फूड बाजार बना दे और हम जो ये तरह तरह के मसालों की गंध से भरे छींकते जा रहे हैं, उसे भूल जाएं! उड़ती हुई धूल, मिट्टी, डीजल, पेट्रोल की गंध भी गंध न रहे, खुशबू में बदल जाए। अपने रह रह कर छींकने की तरह इनके ढेरों ढेर रंगों को भी भूल जाएं।...

भूल जाना एक सुकूनदेह पद नहीं था।

तभी ख्याल आया कि यह जगह कभी कुछ और कैसे हो सकती है? सड़क पर चलती इन गायों का क्या होगा? कहाँ भेज दी जायेंगी ये? और अगल बगल के इन मकानों में ठूस ठूस कर भरे हुए ये लोग कहाँ रहने चले जायेंगे? अगल बगल के ये पत्थरों से बने ऊँचे मकान अब पहले की तरह रहे भी नहीं। सब घरों में कोई न कोई दुकान खुल गयी है। न जाने कितने एस.टी.डी. बूथ उग आए हैं। पान तम्बाकू की दुकानें बेतहाशा बढ़ गयी हैं। कहीं कहीं जरा

सी जगह में एस.टी.डी. बूथ भी है और फोटोस्टेट भी है और अंदर कम्प्यूटर टाइपिंग भी सिखा रहे हैं या कम्प्यूटर खोल के बैठे हैं, इंटर नेट कैफे चल रहा है। जगह इतनी नहीं है कि एक आदमी ठीक से बैठ जाए, पर दुकानें सारी हैं। कहीं कहीं इन पटे हुए सामानों, गाड़ियों वगैरह से छूट गयी जरा सी खाली जगह दिखती है। वहाँ पान की पीक, तम्बाकू के थक्के और बलगम भरा पड़े हैं।

लगता था जितना बेचा जा रहा है उतना थूका भी जा रहा है!

मन ही मन यही सब सोच रही थी। एक मन होता था कि पैदल चल पड़ूँ। इस एक घंटे में कितना तो आगे बढ़ गयी होती। मौसी का मकान पाँच तल्ले का था। कई गलियों से मुड़ते हुए वहाँ तक पहुँचना होता था। हर बार गली से गुजरते हुए सावधान होना पड़ता था। एक गली छूट जाने का मतलब था लम्बा भटकना या शायद जिंदगी भर भटकना। ऐसा लोग कहते थे। कौन भटका, कब कब भटका? इसका कोई साफ हिसाब किसी के पास नहीं था। लेकिन गलियों में घुसते हुए थोड़ा डर जरूर लगता था। दोनों तरफ के ऊँचे घने मकान अगर जरा सा भी हिले तो लगता था कि सँकरी सी तंग गलियों को ढँक लेंगे। इसलिए डर लगता था। इस डर के पीछे अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने का साहस छिपा हुआ था। मौसी के घर पर यह प्रसिद्ध ज्ञान की तरह बिखरा हुआ था कि पुरानी फिल्मों में इन गलियों को खूब दिखाया गया है, ऐसे लोगों को, जो इन्हीं गलियों में भटक कर जिंदगी भर के लिए नरक में चले गए थे। खासकर लड़कियाँ। वेश्या में बदल गयी तमाम लड़कियाँ, जिनके माँ बाप का हाथ इन गलियों में छूट गया था या छुड़ा दिया गया था, यहीं भटकी थीं और अंततः उन शातिर दिमागों के संपर्क में चली गयी थीं, जो उन्हें नरक की तरफ ले गए थे। हमें कुछ यकीन था, कुछ नहीं था। गलियाँ अपने पतलेपन से ज्यादा अंधेपन के कारण भयावह लगती थीं। वही कारण, जो मैंने अभी बताया कि दोनों तरफ के ऊँचे घने मकान, एक इंच भी जगह खाली नहीं। केवल आगे की तरफ खुलेंगे और पीछे की ओर। ऊँचे इतने कि सूरज की रोशनी भीतर घुसने के लिए रोज उनसे लड़ाई करे। गलियाँ इन मकानों की कैद में थीं। इन मकानों से अलग उनका अपना कोई पानी, हवा या कीचड़ भी नहीं था। सब कुछ इन्हीं की बंदोबस्त था।

मैं रिक्शे से उतर कर जैसे ही गली में मुड़ी, एक सुमंगला चिह्न वाली गाय मेरे पीछे लग ली। वह दायें होती तो मैं बाँयें होती। वह बाँयें होती तो मैं दायें। गली इतनी पतली थी कि गाय के छू जाने से बचना मुश्किल लगता था। इस तरह इस सँकरी जगह में बचते बचाते मैं पाँचवीं गली तक पहुँची। गाय भी पहुँची। मैं गाय से भरसक बचते हुए मौसी के मकान का दरवाजा खटखटाने लगी। गाय रंभायी। पता नहीं किसकी आवाज पर मौसी ने दरवाजा खोला। वे बहुत बूढ़ी लग रही थीं। पिछली बार से भी ज्यादा। चेहरे पर कुछ खालीपन बढ़ा था। शायद एक दो दाँत इधर और टूट गए थे। वे चौंकते हुए आह्लाद के साथ आगे बढ़ीं। मुझे लगा कि जैसे मुझे भेंटने बड़ी हों, पर वे गाय को भेंटने लगीं -“ अरे रे रे रानी...लैह आइड बिट्टो को। पहिचानत रह्यू का? जा, जा, घुम्मा अबहिन।”

गाय को छोड़ कर वे मेरी तरफ बढ़ीं और एकदम गाय वाले अंदाज में बोलीं-“ अरे रे रे ...बिट्टो, कइसे आइड आज? चला, चला, बैठका में।”

उन्होंने प्रेम से मेरा हाथ पकड़ा और दरवाजे से जुड़ी सीढ़ियाँ धीरे धीरे चढ़ते हुए बैठका में आयीं। मैं उनके पीछे उनके पकड़े हुए हाथ से कुछ कुछ दिक्कत के साथ चलते हुए आयी। गले उन्होंने फिर भी मुझे नहीं लगाया। वे मानती थीं कि पढ़ी लिखी लड़कियाँ अब क्या भेंटेंगी?

कभी हम कह दें कि मौसी हम तो आपको भेंटना चाहते हैं तो गजब तरीके से शर्मा उठती थीं। गाल एकदम लाल हो उठते। इतना गहरा शर्माना मैंने उनमें ही देखा, वह भी लड़कियों के संग साथ।

“जीजी कुछ भेजी हैं?” मौसी ने धीरे से पूछा।

मैंने सिर हिला दिया। मौसी उछाह से भर गयीं। वे इधर नाचती सी गयीं, फिर उधर नाचती सी गयीं, फिर पास आ कर बोलीं-“ जानत हउ बिट्टो, हलवाई अब नाहीं है मकान में। छोड़ि गए। एही बदे मिठाई बंद हुइ गई। किराया कुल इहै में पटाइ जात रहा। घर में के के मना किहल जाय? जे देखौ ते मिठाई तौलवा लै। एही बदे। जगहियो कम पड़त रही। अब मौसा जी जहिहैं तो तोताराम के हियां से समोसा लै अहिहैं।” मौसी जब आह्लाद से भर उठतीं तो ठेठ भाषा में चली जातीं।

मैं मुस्करा पड़ी। इसमें मना करना या बोलना बेकार था। अचानक यकीन नहीं होता था कि हलवाई अब नहीं रहा। सदियों से रहता रहा था। कोई मेहमान आ जाए, तो कुछ सोचना नहीं होता था। मिठाइयाँ इसी हलवाई के घर में ही बना करती थीं। दुकान कहीं और थी। शायद बिसेसरगंज चौक पर। या शायद कहीं और। उसका ‘कहीं और होना’ ही मेरी जानकारी में था। पहले जब सबसे नीचे बने तल्ले में हलवाई किराये पर रहता था, तब, हमारे उस बचपन में, हमारी आँखों के सामने किसी भी तल्ले से एक टोकरी, जिसमें एक लिस्ट रखी होती थी, कुएं के जैसे गहरे आँगन में लटका दी जाती थी। लटकी हुई टोकरी झुक कर झाँकने में नहीं आती थी। ज्यादा झुक कर झाँकने पर गिर जाने और फिर गिर कर मर जाने का खतरा था। खतरे से सब, सबको आगाह करते रहते थे। अचानक नीचे से कोई आवाज गूँजती थी और टोकरी धीरे धीरे उपर खींची जाती थी। उपर आती टोकरी में गुलाब जामुन, चमचम, खीर कदम..... वगैरह दिखाई पड़ते। कुएं से मिठाई खींचने का यह अद्भुत अनुभव था। लेकिन यह सबके वश का नहीं था। अभ्यस्त आदमी ही टोकरी सही तरीके से खींच पाता था। हम अभ्यस्त नहीं होते थे। टोकरी हमसे बीच में ही गड़बड़ा जायेगी, यह डर रहता था। अब टोकरी खींचने का वह अवसर हमेशा के लिए लुप्त हो गया था।

“हलवाई चला गया!” मैंने दुखी हो कर कहा।

मौसी मेरे दुख में दुखी नहीं हुईं।

“बँटवारा होइ गवा न। गाजीपुर वाले भाईसाहब भी आइ के यहीं डट गये। लिटायर होइ गये न।” उन्होंने मुझे दुखी न होने का तर्क दिया। मौसी उस पुरानी स्मृति में से इस बात के लिए कुछ छटपटा रही थीं कि मुझे कुछ खिला नहीं पा रही हैं। वे बार बार मौसा जी को कोंच रही थीं कि उठें और जा कर कुछ कुछ ले आएँ। लेकिन मौसा जी मेरे आने का कोई खास नोटिस नहीं ले रहे थे। वे उसी कमरे में एक कोने में पड़ी पुराने जमाने की आराम कुर्सी पर बैठे तम्बाकू बना रहे थे। मेरे पाँव छूने पर ‘खुश रहा’ कह कर फिर तम्बाकू बनाने लगे थे। तम्बाकू बनाते हुए वे एक ही स्थिति में देर तक रुके रह जाते, जैसे कि अँगूठे को हथेली पर रख कर उसे देखते ही रह जाते और भूल जाते कि तम्बाकू बनाना है। ऐसे ही कुछ देर में लोगों की उपस्थिति को भी भूल जाते। मौसा जी कुछ ही देर में मेरे आने को भूल गए थे। मौसी थीं कि भुला नहीं पा रही थीं।

“दामोदर जी रस्ते में भँटाए होंगे?” उन्होंने करुणामय उत्साह के साथ पूछा।

दामोदर जी उनके बड़े लड़के थे और उनके साथ मौसी की करुणा थी और अतिरिक्त स्नेह के कारण हमेशा एक उत्साह भी जुड़ा रहता था। इसी उत्साह के बल पर वे लगातार

दामोदर जी का काम करने में लगी रहती थीं। दामोदर जी मेरी सबसे बड़ी बहन से भी चार साल बड़े थे। इस लिहाज से उनकी उम्र तीस बत्तीस के आस पास थी। मैंने उन्हें एक अरसे से नहीं देखा था।

“कहाँ थे?” मैंने हैरान हो कर पूछा।

“शनि महाराज के तेल चढावै गए रहै। वहीं, मोड़वा पे।”

हाँ, मोड़ पर मैंने उन्हें देखा था। शायद वही थे। अब याद आया। जहाँ से मैं पहली गली में मुड़ी थी, वहाँ सड़क पर ही एक सरकारी नल था। नल के चारों तरफ सीमेंट का एक पतला घेरा बना था। उस घेरे के सब तरफ काई जमी थी। काई घेरे के अंदर भी कहीं कहीं जमी थी। वहीं बगल में सिंदूर से पुते शनि देवता रखे थे। उसी नल के पास की दीवार पर एक तस्वीर भी किसी ने चिपकाई थी। तस्वीर बहुत धुंधली पड़ चुकी थी। मालूम नहीं देता था कि किसकी है? नल अगर खोलो तो पानी के छींटे जरूर शनि देव पर पड़ जायेंगे, ऐसा ख्याल किसी को आया होगा, जिसे आया होगा, उसने पॉलीथिन से शनि देवता को ढका होगा। शायद इससे भी ज्यादा उन्हें बरसात के जल से बचा ले जाने का ख्याल उसे रहा हो। जो भी हो, अब वह पॉलीथिन वहीं एक तरफ चिंगुड़ी मिगुड़ी पड़ी थी। उसका एक कोना अभी भी शनि महाराज के पास के पत्थर से दबा था। दुनिया भर का कूड़ा कचरा उड़ उड़ कर वहीं घेर के किनारे जमा हो गया था। तम्बाकू पाउच अपनी पूरी चमक के साथ वहाँ विराजमान थे। एक आध घेरे के अंदर भी चले गए थे। थोड़ा सा आगे गाय का गोबर पड़ा था। वहीं घेरे के बाहर चप्पल उतार कर एक व्यक्ति, जिसकी घनी काली दाढ़ी थी, नल खोल कर मल मल कर अपना पैर धो रहा था। झुक कर पैर धोने के कारण मैं उसका चेहरा नहीं देख पाई थी। लेकिन पैर के गौर वर्ण पर मेरा ध्यान गया था। शायद वही थे दामोदर जी। शायद पैरों की इस धुलाई के बाद वे शनि देव की तरफ झुके होंगे। मैं आगे बढ़ आई थी।

मैं दामोदर जी को याद करने की कोशिश में थी कि तभी एक दुबली पतली साँवली सी औरत दरवाजे के पास आकर खड़ी हो गयी। उसके हाथ में झाड़ू था। झाड़ू उसने वहीं दरवाजे के पास रख दिया और अपनी धोती में हाथ पोंछती अंदर चली आयी। अंदर आ कर मेरे पाँव के पास जमीन पर बैठ गयी।

“बच्ची कब आयी?” उसने पूछा।

“मुन्ना बो हैं।” मौसी ने मेरे कुछ भी कहने से पहले कहा। मैं चौंक गयी। यही थीं मुन्ना बो! इन्हीं के लिए लड़ी गयी थी लड़ाई! ये इस इतने निरीह तरीके से खटिया के पाँव पर टिक कर बैठी थीं! मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था। मेरी कल्पना में वे एक ऐसी सुन्दरी थीं, जिस पर मौसा जी के बड़े भाई के लड़के मुन्ना जी रीझ गए थे और जाति बाहर हो जाने का खतरा उठा कर भी उन्हें भगा ले गए थे। इस बात को भी लगभग दो साल हो गए होंगे। तब मैं अपने बचपन के दिनों में एक दो बार यहाँ आने के बाद, अब इस शहर में पढ़ने के लिए आयी ही थी।

मौसी ने मुन्ना बो को इशारे से बुलाया। वह खटिया के पाँव पर इस तरह टिक कर बैठी थी, जैसे जमीन में धँस कर बैठी हो।

“हे राम!” कहते हुए बहुत ताकत लगा कर वह उठीं। यह एक दर्दनाक उठना था। उठ कर वह उस रसोई में गयीं, जो इसी बैठका की कुछ जगह घेर कर बनाई गयी थी। मौसी मेरे पास आ गयीं और रसोई से बरतन माँजने की आवाज आने लगी। रसोई में दरवाजा नहीं था। लग नहीं पाया था। अब शायद उसकी जरूरत भी महसूस नहीं की जा रही थी।

मौसा जी अपनी दुनिया में बैठे बैठे उठे और उस बैठका की थोड़ी सी जगह में चहलकदमी करने लगे। चहलकदमी में उनका कोई कदम एकदम रसोई के सामने या उसके भीतर पड़ जाता था। जगह इतनी नहीं थी कि कोई खुल कर चहलकदमी कर ले। मौसा जी जब रसोई की तरफ कदम बढ़ाते तो वहाँ से कुछ पानी जो इधर बह आया था, उनके पैर को भिगोने लगता। इससे वे झल्ला जाते।

“का हो मुन्ना बो, तनि पानी संभार के करा!” वे गुस्सा कर कहते। बँटवारे में यही एक कमरा उनके हिस्से आया था। कभी बैठक के काम आता रहा होगा। अब इसी एक कमरे में कुछ घेर कर रसोई का काम चलता है, दूसरी तरफ कुछ घेर कर सोने का काम। कान्हा तिवारी अपने कसरत के लिए चार छः ईंटा भी एक तरफ जमा किए रहते हैं। इससे बैठका की जगह सिकुड़ कर रह गयी है। उस पर से दो खाट उसमें पड़ी ही रहती है। एक पुश्तैनी आरामकुर्सी भी बँटवारे की देन है। कहते हैं कि मौसा जी उसके लिए अपने भाइयों से लड़ गए थे और सब कुछ कुर्बान कर के भी उसे पाना चाहते थे। अब मिल गयी थी तो उसी पर उनकी और दामोदर जी की दुनिया फैली रहती थी।

तो मुन्ना बो उनकी बात का कोई असर नहीं ले रही थीं। बिना आवाज के उनकी खटर पटर सुनाई पड़ रही थी। शायद उनका काम पूरा होने को था, क्योंकि मौसी उठीं और रसोई में चली गयीं। मैंने देखा वे रोटी पर गुड़ रख कर मुन्ना बो को दे रही थीं। मौसा जी इस बीच रसोई में झाँकने लगे थे। मुन्ना बो के लिए उनके सामने खाना मुश्किल था। वे साड़ी जरा सा सिर पर खींच कर रोटी आँचल में दबा कर एक तरफ खड़ी हो गयीं। मौसा जी के पलटते ही वे तीर की तरह निकलीं और रोटी आँचल में दबाए हुए जाने कहाँ चली गयीं।

“उपरा खाना न मिलल होई। ऐही बदे।” मौसी ने फुसफुसा कर मुझसे कहा।

मेरी सारी कल्पना चकनाचूर हो गयी थी। मुझे हैरानी थी कि मुन्ना जी तो अब कुछ काम धंधा भी शुरू किए थे? फिर ये इस हालत में क्यों थीं?

“कहाँ चलत है दुकनिया? पहले चलत रही। अब तो ढेरन खुल गयी हैं।”

फोटोस्टेट की दुकान थी। उसी में मेज पर फोन रख कर एस.टी.डी. बूथ भी चलाया जा रहा था। शुरू में चला भी, पर अब तो हर हाथ में मोबाइल हो गया था। इस तरफ फोटोस्टेट कराने वाले भी कम थे। या शायद इसका एक और पहलू भी था। जब दुकान पर कोई आता तो प्रायः ही मुन्ना जी अप्राप्य की स्थिति में होते या उपस्थित होते और स्थितप्रज्ञ की भूमिका में जा चुके होते या इससे भी अलग उपस्थित होते और अपने ही मोबाइल पर कोई खेल खेल रहे होते। इस तरह प्रायः वे होते हुए भी नहीं होते। आने वाला ग्राहक एक दो चक्कर के बाद नहीं आता। अगल बगल बहुत सी ऐसी दुकानें खुल गयी थीं और बहुत सी खुलने को थीं। एक नौकर मुन्ना जी ने रखा था। नौकर जी लगा कर काम कर रहा था। दो तीन महीने उसने इंतजार भी किया मगर मालिक ने उस पर ध्यान न दिया, तब एक शाम वह ढेर सारा फोटोस्टेट का कागज रिक्शे पर लदवा कर कहीं चला गया। तब से उसका आज तक कुछ पता नहीं चला। किसी ने ढूँढने की जहमत भी नहीं उठाई। पुलिस तक के पास कोई नहीं गया। मुन्ना जी टाल गए। अपने बाबू पर चिल्ला उठे कि ‘बिजनेस के बारे में कुछ न जनबा, बकिर बोलबा जरूर। हानि लाभ बिजनेस में लगा रहता है।’ पता नहीं क्या सोच कर उनके बाबू गाली बक बक कर रह गए। हाथ उठाते तो भी कोई बीच में न पड़ता। मौसी ने इसे आकाश पाताल की तरह विस्तृत कर के बताया। मेरे सामने एक एक दृश्य बनने लगा।

“चाय तो पियबू?”

मौसी अचानक सारे दृश्यों में से छलांग लगा कर बाहर आ गई। मैं उसी में कुछ देर हैरान परेशान निकलने की कोशिश करती रही। फिर आखिर तब निकल गई जब मौसी चाय ले आई। फिर एकदम मेरे पास आ कर उन्होंने लगभग फुसफुसाते हुए कहा-“ मुन्ना जी का कौनो ध्यान इन पे न है। खाली अपने मतलब बदे...।” मौसी रुक गयीं। ‘दुकान के बदे’ वे कहना चाहती थीं। पर शब्द बदल ले गयीं। मौसा जी वापस अपनी जगह पर यानी उसी आराम कुर्सी पर बैठ गए थे और तम्बाकू मलते हुए किसी दूसरी दुनिया की तरफ निकल गए थे। तब मैंने झट से सौ रूपये निकाल कर मौसी के हाथ में रख दिया। मौसी ने मुड़ कर मौसा जी की ओर देखा और इस बात से आश्वस्त हो कर कि वे इस दुनिया में फिलहाल नहीं थे, रूपये झट से अपने ब्लाउज में खोंस लिए। तब दामोदर जी लौटे। बड़ी हुई दाढ़ी मूँछ में ढँका ढँका चेहरा लिए। धोती पहने थे और बदन पर लाल अँगोछा डाले थे। बिना मेरे ‘प्रणाम’ का उच्चारण किए ‘खुश रहा’ बोल कर बैठ गए।

“भइया कोई दूसरा काम शुरू किए हैं?” मैंने यह पूछा। माँ ने विशेष रूप से यह पूछ लेने को कहा था। दामोदर जी का काम छूटता लगता था। एकदम उनके पिता की तरह। आजिज आ कर उनके पिता ने हमेशा के लिए काम करना छोड़ दिया था। दामोदर जी अभी लगे हुए थे। ऐसा हम सब मानते थे।

“अब कौनो काम रहा ही नहीं। सब तरह का काम कर के हम देख लिए। अब इस दुनिया में हमारे लिए काम नहीं बचा है।” बहुत तटस्थ भाव से दामोदर जी ने कहा।

“शनि देव जो करें। प्रसन्न होंगे तो कुछ होगा। अबकी कुछ पैसा इकट्ठा हुआ तो उन्हें अन्न वस्त्र दूंगा।” कुछ रुक कर उन्होंने कहा।

“इनकर मन पूजा पाठ में रम गवा है बिट्टो।” मौसी ने कुछ श्रद्धा भाव से कहा।

भइया ने कुछ और कहा था। उनके लिए अब इस दुनिया में काम नहीं रह गया था। तिस पर पैसा वे शनि देव के लिए इकट्ठा करना चाहते थे। वे छत्तीस प्रकार का काम कर चुके थे। जैसे जैसे काम का प्रकार बढ़ता गया था, उनका पूजा पाठ भी बढ़ता गया था। घंटो मगन हो कर वे हनुमान जी के आगे शीश नवाए खड़े रह सकते थे। माला फेरते घंटो बीत जाते थे। इस तरह वे अपने भाव लोक में बढ़ते जा रहे थे।

बैंड, बाजा, बारात

मुन्ना जी सीढ़ियों से उतर रहे थे और मैं सीढ़ियाँ चढ़ रही थी। तभी उनसे मेरी मुलाकात हुई थी। एकदम खड़ी चढ़ाई वाली ऊँची ऊँची सीढ़ियाँ थीं। दोनों तरफ बंद दीवार थी। ऐसा लगता था जैसे सुरंग में सीढ़ियाँ हों और वे जब बाहर खुलेंगी तो प्रकाश से सामना हो जाएगा। ऐसा लगने वाला प्रकाश तो सीढ़ियाँ चढ़ जाने पर भी नहीं मिलता था। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि प्रकाश बिल्कुल नहीं था। हर मंजिल पर सीढ़ियों के साथ लगे छोटे से बारामदे और छोटे से आँगन से प्रकाश सीढ़ियों पर हल्का हल्का, कहीं कहीं गिरता था। आँगन कुएँ की तरह गहरा था। उस तक धूप का चले आना आसान नहीं था। इन खड़ी और अँधेरी सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आदमी सीढ़ियों को ज्यादा देखता था, उतरते हुए आदमी को कम। इसी में मुन्ना जी उतरते हुए रुक गए थे। उन्होंने सीटी बजा कर कोई धुन निकाली, फिर तमक कर बोले-“का बिट्टो, तनी देख के चलौ।” और आखिरी शब्द तक आते आते मेरा हाथ पकड़ कर मरोड़ दिया था। यह अचानक का आक्रमण था। इसलिए हाथ खुड़ा कर मैंने चिल्ला कर कहा-“ मुन्ना भइया!” मुन्ना जी ने इस चिल्लाने की परवाह नहीं की और अपने पुराने लहजे

में ही बोले-“चुप! बड़की नाजुक बनी हैं!” फिर वे उन्हीं भुतही, सीधी, ऊँची सीढ़ियों पर उतर कर अंतर्धान हो गए। मैं गुस्से में बाँह सहलाती सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। पछताते हुए भी कि इस एक क्षण में जरा सा चूक गयी नहीं तो इन्हीं सीढ़ियों पर ढकेल देती बच्चू को। पर क्षण बीत चुका था। पछतावा नहीं बीता था।

यह मुन्ना जी से मेरी दूसरी मुलाकात थी। पहली तब हुई थी, जब मौसा के बैठका में वे अचानक घुस आए थे-“ चाची, आज हम उपर न खायेंगे। मार डरिहैं सब हम्मैं।” वे नाराज थे। तभी पता चला था कि वे मौसा जी के सबसे बड़े भाई के लड़के हैं और उनकी ख्याति मुन्ना जी के नाम से है।

“मुन्ना जी हैं बच्ची, मुन्ना जी हैं।” मौसा ने ऐसे बताया था मानो मुन्ना जी कोई महान व्यक्ति हों। लेकिन मुन्ना जी ने मुझे काटती हुई ऐसी नजरों से घूरा, जैसे मैं कोई खल पात्र हूँ और कहानी में अचानक घुस कर उन्हें इस गुस्से की मुद्रा और मैला कुचैला पैजामा पहने देख ली हूँ। इसके बाद वे फौरन बाहर चले गए थे। बैठका से बाहर पतला छोटा सा बारामदा था, वही जो सीढ़ियों से जुड़ा था। उसी बारामदे में एक तिपाई खींच कर मुन्ना जी बैठ गए थे। तभी एक और शख्स का प्रवेश हुआ। वे मौसा जी के मझले लड़के थे। कान्हा तिवारी। वे भी अपने में मगन से घुसे थे और मुझे देख कर जरा सा हिचकिचाए थे। फिर अपनी रौ में लौट आए थे। कुछ देर बाद उन्होंने एक छोटी सी पिस्तौल निकाल कर मेरे सामने खाट पर रख दी।

“अच्छा तो आजकल ये कर रहे हैं?” यह मैंने अचरज से पूछा। वे उत्साहित हो उठे।

“देसी कट्टा। किसी का काम किए रहे। उसी से लिए। रहेगा तो सौ काम करेंगे। सुनौ मम्मी, तुहूँ सुनौ! एक तरफ पिस्तौल रखा, दूसरी तरफ रूपया। तेरह सौ रूपये की बात थी। मैंने पिस्तौल उठा ली। तेरह सौ रूपये में पिस्तौल कहाँ मिली?”

मैं विस्मय से उन्हें देख रही थी। नाटे कद के हैं। कहते हैं कि बड़े छुटपन से ईंटे उठा उठा कर कसरत करने लग गए थे तो इनकी ऊँचाई रुक गयी। पता नहीं इसमें कितना सच था!

“पैसा उठउता तो ज्यादा अच्छा रहत। देखत नाहीं हउवा अपने बाप के! कथ्यू करम के नाहीं रहि गए।” मौसा ने जरा सा गर्व मिले दुख से कहा।

“क्या मम्मी, तुहूँ! पैसा कै दिन चलत? हाथ चली सालों साल। तेरह सौ रूपया का मलाल जिन करा। लावा, हमहू बदे चाय लावा।”

मौसा ने एक कप और चाय छानी लेकिन उनके चेहरे से तेरह सौ निकल जाने का दुख धुला नहीं।

“क्या काम करवाया था?”

“अरे बिट्टो बहिन जी, उ क्या था कि एक आदमी का माल फँसा था, साला दे नहीं रहा था। गए चार जने ले के, पिल पड़े। निकलवाया। बात चार हजार से चल के तेरह सौ पे टूटी। बकिर साले ने बंदूक रख दी। तेरह सौ लो चाहे बंदूक लो।”

“का दुनाली बंदूकौ रखी?” मौसा ने बीच में टोक कर पूछा।

“अरे मम्मी, समझा करौ। इहै, तमंचा। तमंचा की बात करत हई।”

“चला एक ठो काम तो पकड़ला।” अचानक कहीं दूर से आती हुई सी मौसा जी की आवाज सुनाई पड़ी। तो क्या इतनी देर से मौसा जी सब सुन रहे थे? वे किसी दूसरी दुनिया में जा कर भी इस दुनिया के सिगनल पकड़ रहे थे।

“जय गोविंद खिला रहे हैं?” अचानक कान्हा तिवारी ने मुन्ना जी को आवाज दी और मेरी तरफ मुखातिब हो कर बोले-“ मुन्ना जी दुकान खोले हैं। ऐही बदे।”

“मिठाई की?” मैंने चौंक कर पूछा।

“नहीं रे, एस. टी. डी. बूथ।”

“इसी से बौखलाए रहते हैं।” मौसा जी ने पुनः सिगनल कैच किया।

“अच्छा! बधाई भइया!” मैंने तत्काल बधाई कह दिया।

“क्या करें बहिन जी? सब्बन पीछे पड़े हैं हमारे। उपरा मार हुई है। महाभारत मचा है सुबहिहें से।” दहाड़ते हुए से मुन्ना जी उठे और अपने बौखलाने का कारण स्पष्ट करने अंदर चले आए। उस समय वे भूल गए कि मैला कुचैला पैजामा पहने हैं।

“ऐसी मुसीबत में फँस गए हैं कि क्या करें? तुम बताओ, अब हम कमाने लगे हैं, तब कुछ निर्णय कर सकते हैं कि नहीं?” वे समझाने की मुद्रा में बैठ गए। तब उनका ध्यान तमंचा पर पड़ा। आह्लादकारी सिहरन से भर कर उन्होंने तमंचा को छूआ और आँखों में प्रशंसा भर कर कहा-“हूँ... तो गुरु!” उनके छू चुकने के बाद उसी प्रशंसा के भाव से कान्हा तिवारी ने तमंचा उठा कर अपनी बुशर्ट के भीतर डाल लिया।

“तो बिट्टो बहिन जी, आपकी जानकारी के लिए बता दें कि आज मुन्ना जी खुद ही महाभारत खड़ा किए। क्या हुआ कि सुबहिहें मत्स्य कन्या को ले के दिखावै आइ गए। केहू सहन करी हियां? बतावा?”

“मतलब?” मैं हैरान हुई।

“मने कि प्रेम विवाह की तैयारी और क्या?”

“तुम इनवरसीटी में पढ़ती हो बिट्टो, बताओ कि हम कैसे गलत कह रहे हैं? आज के जमाने में कौन मानता है यह सब?” मुन्ना जी ने मुझसे समर्थन की इच्छा से कहा। मुन्ना जी की यह बात मुझे भीतर तक छू गयी। कहीं कुछ बहुत तरल मेरे भीतर उमड़ने लगा। यह बीते दिनों में देखे गए स्वप्न की तरह था। मैं बहुत बहुत सहमत हो आयी। कहीं मैं मुन्ना जी की हाँ में हाँ न मिला दूँ, मौसी अपने रसोई के चौखटे से दौड़ कर उठीं।

“कहारिन है बिट्टो। समझाओ, बच के रहें। अब तक तिवारी खानदान में कोई कहारिन न लाया है। लड़कियाँ मर गई हैं क्या बाभनों में? हजार लड़कियाँ हैं, एक गयी तो सौ मिलिहें। बोलौ!”

मौसी क्या कह रही थीं ? एक जाएगी तो सौ मिलेगी, सामान हैं क्या लड़कियाँ? और प्रेम का कोई अर्थ नहीं है? इस बात पर मैं मुन्ना जी की तरफ थी। ‘प्रेम न देखे जात कुजात’ मैंने धीरे से कहा। मौसी भड़क गयीं-“ बिगड़ रही हो बिट्टो तुमहूँ। जीजी से कहब हियां न पढ़ावें। यही सीखत हई हियां रह कर!”

“असल बात तो इ है कि दुकनिया ओके बाप की है। वही में किराये पे दुकान खोले हैं। नजर दुकनिया पे है कि मेहरारू पे?” मौसा जी उठ कर खड़े हो गए। दीवार के मुक्के से अपनी चुनौटी की डिबिया निकालने लगे।

“कुछो बोल जाते हैं।” गुस्सा कर मुन्ना जी ने कहा।

तो यह मेरी पहली मुलाकात थी मुन्ना जी से। इसी के बहुत दिन बाद मुन्ना जी सीढ़ियों पर चढ़ते उतरते टकराए थे। मैं उपर पहुँची तो पता चला कि कान्हा और मौसी नहीं हैं। दामोदर जी एक कोने में पड़ी बँटवारे में मिली पुराने जमाने की आराम कुर्सी पर बैठे माला फेर रहे थे। मौसा जी खिड़की के पास खड़े हो कर चुनौटी से चूने का आखिरी अंश भी पोंछ

डालने पर लगे थे। मैंने दोनों को प्रणाम किया तो दोनों ने एकदम एक भाव से कहा-“हाँ, हाँ” और कहीं अनंत में डूब गए। यह रविवार की सुबह का समय था। मैं ऐसे ही किसी छुट्टी के दिन आ पाती थी। तभी मौसी उपर के किसी तल्ले से उतरती आई और मुझे पुचकार कर पूछने लगीं कि कब आयी? घर में सब कैसा है? आदि आदि। फिर खुश हो कर दामोदर जी से बोलीं-“ तनि टोकरी लटकावौ!” लेकिन दामोदर जी अपने अनंत जगत से नहीं लौटे।

“सब लोग टोकरी लटका लटका के अपने अपने घर में मिठाई ले लेते हैं। हमारे यहाँ कोई आ जाए तब भी नहीं हो पाता। नालायक हैं न सब। किराए का हमारे हिस्से क्या आता है। मिठाई भी नहीं।” इस भाव को व्यक्त करती मौसी खुद ही टोकरी लटकाने चली गयीं। इतने में उपर से मुन्ना जी की छोटी बहन ननकी इठलाती हुई आयी और दामोदर जी के सामने खड़े हो कर कहने लगी-“ भइया, कहीं मुन्ना जी को देखे हैं? मम्मी परेशान हैं। कल से ही उनका पता नहीं।” उसने झुंझला कर दुबारा दोहराया लेकिन तब भी दामोदर जी अपनी अनंत लोक की यात्रा से पृथ्वी पर नहीं आ सके। तब गुस्सा कर उसने कहा-“ सधुआ गए हैं तो घर में किस लिए पड़े हैं? सबका मूड़ खराब करेंगे, बस!”

मैं उसकी बात सुन कर चकरा गयी। बस अभी अभी तो मुन्ना जी मुझसे सीढ़ियों पर टकराए थे।

“अभी तो मुझे सीढ़ियों पर मिले थे।” मैंने हैरानी से कहा।

“अभी? वो कैसे? बप्पा रे! अब समझी मने कि अबहिहैं ये चिट्ठा डाल के गए हैं।”

“कैसी चिट्ठी?”

“अरे वही, जो लोग घर छोड़ के जाते समय लिखते हैं। वही। मैं समझ गयी सामान लेने आए होंगे।” उसने इतनी लापरवाही से कहा कि लगा ही नहीं कि उसकी माँ चिंतित हैं या इस बात में चिंता का कोई तत्व हो सकता है!

“लेकिन हाथ में सामान तो नहीं था।” मैंने संशोधित करने की कोशिश किया।

“रहा होगा। कोई कीमती छोटा सामान होगा, आपको पता नहीं चला होगा।” उसने तटस्थ हो कर कहा।

मुझे और भी हैरानी हुई। घर छोड़ के जाने वाला आदमी इस तरह सीटी बजाते, दूसरों का हाथ मरोड़ते जाता है क्या? मुन्ना जी ऐसे ही गए थे।

“कहत रहे न कि कुछ न कुछ सुराग होई जरूर।” मौसी ने उत्साह से कहा। उनका कहा सच निकला था।

“चिट्ठी में क्या लिखे हैं?”

“वही, जो रोज बक्कत रहे।” ननकी ने बिना दुख के कहा।

“लौट अइहैं दो चार रोज में।” दामोदर जी ने हाथ की माला फेरते हुए एकदम शांति से कहा।

इतने में आँधी तूफान की तरह कान्हा तिवारी उपर के किसी तल्ले से उतरते आए और उसी पतले से बारामदे में पहुँच कर, कमर पर हाथ रख कर चिल्लाए-“मुन्ना जी तो लै गए बैड, बाजा, बारात!” उनके चिल्लाने में उछाह था। उनके पीछे पीछे उसी तेजी से सात आठ आदमी उतरे।

“ऐ गिरधारी!” उन लोगों ने मौसा जी का नाम ले कर पुकारा।

“चलो सबन। नाहीं तो गजब होइ जइहैं।” उसमें कुछ लोग धोती कुर्ता पहने थे और एक दो लोग पैंट शर्ट पहने थे। जो सबसे पीछे उतरे वे पैजामा कुर्ता डाले थे। उनके पीछे

घर के कुछ जवान लड़के उतरे। उनमें से कितने ही लड़कों को मैं पहली बार देख रही थी। ये सब लोग मौसा जी के भाई और उनके परिवार के लोग थे जो मुन्ना जी को गजब कर डालने से रोकने के लिए निकल पड़े थे।

मौसा जी ने पेंट बुशर्ट पहनी थी और कंधे पर एक लाल बनारसी अंगोछा डाले थे। बड़ी देर से चुनौटी से चूना निकाल रहे थे। एकदम से हरकत में आ गए। लहक कर पीछे भागे। दामोदर जी एकदम से उठे और दरवाजे तक जा कर फटी आँखों से खड़े खड़े पिता की तेजी को देखते रह गए।

खामोशी थी, आवाज का किरदार था

(आत्मकथा - 2)

माँ को फॉलो करना मुश्किल काम था। पिता जी को फॉलो करना आसान था। पिता जी फक्कड़ई करते थे। शुरू में वे किसी दफ्तर में क्लर्क थे, लोग यह भूल चुके थे। उनके घर का मुकदमा कई पीढ़ियों से चल रहा था। जिनके साथ मुकदमा चल रहा था, उनसे कभी आमना सामना होने पर लड़ाई भी होती रहती थी। वे सुलह समझौते की बजाय लड़ने के विकल्प की तरफ चले जाते थे। झगड़ा फौजदारी तक चला जाता था। पुलिस, दरोगा से ले कर कोर्ट कचहरी सब होता रहता था। इस सब में पिता जी अपनी नौकरी कई बार खो चुके थे। किसी के लिए भी यह याद रखने लायक बात नहीं थी कि वे अब तक कितनी बार नौकरी का खोना पाना कर चुके थे। हर बार एक नई नौकरी के साथ जीवन शुरू करते। संकल्प धरते कि सब एकदम ठीक चलायेंगे, लेकिन अधराह में ही कुछ न कुछ गड़बड़ा जाता। बार बार नौकरी खोने और दुबारा पाने के बीच का अंतराल कैसा होता था, इसे माँ जानती रही होंगी। शायद इसीलिए घर के बजट में बहुत ज्यादा कटौती करती रहतीं। सब्जी में इतना पानी डालतीं कि दोनों वक्त पानी से रोटी खाई जा सके। सब्जी का पानी पौष्टिक पानी था, यह माँ ने सब बच्चों को समझा दिया था। बचत की भावना इस हद तक कूट कूट कर भरी थी कि अगर रूटीन से हट कर कहीं खर्च हो जाता तो बड़ी गिल्ट महसूस होती। एक बार मैंने हाईस्कूल की परीक्षा देने के बाद कुछ सहेलियों के साथ एक ग्रुप फोटो खिंचवाया था। फोटो की एक एक कॉपी सबने ली थी। मेरा भी बड़ा मन था। मैंने भी एक कॉपी ले ली। इस एक कॉपी लेने के पैसे लगे थे। माँ ने तब पैसे जिस भाव से निकाल कर दिए थे, वह कांटेदार अहसास आज तक मुझे चुभता था। लेकिन अब वे पैसे लौटा देना बेकार था। लौटाने से उनके रुक जाने या माँ के खजाने को बढ़ा देने की गुंजाइश अब नहीं रह गयी थी। बहुत संभव था कि वे तुरंत खर्च हो जाते। तिस पर बड़ी बात यह थी कि उन्हें इसकी याद भी नहीं थी कि उन्होंने कोई गिल्ट हमारे भीतर डाल दिया था, जिससे मुक्ति का मार्ग हम तलाश रहे थे।

लड़कियों की पढ़ाई पर माँ का कोई विश्वास नहीं रह गया था। वे पढ़ी लिखी थीं और यह उनके अपने जीवन अनुभव से निकल कर आया विचार था। पढ़ाई के नाम पर वे बड़े धैर्य के साथ कहतीं—“ पढ़ कर क्या होगा? मैं पढ़ कर क्या कर रही हूँ? और बेहतर बरतन माँजोगी? और बेहतर घर ठीक करोगी? सिलाई बुनाई कर लोगी? सोडा सर्फ का अंतर जान जाओगी? इतने के लिए ऊँची पढ़ाई की क्या जरूरत? मन करता है कि अपनी डिग्री चूल्हे में जला दूँ। किसी काम की नहीं।”

यह माँ का सोचना था।

हमारा सोचना नहीं था।

उनका मन फटा हुआ था। यह हम उनके बार बार कहने से जान गए थे। वे अपने गाँव की पहली ग्रेजुएट लड़की थीं। गाँव में इस बात का अभी भी नाम था। लेकिन इस नाम का उन्हें कोई फायदा नहीं हुआ था। हर बात पर पिता जी कह देते थे-“ क्या फायदा पढ़ी लिखी लड़की से शादी करने का?”

पिता जी पढ़ी लिखी लड़की से शादी का पूरा फायदा लेना चाहते थे। इसलिए उन्हें नौकरी पकड़ लेने पर जोर देते थे। माँ ने सोचा होगा कि इनका कौन भरोसा? कब न नौकरी छोड़ बैठें! इसलिए उन्हें अपनी इन्हीं डिग्रियों का कुछ फायदा ले लेना चाहिए। लेकिन उनके हिस्से कोई बड़ी और ताकतवर नौकरी नहीं आ पाई। सरकारी प्राइमरी पाठशाला की नौकरी मिली। वे पढ़ाई के साथ कुछ बड़ा जोड़ कर देखती थीं। खासकर अपनी पढ़ाई के साथ। क्योंकि वे अपने गाँव की पहली ग्रेजुएट थीं और पता नहीं कोई उनसे यह अपेक्षा रखता था कि नहीं, पर वे अपने आप से, समाज में खास तरह के पोजीशन की अपेक्षा रखती थीं। मगर अपने गाँव की पहली ग्रेजुएट होने के बावजूद उन्हें यह पोजीशन वाला पद नहीं मिला था। इसलिए इस मिल गयी नौकरी में उनका मन नहीं लगता था। यह उन्हें अपनी पढ़ाई के लिहाज से तुच्छ लगती थी। उपर से इस नौकरी के मिल जाने के बाद भी घर में उनकी हैसियत एकदम से बढ़ती हुई नहीं दिख रही थी। पैसा भी उनके हाथ में नहीं रह पाता था। हरदम हिसाब देने की तलवार लटका करती थी। अपने ही पैसे छिपा लेने का उन्हें गहरा क्षोभ होता रहता था। छिपा कर पचास सौ रुपये मौसी को भेज देने का क्षोभ भी गहरा था। कमा कर लाने पर भी घर का खर्च ठीक से न चल पाने का भी क्षोभ गहरा था। वे इस गहराई में तैरती अपनी पढ़ाई और नौकरी दोनों से क्षुब्ध बनी रहती थीं।

अब उन्हें यह कौन समझाये कि उनका वक्त था तो उन्हें आसानी से उनके ग्रेजुएट होने का फायदा मिल गया था। एक अदद सरकारी नौकरी मिली थी। आज वह भी कितना मुश्किल हुआ था। अबल तो खाली ग्रेजुएट को कोई किसी लायक समझता ही न था। पढ़ाने लायक तो बिल्कुल नहीं। चाहे प्राइमरी के बच्चों को पढ़ाना हो! इसी नौकरी के लिए लोग रुपये पैसे ले कर खड़े थे, तब भी उन्हें किसी ताकतवर सोर्स की दरकार बनी हुई थी। इसी नौकरी के लिए मेरी बड़ी बहन हाथ पाँव मार रही थीं। मैं इसी को पा लेने को विकल थी। और मेरी माँ थीं कि इसे ही हेय दृष्टि से देख रही थीं। अपने लिए देख रही थीं, हमारे लिए नहीं। हमारे लिए यह उपयुक्त ही थी। हम अपने शहर के पहले ग्रेजुएट नहीं थे। फिर भी वे नौकरी किए जा रही थीं।

नौकरी नापसंदगी के चलते नहीं छोड़ी जा सकती थी।

इस गहन जरूरत के बावजूद उन्हें अनिवार्य रूप से अपनी तनखाह ला कर हर महीने पिता जी के सामने स्टूल पर रखनी पड़ती थी। शायद पहले, जब हम कुछ छोटे थे, तब उन्हें तनखाह रख कर चरण भी छूना पड़ता था। बाद में हम बहनों के बार बार टोकने पर माँ ने चरण छू कर आशीर्वाद लेना बंद कर दिया। इससे भी पहले उन्हें दादी के चरण के पास रूपया रख कर पाँवलगी कर के आशीर्वाद लेना पड़ता था। दादी उन्हें 'पुत्रवती' होने को अशीषतीं, लेकिन आशीर्वाद लगता नहीं। आशीर्वाद लगने की प्रतीक्षा जरूर होती। इस प्रतीक्षा में लड़कियों के पैदा होने की सूची लम्बी होती चली गयी। पाँच लड़कियाँ पैदा हो गयीं। छठी हो कर मर गयी। पर आशीर्वाद लगने की प्रतीक्षा न दादी के लिए धूमिल हुई न पिता जी के लिए। माँ के लिए जरूर यह व्यर्थ हो गयी।

जब दादी के चरणों पर रूपया चढ़ा दिया जाता और आशीर्वाद की रस्म पूरी हो जाती, तब दादी पुकारतीं-“ बबुआ!” पिता जी इतने में समझ जाते। आ कर रूपये ले जाते। दादी के नहीं रहने पर पूरी तरह यह जिम्मेदारी उन्हीं पर आ गयी। पहले की तरह ही अगले दिन वे चार रूपये माँ को देते-“ रिक्शे का किराया रोज माँग लेना!”

माँ चार रूपये नहीं लेतीं। तमतमा कर चल देतीं। जा कर रसोई में बरतन उठाने पटकने लगतीं। पिता जी डॉट कर कहते-“ किसी और से माँगने जाओगी रूपया? जाओ! चमड़ी उतार के रूपया देगा।”

“दूसरे का रूपया तो नहीं माँगती? अपना ही माँगती हूँ तो नहीं देते। कौन सा अपना पेट भर लूंगी? एक टेबुल खरीदनी है। कोई घर आ जाए तो अच्छा नहीं लगता।” माँ बड़बड़ाती जातीं और बरतन घिसती जातीं। पिता जी माँ का बड़बड़ाना सुन कर टालते जाते। बाहर अपने मित्रों से कहते-“ कमाने भेजो, तो औरत हाथ से निकलने लगती है। रात दिन चिक चिक मचाती है। साला, रूपया न लाई, जेवरात लाई है ! घर की जरूरत न होती तो कौन भेजता?”

पिता जी गुस्सैल थे। गुस्सा भी कैसा? न्याय अन्याय पर जमाने भर से लड़ जाते थे, अपनी नौकरी तक की भी परवाह नहीं करते थे। माँ बड़बड़ातीं तो वे टालते थे, पर जब बहुत ज्यादा बड़बड़ातीं तो कभी कभी आपा खो देते थे और चार छः झापड़ आसानी से मार देते थे। तरह तरह की धमकियाँ देते। माँ युद्ध में भाग लेने की बजाय रोने लगतीं। यह हमें अच्छा नहीं लगता। एक आदमी मारे और दूसरा पिटते हुए रोये, चिल्लाए, यह एक सही दृश्य नहीं था। यह हमारा आदर्श दृश्य नहीं हो सकता था। इसी का परिणाम था कि जब शादी के कुछ समय बाद ही मेरी बड़ी बहन पर उनके पति ने हाथ उठाय तो वे एकदम आपा खो बैठीं। उस मारने वाले हाथ को वे तोड़ कर, मोड़ कर फेंक देना चाहने लगीं। लेकिन तोड़ कर रह गयीं, फेंक नहीं पायीं। इसका अफसोस उन्हें आज तक था। माँ को दूसरा अफसोस आज तक था कि वे युद्ध का बिगुल बजा कर अपनी ससुराल से भाग आयी थीं, लड़ कर शहीद नहीं हुई थीं। जब कि बड़ी बहन इसका उलट सोचती थीं। वे कहती थीं कि वे आयीं अपना पक्ष मजबूत करने। अपने लोगों का समर्थन पाने और अपनी सेना तैयार करने के लिए। यहीं वे चूक गयी थीं। उनके लोग, उनके युद्ध में शामिल होने से कतरा गए थे। माँ से उम्मीद वैसे भी नहीं की जा सकती थी। वे अपने ही युद्ध में हारी हुई थीं। युद्ध में जीत गयी लड़कियों के बारे में हमें बिल्कुल पता नहीं था। वे कहाँ रहती थीं? क्या खाती थीं? किससे पूछा जाए? आस पास तो बस हारने हारने को होती लड़ाइयाँ थीं और कुछ डरावनी कहानियाँ थीं।

तो पिता की दबंगई हमें बहुत अच्छी लगती थी। उनकी मस्ती भी उतनी ही अच्छी लगती थी। मैं मन ही मन अपने लिए पिता वाला व्यवहार चुनना चाहती थी। पर माँ ऐसा करने के बीच जबरदस्त तरीके से आड़े आती थीं। वे नहीं चाहती थीं कि हम पिता जैसे बन जाएं। हम नहीं चाहते थे कि हम माँ जैसे बन जाएं।

यही द्वंद्व था।

इसी के बीच हम थे।

कभी दबंगई कर के लड़ जाते थे, कभी धैर्य रख कर सह जाते थे।

मैं ससुराल से भाग आयी थी। हालाँकि मुझसे पहले मेरी बड़ी बहन अपने ससुराल से भाग कर आ चुकी थीं। मैं उन्हीं की तरह माँ के जीवन को दुहराना नहीं चाहती थी। मैं अपने शहर की पहली ग्रेजुएट लड़की भी नहीं थी। मैं तो सिर्फ इंटरमीडिएट पास थी। लौट कर मैं पिता जी से लड़ पड़ी थी। लड़ी थी आगे पढ़ने के लिए। लेकिन पिता को लगा था कि मेरी

लड़की में खोट है। झगड़ालू है। इसलिए भगा दी गयी है। लड़की खुद ही भाग आए, यह पिता जी ने बड़ी बहन के संदर्भ में भी स्वीकार नहीं किया था। इसलिए उन्होंने उम्मीद से भर कर कहा-“ पढ़ो आगे। नौकरी ही कहीं लग गयी तो उन लोगों को फायदे का कुछ लालच हो जाएगा।”

पिता जी ने एकदम दूसरी तरह सोचा था। पर मैंने इसमें से ‘पढ़ो आगे’ को ही पकड़ा और जिद कर के पास के इस शहर चली आयी थी।

“कमा रही थी तो अपना पैसा ले कर भाग क्यों न गयी?” मैंने गुस्सा कर माँ से कहा था।

“भाग कर आदमी कहाँ तक जा सकता है?” माँ ने निराशा से कहा था।

“निकलने से कहीं तक तो जाएगा।” मैंने और गुस्सा कर कहा।

इस पर माँ के आगे भय का पूरा संसार खुल गया। वे लगीं बताने-“ भागने से लड़कियाँ कहाँ कहाँ पहुँच जाती हैं। बिसेसरगंज की गलियों में जो लड़कियाँ गुम हो गयी थीं, वे भी कहाँ पहुँचीं? जिंदगी नरक है। बाहर के नरक से अंदर का नरक ठीक है। अंदर के नरक में एक की मार है, बाहर के नरक में मार ही मार है।....”

मैं इस बात से डरने की बजाय उब गयी। उब कर मैंने कहा-“ कमाता हुआ आदमी भागे तो बात कुछ और होगी।”

माँ की व्याख्यानमाला इस पर रुकने की बजाय और तेज हो गयी -“ कमाओ या न कमाओ, पैसा तो वही लोग रख लेंगे, जिसके कब्जे में पहुँच जाओ। धन पर औरत का अधिकार कहाँ रहने देते हैं? कमाने वाले का पैसा भी निकलवा लेंगे और देह भी। तुम्हें क्या पता बिट्टो! ये दुनिया किस कदर जालिम है। अभी तुमने देखा ही क्या है? मौज से पढ़ रही हो।”

इस पर मैं भड़क गयी। मैं कोई मौज से नहीं पढ़ रही थी।

“पहले भागो, तब व्याख्यान दो, तभी कोई भरोसा करेगा।” मैंने सोचा था कि यह जहरबुझा तीर उन्हें कुछ निरूत्तर करेगा। लेकिन वे बस एक मिनट के लिए चुप हुईं, फिर अपनी बात मोड़ कर मेरा तीर मुझे लौटाते हुए बोलीं-“ तुम भाग कर कहाँ गयी बिट्टो? यहीं तो आयी। कहाँ जाती? लड़कियों के लिए कोई जगह नहीं है। हमारे जमाने में तो यह भी मयस्सर नहीं था।”

“मैं कमाऊँगी तो यहाँ नहीं रहूँगी। भाग कर कहीं और चली जाऊँगी। तब देखना।” मैंने तन कर कहा।

“देखूँगी, देखूँगी। मरूँगी नहीं तब तक।” बेहद खामोशी के भीतर से माँ की यह आवाज आयी थी। इसने मुझे चौंका दिया था। इस निराशा के भीतर उम्मीद छिपी थी कि शायद ऐसा दिन आ ही जाए, जब मैं कमाने लगूँ और कमाते हुए कहीं भाग जाऊँ, जिससे मेरे खाने पहनने की चिंता माँ को न रह जाए और यह भी न रहे कि कोई मारता पीटता होगा, भूखे पेट सोना पड़ता होगा, ताने उलाहने होंगे, सास का पाँव चापते चापते गिर जाना होता होगा..... ऐसा कुछ भी न रहे।

बहुत सारी चीजों से निष्कृति का स्वप्न जैसा था।

स्वप्न ही था।

यथार्थ में नौकरी मिल जाएगी, इसका कोई भरोसा नहीं था।

विद्या का मंदिर उर्फ लिखा जाना एक निबंध का

मुन्ना जी खटिया पर बैठ कर खाने लगे। पंखा सदियों पुराना था। घर घर की एक अलग सी आवाज उसमें से निरन्तर झरती रहती थी। खटिया पर बैठने वाला खीज कर एक दो बार पंखे की तरफ देखता था। मुन्ना जी भी देखे। पंखा देखने वाले पर तरस खा रहा है, ऐसा देखने वाले को लगता। वह पंखे को देखना छोड़ देता।

“ए चाची, एह गरमिया में पंखवा टें बोल जाई। जानत हउ कि नाहीं! ?” मुन्ना जी ने पंखे की तरफ देखते हुए कहा।

गिरधारी तिवारी की पत्नी ने इसकी कोई खास नोटिस नहीं ली। यह सब अक्सर कहा जाता रहता था। कोई नई बात नहीं थी। जब तक गिर कर दम तोड़ नहीं देता, चिंता में घुलते रहना बेकार था। वे कुछ और सोच कर उठीं। कभी का अचार पड़ा था। मुन्ना जी को आज के इस पुण्य अवसर पर तो दिया ही जा सकता था। अचार आम का था। ला कर उन्होंने मुन्ना जी की थाली में एक टुकड़ा रख दिया। मुन्ना जी खाने लगे। अचार उन्हें पसन्द आ गया। उन्होंने दूसरा टुकड़ा मांगा। गिरधारी तिवारी की पत्नी नहीं चाहती थीं कि वे अचार ज्यादा खा जाएं। अचार थोड़ा था और खास मौकों के लिए सुरक्षित था। ऐसे सारा गँवा देने के लिए नहीं था। लेकिन ऐसे मौके पर मुन्ना जी की खुशी का भी मायने था। उन्होंने झक मार कर दूसरा टुकड़ा दे दिया।

“खाओ मुन्ना जी, अच्छा है।” वे खिसिया कर बोलीं।

मुन्ना जी ने उनके खिसियाए अंदाज का कोई नोटिस नहीं लिया। उल्टा जरा लज्जत में आ कर कहने लगे- “कहाँ रखे रहू अचरवा ?”

“गड़हे में गाड़े रहती हैं। किसी को मिलता जिन है।” दामोदर जी ने धीरे से कहा।

“ऐही लागे निकार देतू दुइ एक ठे।” मुन्ना जी ने मजे में कहा। उनका कोई खास मन नहीं था कि उनकी बात पर अमल किया ही जाए। दामोदर जी को अचार मिल जाए, इस पर भी उनका कोई बल नहीं था। मजे में वे बहुत कुछ कह लेते थे। उसी भाव में यह भी कह गए थे। सचमुच उनकी बात पर अमल करने कोई नहीं दौड़ा। दामोदर जी अचार की दिशा में देखते रहे।

वे पढ़ने में कमजोर थे, इसलिए आज के आयोजन का हिस्सा भी नहीं थे। उनके दोनों छोटे भाई कान्हा तिवारी और मनोहर पढ़े जा रहे थे। कान्हा ने एक दो बार फेल होने के बाद जोड़ जुगाड़ कर के हाईस्कूल निकाल लिया था। इंटरमीडिएट में भी दो बार लुढ़क चुके थे। अबकी निकल जायेंगे, इसका भरपूर भरोसा था। दो बार मामला इधर उधर हो गया था। इस बार किसी बाहुबली के निकटवर्ती ने सर्टिफिकेट के जुगाड़ की बात कही थी। कान्हा को उस पर बहुत भरोसा था। बाहुबली के निकटवर्ती के लिए मुश्किल भी क्या थी? पैसे के लिए सोचना था तो सोच रहे थे कान्हा।

लेकिन एक अदद डिग्री का कागज किस लिए चाहिए, यह सोच कर ही उन्हें हैरानी होती !

“पढ़ने हैं।” यह कहने में अच्छा लगता था।

‘ब्राह्मण का लड़का विद्याविहीन रह जाए’ यह अपने आप में बहुत अशोभन था। कम से कम समाज में प्रतिष्ठा थी कि लड़के पढ़ रहे हैं - ! ?

कौन सा समाज ? इस पर गौर करने की जरूरत नहीं थी।

“इस देश में पैसा दे के कौन सा काम नहीं होता!” वे आत्मविश्वास से गजगजा के कहते थे।

गजगजाने में कई किस्म के भाव मिले थे। लेकिन सबसे उपर आत्मविश्वास ही था। यही समय का मूल तत्व था।

मनोहर इसी को पा लेने को बेचैन थे। हाईस्कूल में फँसे थे। दो बार गिर चुके थे पर यकीन अभी बचा था। इसलिए इस बार तैयारी में कोई चूक नहीं रखना चाहते थे। सर्टिफिकेट जुगाड़ने की बात उनके लिए नहीं की गई थी। अतिरिक्त पैसे के खर्च की वजह से, अन्तिम उपाय तक बचते रहने के लिहाज से उन्हें छोड़ दिया गया था। इससे वे चिढ़े थे। कान्हा तिवारी को भद्दी भद्दी माँ बहन की गालियाँ भी दे चुके थे। कान्हा तिवारी इससे जरा भी विचलित नहीं हुए।

ललकार कर उन्होंने कहा कि “ जा सरउ, जा के गंगा में करवट काशी कर ला! पढ़े का साला एस शौक चर्रायल हौ।”

इस वाक् युद्ध में खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे वाले हालात मनोहर के लिए बनने लगते। वे गली में निकल आते। गली में खंभा नहीं था। बिजली के तार भी लोगों ने उपर उपर ही खींच डाला था। और भी तमाम तार थे, जो एक दूसरे में सघन रूप से उलझे थे। उलझ कर भी वे एक से दूसरा घर लाँघते हुए कहीं से कहीं तक पहुँच जाते थे। इससे कोई हादसा हो जाए, तो खबर नहीं बनती थी। लोग सिर्फ एक मिनट के लिए चौंकते थे। चौंक कर सावधान नहीं होते थे। बल्कि चौंकते थे कि ऐसा हो कैसे गया! हादसे में होने वाली मौतें स्वाभाविक मौतें थीं- ! ?

इस तरह हादसे में जीवन था।

जीवन में हादसा था।

हादसा और जीवन एक हो गए थे।

वे एक दूसरे को जान कर चौंकते नहीं थे।

या चौंकते थे तो सिर्फ एक मिनट के लिए चौंकते थे।

तो मनोहर इससे बेखबर दिन भर गली में कंचा खेलते। कोई न मिलता तो अकेले खेलते। बीच में कोई दिख जाता तो हुलस कर कहते-“ का हो गुरु, आवा गल्ली में !”

गली उनका सब कुछ थी। दोस्त, हमसफर, गाइड....

तमाम लोग आते जाते उन्हें नुस्खे बताते चलते कि अबकी इम्तिहान में नकल कैसे करनी है, कि चिट कहाँ कहाँ रखनी है। उन्हें एक ऐसे पेन के बारे में भी जानकारी हाथ लगी थी, जिसकी लिखाई गुप्त थी। लिखो, कुछ दिखेगा नहीं, फिर पानी में भिगा दो तो सब साफ साफ दिखने लगे। लेकिन पानी में डुबा डुबा कर नकल करने की तरकीब उन्हें ज्यादा नहीं भाई।

वे गली से भीतर की तरफ हल्का सा मुड़ कर चंटई के साथ चिल्लाए- “ए मुन्ना भाई, अबकी आपके चले के पड़ी। सब जने नकल के लिए सहयोगी लायै हैं, एक हर्मी हैं जिनके साथ कोई नहीं? मार घर भरा है आदमियन से बकिर जो कह दो तो कोई न निकरैगा।”

मुन्ना जी ने गिरधारी तिवारी की चुनौटी में से चूना निकाला, थोड़ा खैनी मले और बिना छड़ लगी खिड़की से नीचे की तरफ देखने लगे। फिर खैनी होंठ के निचले हिस्से में दबाए बिना ही बोले-“ कोई माई का लाल अबकी तोहें रोक न पायेगा। हम भी देखते हैं मनोहर। बेफिकर रहो ससुर।”

मुन्ना जी नीचे उतर कर अपनी दुकान पर नहीं गए। कंचे खेलते बच्चों को गली में खड़े हो कर देखने लगे।

“मोटर साइकिल आई गई है ससुर।” उन्होंने मनोहर की ओर दुलराकर देखा।

“कब? बतइला काहे नहीं?”

“टाइम न मिला। अब्बै ले के आ रहे हैं। किशत पे लिहे हैं।”

“हम भी कभी कभी चलाएंगे।”

“चलाइ लिहो।” फिर मुन्ना जी ने खैनी अपने होंठ के भीतर दबा ली और पैंट की पॉकेट से कंधी निकाल कर बाल काढ़ने लगे। फिर मुड़ कर दो एक कदम आगे जा कर नाई की दुकान के शीशे में अपने को देखने लगे। सड़क के किनारे खड़े खड़े देख रहे थे। हल्का हल्का मुकरा रहे थे। आइने से कि अपने मन के भीतर से कुछ बतिया सा रहे थे।

मनोहर को जोश आ गया। जोर जोर से वही गाना गाने लगे जो दामोदर जी को चिढ़ाने के लिए गाते थे - ‘मेरा पढ़ने में नहीं लागे जी, क्यों? बताओ क्यों? हाँ जी, क्यों? अरे जी क्यों? क्यों? क्यों?...’

तब गिरधारी तिवारी की पत्नी उपर खिड़की से झाँक कर दूने जोर से चिल्लाई—“ का हो, काहे मोहल्ला सिरा पे उठउले हउवा?”

इस पर मनोहर ने हँस कर कहा -“आँय!”

इसी की अगली सुबह, वह सुबह थी, जब मनोहर, मुन्ना जी और कान्हा के साथ दल बल साजे स्कूल के मैदान में उतरे। मैदान बड़ा था। चारों तरफ झाड़ झंखाड़ उगा था। माली नामक जीव कभी इधर से गुजरा होगा, इसकी दूर दूर तक संभावना नहीं दिखाई देती थी। घास जंगल की तरह बेतरतीब थी। जहाँ थी, वहाँ साफ सुथरी नहीं थी। उस पर कुछ भी होने की संभावना थी। गाय का गोबर, घोड़े की लीद ; (अगर घोड़ा वहाँ कभी आया हो) बकरी की लीद कह लीजिए ; बकरी चराने वाले मैदान का उपयोग करते रहते थे। प्रमाण स्वरूप अभी भी कुछ बकरियाँ इधर उधर सिमटी खड़ी थीं। आज नहीं आना था, पर नहीं मानीं, नजर बचा कर अपनी परिचित जगह पर चली आई थीं। किसी किसी मेमने को कोई लड़का खींच कर ले जाने की कोशिश भी कर रहा है। (सुअर की टट्टी; इसकी पहचान करना जरा मुश्किल था। सुअर की गंध से अंदाज लगता था। नाबदान की दुर्गंध से भी यही अंदाज लगता था।) किनारे किनारे आदमियों और कुत्तों की लैट्रिन भी पड़ी थी। कूड़ा कचरा पर्याप्त था। बीच बीच में चकत्ते सी चिकनी जगहें थीं। इस पर शायद लोग चलते या बैठते रहे हों। इसी से घास को उगने का मौका न मिला हो। काम धाम से थके या फुरसत में इधर उधर घूमते लोग, रिक्शेवाले, ठेले वाले या शायद जुआरी, शराबी या और जो भी लोग इस कोटि में आ जाएं, ताश यहीं खेल लेते थे। (ताश के पत्तों के तमाम सबूत और टुकड़े यहाँ पड़े थे, भई, इतना इशारा काफी है।)

तो आज लोग इसी मैदान के बीच उभरे भूरे चकत्ते जैसी जगहों पर, भरसक गंदगी से अपने को बचाते हुए, गोला बना बना कर बैठे थे। हालाँकि भीड़ इतनी थी कि गंदगी-वंदगी की बात करना बेमाने हो गया था। गोल छोटे छोटे बने थे। किसी में तीन जन, किसी किसी में चार पाँच जन। किसी में केवल दो लोग ही एक तरफ हुए बैठे थे। कुछ लोग इस तरह भी बैठे थे कि दो इस तरफ मुँह कर के तो उन्हीं से कुछ पीठ सटा कर तीन चार उस तरफ मुँह करके। आवाजाही लगातार मची थी। गपर सपर की इतनी ध्वनियाँ मिली हुई थीं कि तुमुल कोलाहल का दृश्य बन गया था। सभी घेरों के बीच कोई एक होता था, जिसके

हाथ में कॉपी पेन होता था, दूसरा कोई किताब से बोलता जाता था। इसी सब में एक चकत्ते वाली जगह पर, जरा सा मौका पा कर, जगह पा जाने वाले भाव से मनोहर बैठे थे। हाथ में कॉपी पेन लिए थे। कान्हा किताब थामे थे। पन्ना पलट पलट कर बोलते जा रहे थे। बीच बीच में उनके हाथ से किताब झटक कर मुन्ना जी बोलने लगते थे। जब कान्हा बोल रहे होते तब मुन्ना जी इधर उधर इम्तिहान की कॉपी पर झुकी लड़कियों को या उनके साथ आई किताबों के पन्ने पलटती औरतों, लड़कियों को निहार लेते थे। इस निहारने में वे कई बार इतने मगन हो जाते कि भूल ही जाते कि इम्तिहान चल रहा है। सीटी बजाने लगते। तब किसी गोल से कोई जोर से उपटता -“ के है बे ? इम्तिहान चल रहा है इहाँ। जे के सीटी बजावे के होय, बाहर जाये।”

“बहरवै हई।” मुन्ना जी फुसफुसा कर हँसते।

“सरउ बाहर को बाहर नहीं समझ रहा है।”

“अब कौन सा बाहर होगा जी?”

“सड़क पे चले जायें क्या?”

लोग तरह तरह से जिरह के लिए उद्धत होने लगते।

“भइया डिस्टर्ब न करो।” मनोहर गुस्सा कर कहते।

वैसे भी उनसे हिंदी के कुछ अक्षर नहीं बन पाते थे- ज्ञ, ह, ऋ, क्ष, छ, झ.... आदि। ‘ह’ के लिए तो वे हिंदी गिनती का छः बना कर छोड़ देते थे। ‘छ’ के लिए भी, ‘क्ष’ के लिए भी.....

यही, उनके लिए मितव्ययिता के पाठ का उपयोग था!

बीच में मनोहर थक जाते तो कान्हा मैदान संभालते। उन्हें लिखने का बिल्कुल अभ्यास न था। उनकी बार कोई और लड़का लिखा करता था। चाकू की नोक खींच कर किसी न किसी को बैठा देते थे। उनका साथी चाकू का फल बंद नहीं करता था, जब तक कि काम पूरा खत्म न हो जाए। लिखने वाला बारी बारी दो कॉपी लिखता। एक उनकी और दूसरी उनके साथी की। इस इंतजाम के बावजूद जब परीक्षा परिणाम आता तो वे बाहर होते। इस इंतजाम से अब उनका मन उब गया था। भरोसा भी पहले जैसा नहीं रह गया था। इसलिए मुन्ना जी के बार बार के सुझाव के बावजूद वे इस इंतजाम को अब की, मनोहर की बारी में टाल गए थे।

जब कान्हा पेन उठाते तो मुन्ना जी की बोलने की बारी आ जाती। मुन्ना जी दस मिनट से ज्यादा खींच न पाते। घबड़ा उठते। लगते चहलकदमी करने। इस झाड़ से उस झाड़। टहलते हुए लोगों के घेरे के पास रुक कर, झॉक कर देखने लगते कि कौन कौन कैसे बोल लिख रहा है? लड़कियाँ, जो उत्तर पुस्तिकाओं और किताबों पर झुकी थीं, उनके कुर्ते के गले भी नीचे तक झुक आए थे। जिन्होंने साड़ी पहना था या कोई फैंसी कपड़ा, उनके भी गले तटबंध से दूर हुए जा रहे थे। उन्हें देख कर वे मुस्कराते, कभी हँसते, आनंदित होते, फिर दूने जोश से लौटते और कान्हा के हाथ से किताब झपट कर बोलने लगते। मनोहर वापस अपनी पटरी पर आते। कोशिश भर घसीट रहे होते। हाथ रुक रुक जाता। ‘हाथ नहीं चल रहा’ कुछ ऐसी दिक्कत उन्हें होती। लेकिन अधिक देर तक मुन्ना जी के वश का यह न रह गया। वे गरियाने लगे-“ कौन पढ़ाई है साला ई ? क्या करेंगे पढ़ लिख के? भैंस बकरियों की तरह इम्तिहान दे रहे हैं। इम्तिहान है ई कि मछली घाट?... अगर इसी को पढ़ाई मानी जाई तो भइया इस देश को रसातल में जाने से केहू न रोक सकी! एक आदमी पे दस दस आदमी लगे हैं। तब्बो,

देखो, कौन पार उतरता है? अभी एक अक्षर पूछ लो, कोई मिला अधेला न बता पाई ! शिक्षा के मंदिर में बैठे हैं सब जनी। भजन कीर्तन माफिक सब चलत हैं भइया। हमारे टाइम तो कोई आए वाला न था, इनके टाइम हम दुई जनी लगे हैं। तबो न निकरिहैं तो कोई क्या कर पायेगा? बताओ! यही पढाई है! ज्ञानपिपासा देखो सबकी ! कुलमिला घोर नकल में डूबे हैं। कै अक्षर का ज्ञान ससुर.....”

“कुल भाषण यहीं चली? कुछ बचाइ ला गुरु। नेतागिरी में काम आई।” किसी ने उन्हें टोक दिया। टोकने से उनकी जुबान रुक गयी। मन की गति नहीं रूकी। यहीं पर उनके मन से अपने आगे न पढ़ने का मलाल जाता रहा।

‘भला हुआ हम न पढ़े आगे। बचा खुचा पैसा ससुर इसी में झोंक रहे होते। बी.ए., एम. ए. की माला लटका के क्या पा लेते? एक ठो नौकरी तक तो मिलती नहीं! मिल जाती तो चपरासी की करने को तैयार थे। तब? हम पूछते हैं क्या फायदा? प्रमोशन हमें कहीं पाना नहीं है।’ वे धीरे धीरे बड़बड़ाने लगे। तभी उनका मोबाइल बज उठा। उन्हें बड़ी कोफ्त हुई ऐसी विचार लहरियों से निकलना कठिन जान पड़ा। लेकिन उठे। उठे इसलिए कि फोन करने वाले को दुबारा कुछ देर में फोन करने के लिए कह सकें या कि फोन करने वाले को उसी के खर्च पर निपटा दें, नहीं तो उन्हें करना पड़ जाएगा। नम्बर कुछ ऐसा चमक रहा था। वे झाड़ झंखाड़ के पीछे जा कर किसी से बतियाने लगे। बतियाना बढ़ने लगा तो मनोहर चिल्ला पड़े -“ ए मुन्ना भइया, निबंधवा लिखवा दीजिए। फिर जनम भर बतियाते रहियेगा। आजै कुल आशिकी कर लेगें? आजै सबसे दोस्ताना निभा लेगें ? अरे भई, इसमें तो मिल नहीं रहा है।” एक मोटी पुस्तक, जो शायद निबंधों की कुंजी थी, उनके हाथ में लटक रही थी। उसे ही दिखा दिखा कर वे चिल्लाए थे।

“एक ठो जरूरी काम में फँसे हैं गुरु!” उन्होंने तत्काल फोन पर गूँजते अदृश्य व्यक्ति से कहा।

इससे पहले कि कुंजी मनोहर के हाथों से फिसल कर, जमीन पर चोट खा जाए, मुन्ना जी लपके और उछल कर कुंजिका को थाम लिए।

“टॉपिकवा बोल बे!”

“यदि आप प्रधानमंत्री होते।”

“सो सिम्पल।” मुन्ना जी ने मुँह बिचका कर कहा।

“लिखो, यदि मैं प्रधानमंत्री होता तो” उन्होंने फिर सोचा। दुबारा सोचा। उन्हें प्रधानमंत्री का कोई काम ध्यान न आया।

“अरे वही सब काम लिख दो, जो बाबू करते हैं। क्या उखाड़ लेंगे हमारा? हाँ, नहीं तो।”

“नहीं भइया, सही सही बताओ।” मनोहर तैश में आने लगे।

“ आखिरी चानस ले रहे हैं। न निकरै तो उठा के कुल विद्या जी गड़हे में दफन कर देंगे।”

मनोहर झगड़ने लगे।

“हम तो कहे रहे जाइ के करवट काशी ले ला, तुही न मनला। प्रवाहित कर दा, गंगा जी में विद्या महारानी के।” हँस कर कान्हा तिवारी ने आग में घी डाला।

तभी एक सज्जन दौड़ कर आए और मुन्ना जी से कहने लगे-“ भइया, खाली बैठे हो। 100 रूपैया ले लेते, लेखक का काम संभाल लेते। बच्चिया से लिखा नहीं जा रहा है। हाथ नहीं उठ रहा।”

“अइसन कौन रोग हुई गवा?” मुन्ना जी ने सद्भाव और कुछ हँसी में पूछ दिया।
“क्या बतावैं, दिन भर भूसा सानी में लगी थी, रात में गाय के बछड़ा हुआ। काम तो बढे गया न।”

“हम किसी और के साथ हैं। कब जरूरत आन पड़े। अब्बै देखो, इहै जरूरत, निबंध लिखवा रहे हैं।” महत्वपूर्ण व्यक्ति का भाव भर कर उन्होंने कहा। हालाँकि उनका मन सौ रूपए सोच कर एक पल को लेखक बन जाने का हुआ भी था, लेकिन इतनी देर तक लिखना! न, बाबा, न।

“हाँ तो, कहाँ पहुँचे थे?”

“भइया खिलवाड़ जिन करौ।”

बाबू का काम प्रधानमंत्री के काम में लिख दिया जाए, यह किसी भी सुनने वाले को नहीं जँचा। बाबू का काम प्रधानमंत्री का काम हो ही नहीं सकता था। प्रधानमंत्री जरूर कुछ अलग करता था। अलग और खास।

“लिखो, पूरा देश चलाता है। उसी के हुक्म से सब कुछ होता है।”

“लेकिन भइया, सरकार को क्या कहोगे? प्रधानमंत्री?” किसी ने उझक कर पूछा।

यह अजीब मुसीबत खड़ी हो गई। एक दो मिनट की माथा पच्ची के बाद मुन्ना जी का दिमाग खुल गया -“ प्रधानमंत्री की ही सरकार होती है। मने कि वही है सरकार।”

“ तो सरकार क्या करती है?”

“सुलभ शौचालय बनवाती है। हमारे यहाँ नहीं बना तो क्या, कई जगह बन गया है।” सबको यह बात जँच गयी।

“स्कूल कॉलेज खुलवाती है। जैसे कि यह स्कूल, आप लोग इसमें बैठ कर पढ़ रहे हैं, परीक्षा दे रहे हैं।”

यह बात भी जँची।

“मगर प्रधानमंत्री क्या करता है? क्लीयर नहीं हो रहा भाई। सब घमंजा बन गया है।”

यह बात अटक गयी।

“प्रधानमंत्री अकेले कुछ नहीं करता भाई। अकेले करै के हो तो बहुत कुछ हो जाए। यहाँ तो एक बोलेगा, दूसरा रोक देगा, दूसरा बोलेगा, तीसरा रोक देगा, इसी में सब समय निकर जाएगा। ऐसा समझो।” इस तर्क में दम था।

मनोहर इधर निराश हो रहे थे।

“पेपर छूट जाई। ए भइया, ठीक से बोलो।” किसी ने चिरोरी की।

मुन्ना जी को अचानक अपने बड़े होने और महत्वपूर्ण होने का अहसास हुआ। मोर्चा संभालते हुए वे उठ खड़े हुए -“ बात बंद करो। लिखो सब जनी। तुहीं एहर आइ जाओ। नजीके खिसक आओ भाई। हाँ, तो लिखो, यदि मैं प्रधानमंत्री होता तो तो..... ”

सबने दो बार ‘तो’ लिख दिया।

“तो.....”

सबने तीसरी बार ‘तो’ लिख दिया।

“सड़कें साफ रहतीं। भ्रष्टाचार, हाँ, भ्रष्टाचार दूर होता। कहीं भी पैसा दे कर काम न कराना पड़ता। सभी लोग खुशहाल होते। हाँ, सबको नौकरी भी देता। सबके हाथ एक काम जरूर होता। और हाँ, सबको एक जैसी शिक्षा जरूर मिलती। ये नहीं कि कोई खड्डहिया में पड़े, कोई कान्वेंट में। किसी को मास्टर न मिलें, किसी को दस दस ट्यूशन लगा हो। कोई

लॉट साहब बना फिरै, कोई फकीरी भी न कर पाये। मैं यह सब बंद कर देता। अब यह सब बंद करता तो ये नकल भी बंद करना पड़ता। धत् ससुर!" मुन्ना जी फिसफिसा कर हँसे। लेकिन उनकी प्रतिभा ने चमत्कारिक रूप से असर डाल दिया था।

"20, 20 रूपैया सबसे वसूल लो, तब आगे बढ़ेंगे।" मुन्ना जी ने अप्रत्याशित रूप से कहा।

कान्हा तत्काल उठ गए। हँकार लगाने लगे -" 20 रूपए, 20 रूपए...20, 20,..." रूपए आ आ कर उनकी झोली में गिरने लगे।

"मैं यह सब...' के बाद क्या बोले भाईसाहब?" एक लेखक ने पूछा।

ध्यान रहे, यहाँ इम्तिहान की कॉपी लिखने वाले को लेखक कहते हैं।

"कान्वेंट से जरा दुबारा बोल दीजिए, छूट गया जरा।" एक दूसरे लेखक ने कहा।

"ये तो वैसी बात हुई भइया कि गाड़ी स्टेशन से निकल जाए तो उसे खींच कर पीछे ले आओ। नहीं न आवेगी? आगे लिखो, गाँधी जी का रामराज्य मैं स्थापित करता, जहाँ दुख नहीं होता, जहाँ छुआ छूत नहीं होता, जाति पाति, धर्म के नाम पर बँटवारा नहीं होता। कोई ऊँचा नीचा नहीं होता। अहिंसा का यह सुंदर देश....." फिर वे रुक गए।

कान्हा से जरा सट कर धीरे से बोले-" का हो गुरु, गाँधी जी इहै सब कहे रहे?"

कान्हा तिवारी का आत्मविश्वास अचानक लड़खड़ा गया।

"नेता बनत फिरत हउवा -?" मुन्ना जी ने फिर कहा।

"ऐसा ही कुछ। ठीक है। ठीक है।" कान्हा ने सिर हिला कर जैसे जैसे संभाला। क्या करें? नेताओं के प्रवचन याद करने की कोशिश करने लगे तो कुछ याद न आया। पहले के नेता ये सब कह लेते थे। अब के ये सब कहाँ कहते हैं? बिना कहे काम चल रहा है। बेवजह गाँधी और नेहरू को कहाँ उठाते फिरें? इस ख्याल से उन्हें राहत पड़ गई।

"सुंदर देश..... सुंदर देश.... " लेखक चिल्लाने लगे।

"सुंदर देश बनाता, और क्या?"

"और क्या?"

"अरे भाई, 'और क्या' काट दो।"

किसी ने यह भी लिख दिया।

"लिखे रहे दो। पन्ना गिन के नम्बर मिलता है। जो लिख दिया जाए, सब ठीक।"

मुन्ना जी की रही सही हिचक दूर हो गयी। वे धाराप्रवाह बोलने लगे। लेखक लोग लिखते लिखते थक गए। मनोहर लिखना रोक के गुनगुनाने लगे -" नैन मट्का हवै ससुर, नैन मट्का हवै....."

"चुप बे! लिखे दो।" वे चुप हो गए।

"कुल कितबइया आजै लिखाई डरिबौ।" वे अनमनेपन में बुदबुदाए।

तभी एक सूट बूट टाई पहना आदमी कहीं से कैमरा पकड़े उदित हो गया। उचक कर, मुड़ कर, घूम कर, भाँति भाँति की मुद्राएं बना कर, गोलबंदी किए बैठे लोगों की तस्वीर उतारने लगा। लोग उसकी तरफ देख कर तस्वीर खिंचवाते हुए मुस्करा लेते थे। वह तस्वीर लेता, फिर हँसता, फिर तस्वीर लेता। किसी को इससे फर्क न पड़ता कि बीच में एक व्यक्ति ने अपनी बुद्धि का घड़ा फोड़ दिया।

"देखा हो, तनि देखा, गौर करा, अखबरवा में छप जाई त रिजल्टवा न रूक जाई?"

इस रहस्योदघाटन ने लोगों को एकदम अकस्मात चौकन्ना कर दिया। कुछ लोग हो हल्ला

करते उठे और गाली गलौज करते हुए कैमरे वाले को घेर लिए। किसी ने कैमरा छीन लिया, किसी ने बुशर्ट खींचा। इस बीच कुछ लोग मालिकों के पास भी दौड़ गए। मालिकों से यहाँ मतलब प्रिंसिपल और मैनेजमेंट के लोगों के पास।

मैनेजमेंट के सचिव साहब दहाड़े-“ जाइए गुप्ता जी, शीघ्रता करिए। देखिए कौन बवाल काट रहा है। कौनो प्रेस वाला न हो। परिस्थिति अनुसार विवेक से काम लीजिए।”

गुप्ता जी प्रिंसिपल थे। दहाड़ से उत्प्रेरित हो कर दौड़े। जैसे शायद न जाते। पर विपत्ति काल है भाई, स्थिति संभालना पड़ेगा। तिस पर मैनेजमेंट के आदमी का हुक्म! आगे के दिन के बारे में भी सोचना पड़ता है। एक रोज की बात तो है नहीं कि बेपढ़े आदमी की हुक्म उदूली कर जाएं? नौकरी में निभाना पड़ता है भाई। गुप्ता जी मन ही मन अपने को समझाते दौड़े थे। उनके दौड़ने के पीछे एक मास्टर साहब भी दौड़े थे। वे औपचारिक रूप से ड्यूटी पर थे।

“क्या चल रहा है भाई? कौन हो? कहाँ से आए हो भाई?” गुप्ता जी ने सबको हटाने की कोशिश में कहा।

“एह बखत फसाद में उलझ रहे हैं आपलोग! एक घंटा बचा है। अपना काम करिए। हम देखते हैं क्या माजरा है। जो इनका कैमरा वैमरा छोर लिया है आपलागों ने, वापस करिए। हटिए भाई। हम हैं न।”

पीछे आए मास्टर साहब ने एक तीर से कई निशाने साधे। लोग समय को लेकर चौकन्ने हो उठे। वापस अपनी जगहों पर लौटने लगे। किसी ने तत्काल यह भी प्रस्ताव रख दिया कि दुनिया भर की विघ्न बाधा के चलते वक्त बर्बाद हो गया है लिहाजा कि उन्हें अतिरिक्त समय दिया जाना चाहिए।

“सर जी, आप टीचर हैं न। ये लोग समझ नहीं रहे हैं सर। मैं ऐसा कुछ नहीं करने जा रहा हूँ।”

टाई वाले ने जल्दी जल्दी कहा।

“एहर निकल आइए। अब बताइए। कौन देश? कौन गाँव? ऐसे कहीं इक्जामिनेशन में घुस आइएगा तो पब्लिक एही ट्रीटमेंट देगी न।” मास्टर साहब ने उसे शांत करते हुए और अपने साथ चलने का निर्देश देते हुए कहा।

“अखबार से हैं? ” गुप्ता जी ने चिंता से पूछा।

“दिल्ली से आए हैं। लेकिन आपके यहाँ का फोटो कहीं नहीं जाएगा। हाँ, अभी कुछ समय पहले एक अखबार से जुड़े हैं। लेकिन ये तो सर, बस, ऐसे ही ले रहे थे। फन के लिए। सोशल साइट्स पर, मलतब इंटरनेट पर डालेंगे। दोस्तों के लिए। बस, सर।” टाई वाले लड़के ने कहा।

हकबकाए से गुप्ता प्रिंसिपल एक क्षण को उसका मुँह ताकने लगे। ये सब क्या है? सोशल साइट्स, इंटरनेट.... भाई आज कल बड़े शहर के लड़कों का नॉलेज हमसे सौ कोस आगे है। बकिर कुछ भी कहो, पट्टे में दम है। खींच लो इधर। क्या पता ससुर कौन काम में फिट बैठ जाए। गुप्ता जी ने मन ही मन तर्क किया और अपने सहयोगी मास्टर के साथ मिल कर उसे सचमुच अपनी तरफ खींच लिया और ले कर प्राचार्य वाले कक्ष की तरफ भागे।

“आप सब का नुकसान नहीं करना चाहता। इधर का ही रहने वाला हूँ, भला ऐसा करूँगा?” लड़के ने अपना कपड़ा लत्ता ठीक करते हुए, टाई को ठीक से गठियाते हुए कहा।

“तभी हम कहें कि बरखुरदार, ऐसी हिम्मत करने वाला कोई अपना ही लड़का होगा।”

गुप्ता जी ने नाक खोद खोद कर कहा। रह रह कर नाक खोदते रहना उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन चुका था। इस शहर के लोगों के तो ध्यान से भी उतर चुका था कि वे रह रह का नाक खोदते हैं। लेकिन बाहर से आने वाले को यह एकदम साफ दिख जाता था। वे उनके नकखोदन हाथ से दूरी बनाने का कुछ प्रयत्न भी करने लगते थे। टाई वाला लड़का भी उनके उसी हाथ से बार बार थपथपाए जाने से कुछ दूरी बनाने की कोशिश करता था।

“प्रेस को नहीं देंगे। चलिए, नेक विचार हैं आपके।” पीछे से दूसरे मास्टर साहब ने कहा।

“अरे, अपने घर का लड़का है। हमारा बुरा क्यों करेगा? बिना समझे बोल देते हैं आप भी।” गुप्ता जी ने लड़के को दुलराया।

“अच्छा तो ये बताइए, दिल्ली में पढ़ना हो तो कैसे, माने क्या तरीका है?”

“सर, पढ़ना क्या है? यह बताइए, तो हम सब इनफॉर्मेशन दे देंगे।”

“भई, अपने सुपुत्र जी के लिए सोच रहे हैं। यहाँ खेल कूद में बिगड़ रहे हैं। कुछ वहीं पढ़ते। यही बताओ, पत्रकार बनने वाला रास्ता। पॉवर तो इसमें भी है। क्यों बरखुरदार?” गुप्ता जी टाई वाले युवक के कंधे पर हाथ रखे दोस्ताना गाँठते उसे लिए चले आ रहे थे। उनके पीछे पीछे दूसरे मास्टर साहब जी भर कोशिश कर रहे थे कि कुछ वे भी दिल्ली के बारे में पूछ लेते।

भीड़ से जब थोड़ा निस्तार मिल गया तो टाई वाले लड़के ने धीरे से, अति विनम्र हो कर पूछा- “सर, एक तस्वीर आपलोगों की भी ले लूँ! आपको दे जाऊँगा। बिल्कुल गुरुओं के गुरु द्रोणाचार्य लग रहे हैं आप। आप प्रिंसिपल हैं शायद। हैं न। डैम स्मार्ट।”

गुप्ता जी खुश हो गए। एक तो इससे पहले किसी ने उन्हें अंग्रेजी में ‘डैम स्मार्ट’ नहीं कहा था, दूसरे गुरुओं के गुरु द्रोणाचार्य वाली उपमा भी पहली बार ही मिली थी। वे इसे किसी खिताब की तरह ओढ़ रहे थे। द्रोणाचार्य को वे महाभारत से जोड़ कर देख लेते थे। परन्तु उनके बारे में कोई विशेष जानकारी उनके पास नहीं थी। एकलव्य वाली कहानी उन्हें भूल गई थी। कोई याद दिलाता तो शायद याद भी आ जाती। फिलहाल उन्हें द्रोणाचार्य का गुरु होना ही याद था। इसलिए वे खुश हुए। ‘लड़का तेज है।’ मन ही मन उन्होंने सोचा।

“और आप डिप्टी प्रिंसिपल हैं।” टाई वाला, दूसरे मास्टर साहब की ओर हल्का सा गरदन घुमा कर बोला।

दूसरे मास्टर ने सोचा-“लड़का डिप्टी समझ रहा है तो समझ ले। क्या बुरा है? कुछ कद ही बढ़ा रहा है।” यह सोच कर वे मुस्कराते हुए चुप बने रहे। ‘भला हो कि प्रिंसिपल साहब भी नहीं बोले, नहीं तो पोल पट्टी उनकी सब यहीं खुल जाती। बीसों बरस से अस्थायी तौर पर पढ़ा रहे हैं। जब स्थायी नियुक्ति खुलती है तो पता चलता है मैदान कोई और साफ कर गया। वे वहीं के वहीं खड़े रह जाते हैं। प्रिंसिपल साहब सांत्वना देते रहते हैं। कितनी बार तो उन्होंने साफ साफ प्रिंसिपल से कह दिया था कि साहब पैसा दिलवा दीजिए हमसे मैनेजर को। लेकिन कहाँ? जितना तय रहता, उतना उनके पास पूरा न पड़ता। पिछले तय तक धन जोड़ते कि अगला तय का आकार बढ़ जाता। इस तरह वे कभी तय धनराशि तक पहुँच ही न पाते। आखिरकार वे इन्हीं प्रिंसिपल साहब के आगे फूट पड़े कि सर, अब नहीं सहा जाता है। बेरोजगारी और बेगार का दंश पूरी दुनिया से मिलता है सो मिलता है पत्नी बच्चे भी नहीं छोड़ते। उनको भी क्या दोष दें, जरूरतें सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी हैं। गाँव के गेहूँ- धान का सहारा न होता तो कब के मर बिला गए होते सब जनी या कि क्या जाने

भीख माँग रहे होते कितने मिला।' यह सोचते सोचते वे कब पीछे छूट गए, अंदाज ही न हुआ। इसी बीच प्रिंसिपल साहब को अच्छा भला मौका हाथ लग गया। उन्होंने चट से कहा—“ बेचारे वर्षों से यहीं हैं। हम लोग चाहते भी थे पर क्वालीफिकेशन का झंझट है। मानते नहीं हैं, करेंगे तो यहीं नौकरी करेंगे। कहीं और जाते नहीं। जाते तो कुछ न कुछ मिल ही जाता। यहाँ से तो ज्यादा ही मिलता। पर समझते नहीं। चिपके हुए हैं। मरेंगे तो यहीं बेताल हो कर घूमेंगे। जब तक ये मैनेजर साहब हैं तब तक हम भी खींच लेंगे। लेकिन आगे क्या होगा, नहीं कह सकते।”

“ओह। बेचारे।” लड़के ने सहानुभूति से कहा। लेकिन तुरंत ही उसकी रुचि दूसरे मास्टर साहब से हट गयी।

“सर, एक बात कहनी थी।” टाई वाले ने गुप्ता जी की कई फोटो विभिन्न मुद्राओं में उतारने के बाद आत्मीयता की चाशनी में लपेट कर कहा।

“बोलो, बोलो।” गुप्ता जी भाव विह्वल हो उठे।

“सर, मेरा भांजा पढ़ने में थोड़ा वीक है। यहीं से इक्जाम दिलवा रहे हैं। इस बार पास हो जाता तो....”

“ऐ, एहरिएं ले आव रे!” गुप्ता जी ने आव देखा न ताव, तुरंत एक चपरासी को दौड़ा दिया।

चपरासी कहीं से अचानक दृश्य में उपस्थित हो गया। वह लड़के के कान के पास फुसफुसाया— “ भइया जी, एक हजार प्रति पेपर। अलग से लिख जाएगी कॉपी। गुरु जी की झोली में गुरु दखिन्ना कह के डारि दीजिए।”

लड़के ने दो बार ‘ओके, ओके’ कहा और चपरासी को हाथ के इशारे से अपने भांजे की पहचान कराने लगा। फिर प्रिंसिपल साहब, उनके पीछे दूसरे मास्टर साहब, उनके पीछे भांजा, उसके पीछे कॉपी लिखता हुआ लेखक और सबसे पीछे टाई वाला लड़का प्राचार्य के कक्ष में घुसे।

टाई वाला लड़का, गुप्ता जी के कान से सट कर धीरे से बोला—“ सर, अखबार वालों के साथ भी वही व्यवहार। हम हैं कि आप सब को सपोर्ट कर रहे हैं।”

“अरे, अरे, क्या कह रहे हैं। ऐसा कैसे होगा। अभी मैनेजर साहब सब संभाल लेंगे।”

“बैठिए।” सचिव ने लड़के को देख कर कहा। लेकिन उनके चेहरे पर गंभीरता बनी रही।

लड़का बैठ गया। बैठे बैठे उसने गुप्ता जी की तरफ मुड़ कर कहा—“ सर!” गुप्ता जी समझ गए। पीछे से निकल कर सचिव के ठीक सामने खड़े हो कर कहने लगे—“ सर, अपनी तरफ के हैं। दिल्ली के बड़े अखबार में पत्रकार हो गए हैं। साहब अब आप की कृपा हो जाए तो इनका भी एक काम....” गुप्ता जी ने अति विनम्रता से भांजे को दिखलाया।

“अरे तो चिंता काहे कर रहे हैं। लम्बी चेन है। बतलाइए गुप्ता जी। किसी का भी काम हो, मुश्किल हो जाता है। यहाँ से तो कर दें हम लेकिन आगे कौन संभालेगा? अपना आदमी भेजना पड़ेगा। लेकिन आप के लिए देखते हैं।” सचिव साहब ने बार बार माथा सिकोड़ते ऐसे कहा जैसे कितना बड़ा काम कंधों पर आ पड़ा हो।

“गुरु कृपा सर सबसे बड़ी चीज है। आप चाहेंगे तो भला कैसे नहीं होगा।” लड़के ने बहुत प्रेम से कहा।

“यही तो दिक्कत है लोग समझते नहीं। मुश्किल काम है। आप के लिए, देखिए, आप

का काम है, इसलिए। और कोई होता तो भइ हम भी हाथ खड़ा कर देते। आपका निवास तो दिल्ली होगा?” सचिव साहब ने सोचती हुई सी आवाज में कहा।

“जी, जी हाँ।” लड़का अतिरिक्त गौरव से भर उठा।

“गुप्ता जी अपना कितना तो काम लगा रहता है उधर का। अपना कुछ सामान पड़ा होगा। नेता जी को भिजवाना था। इन्हीं को दे दीजिए लेते जाएंगे। क्यों भाई आप ले जाएंगे तो आसानी से पहुँच जाएगा। हमारे ही यहाँ के नेता हैं।”

“जी, जी, क्यों नहीं।” लड़के ने इस बार कोई खास उत्साह नहीं दिखाया।

“रामभरोसे चपरासी को ले जाइए और ये जहाँ कहें सामान पहुँचवा दीजिए।” दूसरे मास्टर की तरफ मुड़ कर सचिव ने आदेश दिया।

“आप के साथ तो कैसा भी सामान बेहिचक निकल जाएगा। पत्रकारों को भला कौन रोक सकता है? आप भइ संपर्क में रहिएगा। अपना कार्ड दे जाइए।” सचिव ने हल्की सी हँसी के साथ कहा।

“और हाँ, गुप्ता जी कुछ चाय वाय का इंतजाम नहीं दिख रहा है। कैसा राज काज चला रहे हैं! इनसे इनका कार्डवा ले लीजिए। संपर्क साधते रहिएगा।” उन्होंने इस बार गुप्ता जी को संबोधित किया।

“चाय रहने दीजिए सर। मैं अब चलूँगा।” लड़के ने कहा और बाहर निकलने लगा।

“अरे जाइए गुप्ता जी, छोड़ कर आइए। और इ ससुरा कहाँ रह गया?” सचिव ने दूसरे मास्टर साहब को खोजा। वे रामभरोसे को बुलाने निकल चुके थे। गुप्ता जी टाई वाले लड़के के साथ बाहर आए तो लड़के ने हल्की जिज्ञासा के साथ पूछा - “कैसा सामान है? मेरे काम की क्या स्थिति है?”

“आप से जितना सचिव जी बोले हैं उतना किसी से नहीं बोलते। जानिए आप का काम हो गया। जाइए मौज मारिए। सामान की कौन टेंशन लेते हैं? अबकी साहब नगरपालिका के चेयरमैन के लिए उठेंगे।”

“अच्छा। यह तो अच्छा है।” लड़के ने इस बार प्रसन्नता जाहिर की।

“मधुर संबंध बने रहें, यही अच्छा है। आप तो दिल्ली की राजनीति देख रहे होंगे।” गुप्ता जी ने दुलरा कर कहा।

लड़का मुस्कराया। गर्व से, अभिमान से।

इधर घंटी बज गयी। लोग दो चार मिनट और पाने के लिए खींच तान करने लगे। अचानक कहीं से दो तीन लोग प्रकट हो गए और दौड़ दौड़ कर कॉपी छीनने लगे।

मनोहर ने कुछ कुछ चैन की सांस ली।

“देखो, ठीक तो चला गया है।”

“ठीक न जाता तो पता लगाइके कि केकरे पास कॉपी गई है, मास्टर साले की अतड़ी से नम्बर निकलवा लेते। अबकी न छोड़ते।” मुन्ना जी ललकार उठे।

भीड़ का पूरा रेला झपटता हुआ स्कूल के टूटे हुए गेट की तरफ बढ़ रहा था। ये तीनों भी उसी रेले में बहते जा रहे थे। कब वे स्कूल का अहाता पार कर गए, पता ही न चला। टूटे हुए गेट के बाहर रिक्शा, स्कूटर, जीपों, मोटरसाइकिलों की भारी भीड़ थी। आदमियों की भीड़ का रेला गेट के मुँह से फिसलता हुआ उन पर टूट पड़ा। झुंड के झुंड लोग गाड़ियों में समाने लगे। ठेलम ठेल इधर उधर अफरातफरी का माहौल था, जिसमें से

निकल कर मुन्ना जी ने अपनी मोटरसाइकिल खोज लिया था। मोटर साइकिल सेकेंड हैंड थी और किशतों में उसका मूल्य चुकाया जाना था। यह कल ही किसी दोस्त के मार्फत मुन्ना जी के हाथ लगी थी। इसलिए इसके आकर्षण और मोह में छलछलाता हुआ तेज था। मुन्ना जी ने मोटर साइकिल को छूआ। छूते ही वह सिंझेला के रथ की तरह चमक उठी। उन्होंने हैंडल पकड़ कर बेवजह हार्न बजाया। फिर अकड़ कर दोनों को पीछे बैठने का इशारा किया। भीड़ में कान्हा तिवारी की हालत कुछ बुरी हो गयी थी। वे ज्यादा घिसटते हुए मोटर साइकिल तक पहुँचे थे। मनोहर का हाल अलग था। वे अपनी धुन में मगन, भीड़ जिस दिशा में लिए जा रही थी, चले जा रहे थे। आवाजें इतनी थीं कि चिल्लाने का कोई मतलब नहीं था। मनोहर अपनी ही तरह से मोटर साइकिल खोज रहे थे। उन्हें हर नई चमकीली मोटर साइकिल किशतों में अपनी हो जाने वाली मोटर साइकिल लगती। वे उस तक उत्साह से पहुँचते। उसे छूते और निराश हो जाते। वह उनकी नहीं होती। अचानक उन्होंने अकड़ के साथ रथ पर बैठे मुन्ना जी को देख लिया। खुशी उन्हें बहुत हुई। वे बड़ी जोर से उधर लपके ही थे कि तभी एक रिक्शे का हैंडल उनकी बुशर्ट में फँस गया। वे गुस्सा कर एक सहस्त्र गालियाँ धुँआधार बकने लगे। चीखने लगे। दर्द से नहीं, बुशर्ट की बटन के धड़ धड़ उखड़ कर गिर जाने से। मुन्ना जी उनके दर्द से विचलित हो उठे। चींटे के आकार को निकल कर के बनाये गए रथ पर से वे उतरे और बहुत धीरे कदमों से कुछ गुनगुनाते हुए, रास्ता बनाते हुए वहाँ तक पहुँचे, जहाँ मनोहर रिक्शे वाले के लिए तरह तरह की गालियाँ उचारते अपनी बटन ढूँढ रहे थे। अथाह सागर था। बटन उसमें एक बूंद थी। सागर से बूंद को अलगाना मुश्किल था। बूंद सागर में विलीन हो चुकी थी। फिर भी मनोहर को यकीन था। यही, कि एक दिन वे बटन ढूँढ लेंगे।

तो वहाँ पहुँचते ही मुन्ना जी एकदम अकस्मात तैश में आ गए। तड़ा तड़ रिक्शे वाले को थप्पड़ जड़ने लगे। उनके गुस्से से संक्रमण फैला और कान्हा तिवारी का गुस्सा भी उबाल पकड़ने लगा। कुछ और लोग भी गुस्से की आँच में गुस्सा होने के लिए इधर मुड़ गए।

“साली सुनहरी बटन थी।” मनोहर बुदबुदाए और घूम कर रिक्शे की वही हैंडल, जिसमें उनकी बुशर्ट फँस गयी थी, जोर जोर से काँपते हुए हिलाने लग गए।

न जाने कौन कौन लोग आ कर कान्हा तिवारी और मुन्ना जी को इधर उधर से पकड़ने की कोशिश करने लगे। अंततः वे रिक्शे वाले से अलग हुए। रिक्शे वाला अधेड़ था। पिटता और हारता हुआ बड़बड़ाने लगा।

“कुल मिला जुआरी कबाड़ी हैं। पढ़े लिखे से कौनो मतलब नहीं। खाली झगड़ा फसाद। गुंडागर्दी में नम्बर वन। विद्या का मंदिर कहात है साला।.....”

“चुपाइ रहा। आत्मा नहीं तृप्त भइल का?”

किसी ने भीड़ में से ही रिक्शे वाले को बड़बड़ाने से रोकने का उपक्रम किया।

इधर बटन नहीं मिलने से मनोहर रुआँसे हो उठे। कान्हा भी झुक झुक कर बटन खोजने लगे। मुन्ना जी दूर दूर तक पेड़ पल्लव देखने लगे। उसके आगे किसी किसी के इंतजार में खड़ी बालाओं को। बालाओं के वस्त्रों को। उन्हें अचानक मनोहर वाला गीत याद आया -‘नैन मट्टका हवै.....।’ क्या पता बटन कहाँ हो?

जब मुन्ना जी की नजरें पेड़ पल्लव से हटीं और मोटर साइकिल की तरफ लौटीं तो उन्होंने पाया कि मैदान में केवल वे और कान्हा ही डटे हैं। मनोहर किशतों में अपनी हो जाने वाली सवारी पर बैठे उसे बिना चाभी के चलाने का अभिनय कर रहे हैं। छाती खुली है। काले

काले घने बाल लटक रहे हैं। उनका बुशर्ट कंधों पर टेढ़ा हो कर लटका है। पता नहीं इसे खुली बुशर्ट या फटी बुशर्ट, क्या कहना चाहिए?

बेचैन सहस्र धाराओं के राग रंग थे

“बीबी जी, जरा किनारे हो जाइए।” जल्दी जल्दी सीढ़ियाँ धोती औरत ने अपने हाथ का झाड़ू रोक कर कहा।

“भाभी, मैं आपके लिए चूड़ियाँ लाई हूँ हरी, हरी।” मैंने उसके जवाब में कहा।

“चलिए उपर, मैं अभी आ रही हूँ।” औरत ने अपनी खुशी हल्का सा मुस्करा कर जाहिर की। यह औरत मुन्नाबो थीं। जिनका असली नाम हम भूल चुके थे। मुन्ना जी के नाम के साथ ही उनके अस्तित्व का बोध यहाँ होता था। अगर इस नाम को हटा दिया जाए तो वे क्या थीं यहाँ? इसे सहज बुद्धि का कोई भी व्यक्ति बता सकता था। मैं उन्हें वहीं छोड़ कर उपर बैठका में आयी तो देखा दामोदर जी घंटी बजाते हुए कोई मंत्र पाठ कर रहे थे। उनके पिता गिरधारी जी, उनकी पूजा में मगन मुद्रा पर ध्यान दिए बिना चुटकी लेते हुए कह रहे थे-“ यहीं घंटी बजावा करौ। दुकान कौन खोली? यही जिम्मेदारी ले ले हउवा? न निभै तो बतावा?”

“बस, अभिहैं। बस, अभिहैं।” कह कर दामोदर जी और तेजी से मंत्र पाठ करने लगे। घंटी भी और तेजी से बजाने लगे। पूजा समाप्त कर के पुश्तैनी जायदाद के रूप में मिली आरामकुर्सी पर से बुशर्ट उठा कर पहनने लगे।

“आज उठने में थोड़ी देर हो गयी न। एही बदे। इतना लेट तो कभी न हुआ था।” उन्होंने मेरी ओर न देखते हुए अपने आप से कहा।

“कौन दुनिया छोड़ के घंटी बजाना चाहे? लेकिन आप लोग जीने न देंगे। न इस विध, न उस विध।” उन्होंने अपने आप से नाराज हो कर पिता की तरफ बिना देखे उनका उत्तर दिया।

“बीबी जी, कुछ खाई-पीं कि नहीं?” तभी पीछे से आ कर मुन्ना बो खड़ी हो गयीं। वे तैयार हो कर आयी थीं। कुछ देर पहले की सीढ़ी धोने वाली औरत वे नहीं लग रही थीं। पीले लाल फूलों वाली सिंथेटिक साड़ी पहने थीं। बाल ढंग से सँवारे हुए थे। माथे पर सिंदूर टिकुली लगी थी। हाथ में एक पॉलीथिन थी, जिसमें छोटा सा टिफिन बाक्स रखा हुआ लग रहा था।

“दुकान पर जाना है। यहाँ खाने का वक्त नहीं मिलता है, वहीं लेते जाते हैं।” हल्का सा मुस्करा कर उन्होंने कहा।

वे पिछले दिनों से बेहद बदली लग रही थीं। साड़ी का पल्ला भी सिर की बजाय कंधे पर था। चेहरे पर थकान थी, पर कुछ आत्मविश्वास भी दिख रहा था। उनके आते ही दामोदर जी की हलचल बढ़ गयी थी। वे अपनी अत्यंत धीमी गति के भीतर भी कुछ तेज हो जाना चाहते थे। इसी समय मौसी कहीं से अवतरित हुईं और दौड़ती हुईं रसोई वाली जगह के भीतर गयीं लेकिन पलक झपकते वापस भी निकल आयीं। निकल कर आयीं तो हाथ में अखबार में लपेट कर कुछ लिए थीं। वे अखबार की उस चीज को दामोदर जी को देने लगीं।

“भूख लग जाई।” वे जबरदस्ती कर रही थीं। दामोदर जी रोक रहे थे। तब वे मुन्ना बो को अखबार में लिपटी वह चीज देने लगीं।

“अब हम एक ही समय खाते हैं बिट्टो! मनौती माने थे शनि महाराज से कि काम
feyskrks, d oDr [kusyxxSA efehle>rhugaga**

Qj mlgasogñ dñsl selusviusvki lsdgk^ eulshrisD; kg\$cl], d
ghoDr [kukplgrsgñ vnehfrukdek] mrukgh [lk rlsBldA**

^dgk; dle feykHb; k dñ nqlu is * eas[khv]ftKk kl siWA

^cVWseñkthpysx, uA vc nqlu dñ nlsk geljsnij vxk; lA ?j
dkdle g\$dj jggA; shnk sA fru Hj ogaBdA lakcskNMt k, sA** mlgas
ijsghysl sHh dhrijQ gñ kdkb'lk dj dscrk, lA

^dgkx, eñkth**

eShdk; g cruseal dlp gñA eñkcls leus[MAHA os'k]sl sdgus
yxlaf dudy tkusñeñkcls dñA

^py jggA** nelsj thusdl hdledk hvnehdhrijg dga yflu , d
nlsne ghpys sld iñsemñdj dgyxsf d &^ efeh dñZju dñu diMnA
nqlu okkilusdkdiMk [jlc g\$; kgA** mlgaselshl s; g dle rRly ijk
djusdhFNkl sdgkBA eShl e> x; lav]S; gkogxBfj; lA sliMafudy fudy
dj nlsyxLA Qj fdl hijusdiM'k n lMAH ml dkVdM:QM+dj fr; k^
cdhrijgsnsghj[kms gA**

ostudy x, A mudsi lñsi lñseñkclsHh pñA eñkclsHh, d nlsne py
dj iñsemñ^ dchtñ nqlu dhrijQ l sfudy, xkrsvktb, xA dr dñ gñ
ugai lZv li lA** Qj ospyhx; lA mudst ksgheSh t kbruhñj l seqsogñ dñ
crusdlS) dñ gñghñA [q iM^ irkgScVWseñkthdgñk x, A dñZ
dgrkgñpZudf x,] dñZdgrkgScFbZ crkdsHMAu x, A nqlu dñ l Hkyrk
nelsj thdlsyxkñ, gñ eñkcls gñ k fñrc nlsnsogñ l csi <afy[hogh
gñA ?j dkdle l qggdj yshgñjrk dk [kukculosnsnelsj thi gñktks
gñ nelsj th [lyhñA dñ dle esh hcgusc> x, gñ**

Qj mlgasdn #d dj eu dknvjkdak [lsk^ te l señkthx, gñ]S
eñkcls nqlu ij cBusyxhgñrc l nqlu; kped mBhgA, l-VaM cñkds lk
elby v]sm dkdgr gS. fl elsvlghescdusyxkgA tjkl ht xg edrukl leuA
vdys eñkcls selu dkHk pñH ?akmudski dhutj ml hñku isyxhjrh
gñ te nlsrc [kñi gñ dsBok jhdjrsjrgsgñ tB thdkogk; cñkñij dj
nssgñ vc crvlsgñ rlstB thdkcurkgA eñkcls dñD; l cñk; k bl hij
cñ Blusjrgsgñ tB thl e>kl e>kdj ijsk g\$; gñ ?j dkdle gñ eñk
dj jgsñpysx, rlsudhdñdj jhg\$D; kojkgS vc igysdktekukrls
jkugad tuheg ij inZMjñ esMajgA, d v]S dr eu esdl dhjrh
gñ vc nls [q rñegñjuhyl vñ nhl akcskes v]S nelsj geljsñpñs c fu
dñ] gñ dsvk; sñk dsX jg dñ ct rñA tjkVy uga drñ tB th [kñkrs
jrgsgñ **

^Bd rñgSelSA nlsy l sldkdle py jkgA nqlu l svlenuhgñsyxh
rñmij dñ l adkñ [pZudyusyxkgñA eñ kñ kñ ephjrhñA nelsj

भइया लग गए तो कुछ तो उनकी भी कमाई हुयी ही। अच्छा ही है।” मैंने समझाने वाले भाव से कहा। लेकिन मौसी खुश नहीं हुयीं।

“हो, ठीकै हो। मुन्ना बो बेचारी! ससुर सिर पै तलवार ताने खड़े रहें! केहू के लिए मुश्किल होई!” उन्होंने अपने आप को सांत्वना देते हुए कहा।

“का हो! खाली न भया?” कान्हा तिवारी इसी बीच उपर कहीं से चिल्लाए।

“अबहिन नहीं!” मौसी ने झट से उठ कर दरवाजे से झाँक कर कहा। फिर वे मेरी तरफ पलटों ही थीं कि उनकी आवाज की डोर पकड़ कर कान्हा तिवारी नीचे उतर आए। आ कर पैर हिलाते दरवाजे के पास खड़े हो गए। असल में इस पूरे पाँच मंजिले में एक टॉयलेट इस पहले तल्ले पर और एक चौथे तल्ले पर था। सब तल्लों पर टॉयलेट नहीं था। पता नहीं पिछले जमाने में ऐसा क्यों था? हलवाई वाले में टॉयलेट था कि नहीं? इस बारे में कभी बात नहीं हुई थी। आज घोर जिज्ञासा हो रही थी। पाँचों मंजिल में कुल मिला कर रहने वालों की संख्या लगभग पचास के करीब थी। इससे ज्यादा ही होगी। कम किसी सूरत में न थी। सात तो मौसा जी के चचेरे भाई थे और मौसा जी खुद पाँच भाई थे। सबका हिस्सा इन्हीं पाँचों मंजिल में बँटा हुआ था। नतीजा कि एक एक कमरा और थोड़ी रसोई की बनाई गयी जगह ही सबके हिस्से में आ पाई थी। लैट्रीन बॉथरूम की परेशानी ऐसे में बहुत बड़ी परेशानी थी। सुबह से जो लाइन लगती तो कितने ही लोगों का नम्बर रात में आता। लड़ाई झगड़ा भी इसके लिए कई कई बार हो चुका था। चाकू, छुरा, लाठी, बल्लम की नौबत न जाने कितनी बार आयी थी। पर एक और लैट्रीन बनवा लेने के लिए जगह छोड़ देने को कोई तैयार न हुआ था।

कान्हा तिवारी पैर हिलाते हुए दरवाजे के पास खड़े थे। आँखें उनकी पूरी तरह आँगन के उसी कोने में लगी थीं, जहाँ लैट्रीन की दीवार थी, लेकिन कान इधर फँसे थे। इसी समय मुन्ना जी की छोटी बहन ननकी उतर कर आयी। वह इतना ज्यादा नकली गहनों से सजी थी कि बड़ा अटपटा लग रहा था। आँखों में कोई तेज चमक वाला काजल लगाया था। गुलाबी रंग की लिपिस्टिक भी लगी थी। कानों में बड़ा बड़ा चमकीला झूमर लटक रहा था। गले में कई माले पड़े हुए थे। हाथ में कई चूड़े कंगन थे। यहाँ तक कि चमकते पत्थरों वाली और लटकते घूंघरू वाली कई अँगूठियाँ भी पहने थी। उसका अंग अंग चहक से भरा था। कोई चहकती सी चिड़िया उतर आई थी उसमें। वह चल रही थी, पर लगता था उड़ रही है। बैठ रही थी तो लगता था तैर रही है। खिड़की तक जाती तो लगता फुदक कर पेड़ की टहनी पर जा बैठी है।

अचानक उसने मुझसे सट कर धीरे से कहा-“आपको मेरे ब्वायफ्रेंड के बारे में पता है?”

“नहीं!” मैंने चौंक कर कहा।

“अभी आएगा तो दिखाउंगी।” उसने और धीरे से कहा।

मैं ननकी को बहुत छोटा समझती थी। हाईस्कूल में एक दो बार फेल होने से उसकी पढ़ाई छूट गयी थी। मुझे उम्मीद नहीं थी कि उसके पास एक ब्वायफ्रेंड भी हो सकता था!

उसने मुझे धीरे से अपनी हथेली खोल कर दिखाई। भाँति भाँति के फूल पत्तियाँ उस पर सजी थीं। लाल स्याही से फूल में रंग डाले गए थे। पत्तियाँ नीली ही रह गयी थीं। शायद हरा रंग न मिला हो। नीली पत्तियाँ हरे रंग का आभास करा रही थीं। पूरी की पूरी क्यारी ही थी वहाँ। उनके बीच नीली रोशनाई के चमकते अक्षर उभरे थे। टेढ़ा मेढ़ा सा लिखा कोई नाम थोड़ा मुश्किल से पढ़ा जाता था। -

प्री त म....

“बड़ा सुंदर लिखा है। तुमने खुद लिखा या उसने?”

फूलों के बीच बड़े मन से सजा सजा कर लिखा था।

“जो समझ लो।” उसने इठला कर कहा।

“ऐ...हो... ससुर खाली हुआ?” कान्हा तिवारी आँगन से गुजर रहे किसी व्यक्ति पर पैर हिलाते हुए चिल्लाए।

“रक्षाबंधन आ रहा है बिट्टो!” ननकी ने चहक कर कहा।

“छुट्टी रहेगी न। आ जाना। कि घर निकल लोगी?” मौसी ने दुलरा कर पूछा।

“तुम कब से इस सब पर बिलीव करने लगी बिट्टो! हैं... धागा भर है.... हैं...मानो तो धागा न मानो तो... जो मर्जी करे मान लो... सब मसला यही है...हैं.... बेकार की बात सब.... हैं.... ससुर वहीं बैठ के मैटिनी शो देखे लगे।” वे फिर आँगन वाली दिशा में चिल्लाए।

“ससुर तमंचा इसीलिए रखे हैं ? आज एक आध लोग न लुटके तो हमें दोष न देना। हैं... हैं.... मम्मी निकालो मुक्का में से तमंचा। जो जाएगा, वहीं बैठ जायेगा...हैं... साला आज न बचेगा!” वे क्रोध से टाँगें और जोर से हिला रहे थे।

मुझे उनका इस तरह बोलना जरा भी अच्छा नहीं लगा था। लैट्रीन के लिए युद्ध की संभावना भी बनती दिख रही थी। मैं मुँह बिचका बिचका कर अपना ‘बुरा लगना’ जता रही थी।

“कहीं चले जाते तो अच्छा था। नरक है ससुर।” वे दरवाजे पर हल्का सा हाथ मार कर बड़बड़ाए।

यह बड़बड़ाना, पिछले गुस्से और लैट्रीन के हक की लड़ाई से अलग किस्म का था।

यह कैसी हताशा और बेचैनी के भीतर से फूट कर निकला था!

यह बात के भीतर की बात कर लिए जाने का उत्प्रेरक था!

तब ननकी ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे खींचा-“आइए न!” मैं उसके साथ साथ बैठका की उस पुरातन खिड़की तक खिंच गयी, जिसमें आज तक क्षड़ नहीं लग पाई थी।

“वो देखिए!” उसने हुलस कर बताया।

नीचे मोटरसाइकिल पर एक आदमी नीले रंग की टीशर्ट पहने बैठा दिखा। उसका चेहरा ठीक ठीक नहीं दिख रहा था। सिर पर कैप लगी हुई थी। केवल एक तरफ से जो हिस्सा दिख रहा था, उससे मालूम पड़ रहा था कि छोटी छोटी दाढ़ी रखे है। गले में उसने लाल प्रिंट का रुमाल बाँध रखा था। देखने में मोटा तगड़ा लग रहा था। उसका जो हाथ मोटर साइकिल के हैंडल पर था, उसमें मोटे चेन वाला कड़ा झूल रहा था। सब मिला कर वह कहीं से भी ननकी की उम्र का नहीं लग रहा था। उसने दो बार हार्न बजाया और आगे निकल गया।

“यह तो तुम्हारे बराबर नहीं है? कैसे दोस्ती हुई इससे?” लेकिन मेरी इन हैरानी भरी बातों को सुनने का वक्त उसके पास नहीं था। वह जाने कब नीचे उतर गयी थी। वह पैदल चली जा रही थी। मैं खड़ी देख रही थी। छटपटा रही थी कि उसे रोक भी न सकी। उसे आवाज दे रही थी। पर सड़क पर आवाज तैर कर जाने कहाँ चली जा रही थी। ननकी उस आवाज से परे हो चुकी थी। वह मुझसे, मेरी छटपटाहट से बेखबर गली के किसी मोड़ पर मुड़ गयी थी।

जब मैं वहाँ से लौट कर मौसी की तरफ आयी तब तक कान्हा तिवारी टॉयलेट के लिए जा चुके थे। मैं तरह तरह से मौसी को बताने लगी कि ननकी किसके साथ जा रही

है? क्या कर रही है? पर मौसी अविश्वास करती रहीं, टालती रहीं, 'मजाक कर रही हो' ऐसा कह कर बचाती रहीं और अंत में झुंझला कर बोलीं-“ ऐसा होगा तो सब जनी काट के फेंक देंगे उन्हें।”

तब मेरे मन में गुंजा कि कहीं मौसी भी तो मन ही मन यह नहीं चाहतीं कि ननकी उसी मोटर साइकिल वाले के साथ कहीं चली जाए! कहीं भी! जहन्नुम में भी!

क्या सब लोग अपने जीवन से इतना फेडअप हो चुके थे ?!!!

मौसी अपना ही सुनाने को आतुर थीं।

“बिट्टो, पता है, काम तो मिल गया है दामोदर जी को, बकिर पैसा का कुछ हिसाब नहीं। मनमाना है। जब खुश होंगे जेठ जी तो दस बीस रूपया दे देंगे। नहीं तो कह देंगे कि जब फायदा होगा तब देंगे। घोर नाइंसाफी है। लड़का घर समझ के रात दिन लगा है। दुकान खोलने, साफ सफाई से ले कर सौदा सुलुफ के काम के लिए भी दौड़ाएंगे, बकिर पैसे के टाइम भूल जाएंगे। दामोदर जी भी न समझते हैं। उन्हें घर का काम लगता है। यही काम किसी और की दुकान में करें तो कुछ फायदा हो मगर किसी और की दुकान में सफाई न करेंगे, झाड़ू न देंगे, तब पंडित जी बन जायेंगे और इ लोग, जो न करा लें।” मौसी ने लगभग रोनी आवाज में कहा।

इसके तुरंत बाद ही उन्होंने फिर से बात को मोड़ दिया और मन का एक और कोना खोला-“ हमें तो अपना लड़का दिख रहा है बिट्टो। लड़का प्रसन्न है। काम में लगा है। हमें जाति पाँति से क्या? लेकिन तुम्हारे मौसा जी न समझे हैं। कहारिन के नीचे लड़का काम कर रहा है, ये उन्हें गँवारा न हो रहा है। बात बात में जहरबुझा तीर हमें मारते रहते हैं। खुद नहीं छुड़ा पाते। नहीं जँच रहा है तो रोक दें, बकिर नहीं, रोकने के लिए तो हम बने हैं न! हमहूँ नहीं रोकेंगे बिट्टो। लड़का काम में लगा तो है, ये जान रहे हैं तो हम भी तो जान रहे हैं।”

यह मौसी की रोने से एकदम उलट आवाज थी।

मनसेधू, तोरा नगर बासंती...

(आत्मकथा - 3)

एक बसंती पीला, खिलने खिलने को होता गुलाब मेरे हाथ में था। ओस कण की केवल एक झिलमिलाती बूंद उसकी हेम काया पर थिरक रही थी। जरा सा असावधान हुई कि यह खो जाएगी। मैं इस कण के खो जाने की संभावना को बचा ले जाना चाहती हूँ। कम से कम अभी या कम से कम जब तक मैं बचा पाती।

हथेली जैसे एक आँगन थी। मिट्टी की किनारे बनी क्यारियों में जैसे यह पीला फूल खिलने को आया था। इसे प्यार दुलार के जल से नहलाना था। हवा, मिट्टी के साथ थोड़ी उष्मा जीवन की, इसमें डालनी थी। फिर यह फूलता, निखरता। जीवन का खिलना ऐसा, कोई देखता!

मैंने बहुत आहिस्ता से, बहुत संभाल कर पूरा आँगन उसके सामने रख दिया।

“सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता को तुम नहीं समझती! पढ़ो, वह किताब। जो पिछले दिनों तुम्हें दिया था।” उसने हँस कर कहा था।

“कोई कोई अहसास बचाने का मन होता है। तुम इसे समझते ही नहीं। कुछ बहुत

कोमल, कुछ बहुत महीन बुना होता है, उसे उतनी ही कोमलता से बरतना होता है। टूट न जाए, इसका ख्याल रखना होता है।”

यह मैंने सोचा। कहा नहीं। अचानक ही कहना व्यर्थ लगने लगा। कभी अचानक ही हम कितनी चीजों से छूट जाते हैं। बिना किसी प्रयास के, बिना किसी हिम्मत की कोशिश के। ऐसे ही अकस्मात मैं छूट निकली हूँ और अपने शब्दों को बहा देना चाहती हूँ अनन्त की ओर। कहते हैं कि शब्द नहीं मरते। तो ये भी नहीं मरेंगे। कहीं पहुँच जायेंगे। किसी जगह, किसी छोर तक। वहाँ, कोई इन्हें जान ले शायद। कोई इन्हें समझ ले। शायद। समझ ही ले।

“तुमने पढ़ा ही नहीं होगा। अब कहोगी अंग्रेजी में है। तो अभ्यास करो अंग्रेजी में पढ़ने का। और ये क्या बचपना है?” वह हँसा। वही अपनी गंभीर सी हँसी।

मेरे आँगन में खिला फूल उसने किनारे रख दिया।

बचपने का बहुत कुछ किनारे रख दिया!

किनारे रख दिया कि उसे, उसके जल, मिट्टी, वायु और उष्मा से किनारे कर दिया!

ओस कण की बूंद - एकमात्र ठिठकी सी बूंद जाने कब हिली और लुढ़क कर विलीन हो गई। कहाँ विलीन हुई होगी? एक दूसरी वस्तु सत्ता में! फूल की वस्तुगत सत्ता थी। एक वस्तु और क्या? बस, वस्तु भर! वस्तु की सत्ता भी वस्तु भर है या उपयोग भर? उससे बहस कर के क्या होगा, वह अंत तक हार नहीं मानेगा। हार जाने के बाद भी नहीं! मैं यह नहीं देखना चाहती। अपने प्रिय को हारता और हार कर, हार न मानता हुआ देख कर कौन खुश होगा?

लेकिन करेक्शन तो लगाना ही होगा।

करेक्शन जरूरी सच है। इसे भी वह समझ पायेगा?

मैंने किताब अब तक नहीं पढ़ी थी। किताब से वह छांट छांट कर उद्धरण दे सकता था। मैं किताब की बात टाल रही थी। असल में किताब बोरिंग थी। बहुत उबाऊ। जीवन उसमें था ही नहीं। रंगों छंदों में बिखरा जीवन। यह बात भी मैं उससे कई तरह से कहना चाहती थी। पर वह अपनी रौ से बाहर ही नहीं आता था। जीनियस रौ। जीनियस झक।

“मैं अपनी झक को बहुत प्यार करता हूँ।” वह गर्व के साथ ऐलान कर सकता था।

मैं नहीं कर सकती थी। मैं इस पर ठहर कर विचार करने लगती थी। मेरी झक है क्या? और अगर है भी तो मैं उसे कितना प्यार करती हूँ? करती भी हूँ या कि नहीं कर पाती? या कि अपनी झक से डरती हूँ या कि, इसी डर से पार जाने की कोशिश है सारी।

यह भी कि अगर दुनिया का हर आदमी अपनी अपनी झक से प्यार करे, सबसे ज्यादा, तो कैसी अनोखी बन जाएगी यह दुनिया?

“हम अब बच्चे नहीं रहे। तुम भी कुछ बड़ी हो जाओ।”

हँसी तुम्हारी मुझे चीरती हुई निकलती चली गई। क्या सचमुच मुझे बड़ा हो जाना चाहिए? जीवन की यह खूबसूरती क्या बचपना भर है? या कि बचपना ही है जो समेटे हुए है अब तक थोड़ी सी कोमलता, थोड़ा सा प्यार, थोड़ा सा भरोसा, थोड़ी सी निश्चल हँसी.... आदमी हर पल एक गंभीर मुद्रा ओढ़े रहे तो जीवन कितना बोझिल होने लगे।

“मेरे पास मेरा फूल हो तो मुझे दूसरे फूलों का क्या?” कुछ सोचते हुए तुमने कहा था। हो सकता है कि तुम्हें लगा हो कि मुझे हर्ट कर चुके हो या शायद अब कुछ मेरी निकटता की इच्छा हो आई हो? क्या पता? फिर तुमने अपने परिचित से अंदाज में मुझे अपनी तरफ खींच लिया। मैं खिंच आई।

मेरा आँगन छूट गया। हथेली चली आई।

फूल छूट गया। खुशबू नहीं छूटी।

क्या था इस खिंच आने में? अब तक सोचती हूँ। मेरी अपनी झक तो नहीं थी! या कि मैं कुछ खोज रही थी, जिसकी कोई गंध तुम्हारे भीतर से उठने की संभावना लगती थी। लगती रहती थी, यह मैं जानने लगी थी। इस संभावना को पकड़ लेना चाहती थी।

तुम हँसे हो। जीनियस हो, हँस सकते हो। जीनियस दुनिया पर हँस सकता है। ऐसा मानते हैं। जो मानते हैं, उनसे मैं कभी मिल नहीं पाई। कुछ मर भी गए होंगे। काल कवलित कहना चाहिए था। एक बहुत ब्लंट भाषा आ जाती है बार बार। चाहने न चाहने की बात नहीं है, जीवन की खरोँचे भाषा भी बदलती ही हैं। तो जीनियस दुनिया से उपर उठ कर दुनिया को देखता है और उसे छोटा, बहुत छोटा, एक गोलाकार भर मान सकता है! गोले को अपने पैर के नाखून से ठेल देने की बात भी कह सकता है! इसी गोले को उधाड़ उधाड़ कर उसके वस्तुगत यथार्थ को खोल भी सकता है! जिगरा है भई, उसी का-?!

मैं तो इसी ग्लोब के भीतर, इसी में लुढ़कती हुई, अपने को स्थिर करने के लिए कितना बल लगाती हूँ। दम साधे, जी जान से जुटी हूँ कि कोई हिला दे तो न हिलने की हिम्मत में रहूँ, पैर न डिगें, मन के झील की हिलोरें फेन उगलती सिंधु की प्रलयकारी लहरों की तरह पछाड़ खा खा कर गिरने को न हो जायें! मेरी संभाल से बाहर। मेरी मुट्ठी से फिसलती हुई।

“शचीन्द्र। शचीन्द्र। ओह शचीन्द्र।”

मैंने कैसे बार बार तुम्हारी छाती के भीतर तक मुँह गड़ा कर कहा है। किस गहरे समंदर से उफन कर यह स्वर उपर उठ आया है।

कितने पहले की बात है ये। लगता नहीं! लगता है बस, अभी सब होता हुआ गुजरा है। एकदम अभी।

तुम्हारे साथ का यह थोड़ा सा वक्त, बस, खत्म हो जाने के लिए था। घड़ी की सुई मेरे लिए नहीं रुक सकती थी।

“बिट्टो! बिट्टो, तुम हो ही ऐसी। मक्खन की तरह।”

यह क्या! किसी खाने की चीज से तुलना? कोई और वक्त होता तो मैं बहुत धक्का खा जाती। मुझे यह हद दर्जे नापसंद है। लेकिन अभी जब तुमने कहा, ऐसे सघन क्षण में कहा, तो इसे मैंने कुछ और तरह से पढ़ लिया। मानो यह सिर्फ मिठास का, मन की अतल गहराइयों में खो जाने का पर्याय भर हो। इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता।

“मुझे किसी रजिस्ट्रेशन की जरूरत नहीं है।”

तुमने कह दिया था।

मैंने मान लिया था।

इससे ज्यादा और क्या कहा जाता!

इससे ज्यादा और क्या सुनने को बेचैन हुआ जाता!

“जो सुनना है, बोलो, मैं कह दूँ।” तुमने पूरा का पूरा ढक दिया था। मैं अलग से कुछ रह ही नहीं गई। तुम भी नहीं रह गए होंगे। कम से कम उस क्षण तो बिल्कुल नहीं। अपनी सारी तर्क शक्ति के बावजूद उस क्षण तो बिल्कुल नहीं।

तुम्हें तो ध्यान भी नहीं होगा। कैसे मैं तुम्हें अपलक रात भर देखती रहती हूँ! तुम आँख बंद कर लेते हो। सोने लगते हो। मैं नहीं सो पाती। जाने कौन से अचरज से मेरी आँखें खुली रहती हैं। तुम्हें ताकती, निहारती, तुम्हें छूती। आँखों की इस छुअन को तुम जान पाते होंगे?

जैसे लगता है कि जान कर ही अचानक अपनी बाँह उठा कर मुझे लपेट लेते हो। मुड़ते हो जरा सा और मुझे एकदम सीने में चिपका लेते हो। जान जाते होगे तभी तो बीच में कह देते हो -“ सोओ। सो जाओ।” मैं फिर भी नहीं सो पाती। ऐसा पल सो जाने के लिए नहीं है। सो कर बिता देने के लिए नहीं है। ऐसा पल जीती जागती आँखों में भर लेने के लिए, रोम रोम में समा लेने के लिए है। पता नहीं किस जन्म में मिलेगा ऐसा पल। और तुम हो कि सो रहे हो आँख बंद किए।

“आज न सोओ।” मन करता है कि तुम्हें कह दूँ। जगा दूँ। एक रात न सोओ। एक रात अपनी नींद की रातों में से कम कर दो। एक रात कम कर देने से तमाम तुम्हारी नींद की रातों का ऐसा क्या घाटा हो जाएगा?

“आज की रात न सोओ।” नहीं कह पाती।

तुम्हें जगाने के लिए उठा हाथ तुम्हें थपकाने लगता है, सहलाने लगता है।

दुलरा कर चूम चूम लेती हूँ तुम्हें।

चूमती हूँ इतने धीरे से कि तुम्हारी नींद को पता भी न चले।

तुम्हें छू लूँ और तुम जागने भी न पाओ।

नींद से किसी को जगाना पाप है, ऐसा सुना था। पता नहीं किससे? ऐसी सुंदर सी नींद आती ही कैसे होगी ! ऐसे जमाने में ऐसी नींद। सचमुच पाप ही लग जाए जो ऐसी नींद वाले को जगा दे कोई। नहीं, नहीं जगाउंगी। तुम्हें सोते हुए देखूँगी। ‘आज मत सोओ।’ यह कहना बचा लूँगी। किसी और रात के लिए सजो लूँगी। तब कहूँगी। इस आस में कहूँगी कि तुम मान लोगे मेरी बात। कौन से प्रेमी ने अपनी प्रेमिका की ऐसी बात नहीं मानी, बताओ। इतिहास उठा कर दिखाओ।

चलो छोड़ो! ये दुनियाबी बातें! यही कहोगे न! यही कह कर हँसोगे न! अभी तो सो लो। और ऐसे सोता है कोई, मुस्कराते हुए। स्वर्ग का राज मिल गया हो जैसे। कोई गड़ा खजाना हाथ आ गया हो। ऐसे, इस अभिमान से मुस्करा रहे हो। आँखें बंद हैं और चेहरा प्रसन्नता से भरा है। तुम्हारे इन मुस्कराते होंठों को चूमने का दिल कर आता है। बार बार। नींद में डूबे किसी आदमी की मुस्कराहट को ऐसे चाहना में छलक कर चूमा है कभी किसी ने! मैंने कहीं नहीं पढ़ा। सुना भी नहीं।

मैं तुम्हारे सीने में लिपटी हुई अपनी चाहना में छलक पड़ी हूँ।

थोड़ा सा हिल कर इतनी जगह बना लेती हूँ कि एकदम से इस क्षण को पकड़ लूँ। तुम्हारी मुस्कान को भर लूँ अपनी सासों में, धमनियों में, रक्त में.....

छलकती हुई मैं तुम्हारे होंठों पर बिखर गई हूँ।

आखिर छलका हुआ जल कहीं तो गिरेगा।

कोई तो उसकी इच्छित भूमि होगी।

मेरी यही है। तुम्हारी जगर मगर करती मुस्कराहट.....

सोते हुए तुम कुनमुना कर जग गए हो। अपनी विशाल देह की एक चादर ओढ़ा दी है मुझे। मैं छिप गयी हूँ इसमें। समा गयी हूँ इसमें। एकाकार हो गयी हूँ इसमें। कुछ दूसरा बचा ही नहीं है। न अलग, न थलग। कुछ भी नहीं।

ऐसे जब तुम छिपा लेते हो मुझे, तो मैं खुद को कितना कितना सुरक्षित महसूस करती हूँ। तुम्हारा हाथ, हथेलियाँ - बड़ी, चौड़ी, मेरा हाथ, हथेलियाँ- छोटी, पतली, तुम्हारी हथेलियों में समा जाती हैं। जैसे मेरी छोटी सी देह तुम्हारी देह में छिप जाती है।

प्रेम की अगर सचमुच कोई अलग सी भाषा होती होगी तो वह ऐसी ही होगी - तुम्हारी मुस्कराहट जैसी। कोई रंग होता होगा तो ऐसा ही होगा - इस समय तुम्हारे चेहरे पर पसरा है जो.....

“तुम्हारी छाती पर चढ़ कर कहा रहा हूँ आई लव यू। कभी किसी ने कहा है ऐसे - दुनिया में किसी को? बताओ।” तुम दुलरा कर कहते हो।

पता नहीं कौन कौन से फूलों के पराग महक उठते हैं। पता नहीं कौन कौन से रंग खिल उठते हैं।

तुमने कह दिया था। मैंने मान लिया था।

इतना ही सच था।

इसके आर पार मैं नहीं गई।

कोशिश भी नहीं किया।

तुमने कह दिया, इतना जो कह दिया तो भला कौन सी मुझे ही परवाह रह गई इस दुनिया के नियमों, बंधनों की। मैं तो बिल्कुल नहीं जाना चाहती थी रीति रिवाजों के कूर संसार में। जहाँ सजा धजा कर औरत को बलिबेदी पर बैठा दिया जाता है। मैं झेल चुकी थी यह सब। मेरी झोली में ऐसे अनुभव अपनी पूरी तीव्रता का अहसास कराते दूँसे पड़े थे। पूरी सदी भर अनुभव।

पता नहीं वह कौन सा क्षण होता है जहाँ मैं रुक जाती हूँ और कुछ और ही तरह से देखने लगती हूँ। शंका करने लगती हूँ। कुछ और हो जाती हूँ। तुम्हें नहीं बता पाती। हर बार जब तुम तक आती हूँ तो अपने साथ एक भारी भरकम पिटारा लिए आती हूँ। वही, मेरी अनुभवों की झोली, दुख, अपमान, तिरस्कार, पीड़ा या और जो भी शब्द दिए गए हों इसके लिए, वे सब के सब इसमें भरे पड़े हैं। उपर तक दूँसे। हर बार सोचती हूँ कि तुम्हारे आगे खोल दूंगी इसे। हर बार रह जाता है। वापस, वैसा ही। जानते हो इतनी भारी भरकम गठरी ढो कर लाने और फिर ढो कर वापस ले जाने में मैं कितना थक जाती हूँ। बड़ी भारी थकान है यह। एक सदी से भी भारी। युग कल्प से भी भारी। अब तुम्हें क्या बताऊँ कि हर बार की तरह इस बार भी तुम इसे अगली बार सुनने को कह दोगे। फिर ऐसी अलमस्त नींद तुम्हारी। यह बोझ वाला पिटारा खलल ही तो होगा।

छोड़ो, सचमुच फिर कभी।

फिर ले जाती हूँ वापस।

तो जो मैं नहीं कह पायी, पर तुम्हीं से जो कहने को आकुल व्याकुल होती रही, वही मैं आज अपने आप से कहती हूँ कि अगर कोई दिन और रात में गिनती करने बैठे तो कह सकता है कि मैं कोई डेढ़ साल रही उस संसार में, जिसे शादी शुदा जिंदगी कहते हैं। मैं इसे डेढ़ साल में अटा नहीं पाती हूँ। मुझे यह बड़ा लगता है। बहुत बड़ा। जिंदगी की सारी गिनतियों से बड़ा। सौ, हजार, लाख, करोड़, शंख, महाशंख..... मतलब कुल मिला कर तब तक, जब तक कि वहाँ मैं रहती चली गई। तब तक, जब तक कि इस हद तक मुझमें भय नहीं भर गया कि अब नहीं भागी तो आगे नहीं बच पाऊँगी! जीने की इच्छा से फूटी आखिरी हद पार कर जाने वाली हिम्मत भी इसे कहा जा सकता है।

मैं कोई पहली लड़की तो थी नहीं, जो ससुराल से भाग आई थी। मुझसे पहले जो लड़कियाँ भागी थीं, उनका कोई उपलब्ध रिकार्ड भी मेरे पास नहीं था। पर एक नाम मेरे पास था। अपनी ही बड़ी बहन का। दीदी। हाँ, दीदी मुझसे पहले भाग आई थीं। मुझसे पहले वे लड़

कर, भिड़ कर, चीख कर देख चुकी थीं। मुझसे पहले उन्होंने मायके वाले परिवार को अपना परिवार कहने की जुर्रत कर डाली थी। मुझसे पहले उन्हें मायके के लोग बेगाने दिखाई पड़े थे। मुझसे पहले वे माँ की तरफ उम्मीदभरी नजरों से देख चुकी थीं। मुझसे पहले वे माँ की समझाइश की सारी चालाकियाँ, सारे ताने और अवमानना के सारे दंश तहा तहा कर रख चुकी थीं। मुझसे पहले वे माँ पर सामंती मानसिकता की पुतली होने का आरोप लगा चुकी थीं। मुझसे पहले माँ से उनकी ठन चुकी थी। दुनिया से भी। मेरे सामने वे हार रही थीं। मेरे सामने उनके हथियार भोथरे हो रहे थे। मेरा काम उनके अजमाये तरीके से नहीं चल सकता था। 'वित्त-विहीन आदमी हार जाता है' यह पाठ मेरे आगे खुल रहा था। रोज ऐसे अनुभवों का कुएं भर जल आता और मेरे आगे पसर कर नदी की तरह रास्ता बना लेने की जिद करने लगता। मैं रोज इसे पढ़ती, बाँचती, गुनती। मैं रोज निर्णय करती कि उन दिशाओं को जानना है, जिधर से वित्त आता है। उसी तरफ जाना है। लेकिन समस्या सम्मानित वित्त की थी। माने क्वालिटी धन। इसके लिए पढ़ना और नौकरी करना ही सूझा था। मैं दीदी की तरह नहीं लड़ सकती थी। मैं कुछ और तरह से लड़ना चाहती थी। इस लड़ाई की पूरी सामरिकी स्पष्ट नहीं हो पाती थी तो बड़ी बेचैनी होती थी। तमाम किताबों की तरफ इसीलिए जाती थी, चाहे वे कितनी ही बोरिंग हों, मैं पूरी कोशिश करती थी। तमाम लोगों से, जो दूसरों के हक की बात करते थे, इसलिए मिलने को उतावली हो उठती थी। इसी क्रम में लोगों के हक की बात करने वाले शचीन्द्र से भी मिली थी। शचीन्द्र से मिल कर बहुत राहत मिली थी। उसकी बातें मुझे सारे दिन याद रहतीं। सारी रात मैं उन पर सोचती। तमाम प्रश्न उठते तो मैं उन्हें तब तक संभाले रखती, जब तक कि शचीन्द्र से दुबारा मुलाकात न हो जाए। शचीन्द्र मेरे तहाए प्रश्नों को बड़ी गंभीरता से उठा लेता, फिर भारतीय पारिवारिक ढाँचे को समझाता, बेहद सैद्धान्तिक तरीके से। व्यावहारिक अनुभव से वह नहीं बोलता था। सिद्धांतों को कभी परखता भी नहीं था। यह भी मैंने कितने बाद में जाना। सिद्धांतों पर अंधविश्वास करना, अंध श्रद्धा ही उसके लिए पहली और आखिरी शर्त थी। मैं चकित सी उसका मुँह देखती। देखती इस तरह कि उसका मुँह देखते देखते बहुत प्यारा लगने लगता। मैं भूल जाती कि वह जो कह रहा है, वह किस विषय पर है? पता चलता कि उसका प्रवचन था शिक्षा व्यवस्था पर और मैं बता बैठी कुछ और। वह नाराज हो जाता।

“तुममें लगन तो है। पर ध्यान भटकाती रहती हो। ये लो दो किताबें। ध्यान से पढ़ना।”

किताबें मैं ले लेती। मैं भी समझना चाहती थी कि आखिर यह सब परिवार, समाज, वर्ग, जाति, लिंग और अंततः इन सब में स्त्री की स्थिति क्या है? लेकिन प्रवचन रुक जाता। शचीन्द्र का भाषण देता चेहरा दूसरी तरफ मुड़ जाता। वह उठ खड़ा होता। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। लेकिन यह भी ठीक न लगता कि मैं उसे बोलते रहने के लिए रोक लूं। फिर सब दोस्त मित्र इधर उधर घूमते। इधर उधर घूमते जोर जोर से बतियाते, बहसते, चाय पीते। किसी के पास कुछ पैसे होते तो पकौड़े खा लेते। और ज्यादा होते तो दारू पी लेते। मैं इससे बाहर हो जाती। अँधेरा होते मुझे लौटना होता। इसके लिए तुम्हीं सब मुझे डरपोक, कायर, स्वतंत्रता के हसीन सपनें देखने वाली शेख चिल्ली आदि आदि कहते और यह भी कि 'ऐसे दुनिया नहीं बदलती' जैसे जुमले सुना का टांट कसते। दुखी करते। पहले मुझे लगता था कि मैं बेहद कमजोर और डरपोक हूँ। थी ही। लेकिन मुझे तुम सबका यह तरीका, इससे भी दुनिया बदल जाएगी, यकीन करने लायक न लगता। पर मैं यकीन करती। बाकी कोई तो इतना भी नहीं बोल रहा था। यहाँ इतना तो था। लड़कियाँ इनके गोल में बोल बतिया पाती थीं। ढाबे

पर चाय पी लेती थीं। थोड़ा हँस भी लेती ही थीं। इससे ज्यादा नहीं। पर इतना तो था ही।

“अपने हक की लड़ाई को ऐसे सबके हक की लड़ाई में बदल कर लड़ना, बड़ा लड़ना है।”

शचीन्द्र ने यही कहा था। पहली ही मुलाकात में। बात एकदम पते की थी। किसे इंकार हो सकता था भला! मैंने भी इसे ही पकड़ा था। अपनी तरफ से एक बड़ी लड़ाई की तरफ जाने की कोशिश भी की थी।

“शचीन्द्र, आज मैंने एक फासला तय कर लिया। नौकरी। नौकरी मिल गई आखिरकार।” मैंने सबसे पहले शचीन्द्र को ही यह खबर दी थी। हाथ में कागज पकड़े दौड़ी चली आई थी। सोचा ही नहीं था कि जरा थिर हो लूं। बस, दौड़ पड़ी। कागज आगे कर दिया। मन हुआ आज पहली बार कि शचीन्द्र के गले लग कर रो पड़ूं। बस, डर से गले नहीं लगी और रोई भी नहीं। कहीं हँस न पड़े, मजाक न उड़ा दे, यही सोच कर रुक गई।

“वाह! वाह! यह तो गजब की खबर है। अरे मेरी बिट्टो! बिट्टो!”

फिर कुछ और बल दे कर कहा-“ बिट्टो रे, जीत की तरफ है तू तो। गुड, बेरीगुड।” और न जाने किस पल में उसने मुझे गले से लगा लिया। उसी आवेश में भींच लिया।

मैं खड़ी रह गयी। अपने को भूली हुई। रोना, हँसना सब इस अपनेपन में बहने लगा।

“तुझे नौकरी मिल गयी तो जैसे मुझे मिल गयी। मैं बहुत खुश हूँ। बहुत। बहुत। सच में।” यह उद्गार हृदय से ऐसे फूटे थे, जैसे कहीं कोई झरना गड़ा था, जिसका पता किसी को नहीं था। पर जो था ही। वही, आज उमग कर बह निकला था। वह मुझे थामे कितने चक्कर मुड़ मुड़ कर कहता रहा। न जाने क्या क्या कहता रहा। मैं चकित खिंची उसी के बहाव में बहती रही।

“आज निश्चिंत हो गया मैं। खर्चा तो अब चल ही जायेगा हमारा। दोनों में से एक के पास खर्चा उठाने का रास्ता होना चाहिए। लो अब हो गया। हो गया न। बोलो। बोलो।” वह मुझे हिला हिला कर कहता रहा।

“मैं यौन शुचिता को नहीं मानता। तू पवित्र है मेरे लिए। उतनी ही पवित्र जितनी हमेशा से थी।” उसने मुझे कंधे से पकड़ कर धीरे से कहा।

“क्या कह रहे हो? कहने की क्या जरूरत है? मैं जानती हूँ तभी तो तुम पर भरोसा कर रही हूँ। और मुझे कभी लगा ही नहीं कि मैं कहीं से अपवित्र भी हो सकती हूँ? मैं हमेशा से पवित्र हूँ। बोलो। है न?” मैंने आवाज में बहुत भरोसा भर कर कहा। मानो उसके इस उद्गार में जो कुछ ऐसा था, जो कुछ मुझे ठीक सा नहीं लगा था, उसे भरोसे के इस जल से धो कर निर्मल कर दूंगी।

वह मेरे कंधे पर झुक आया। कितनी ही रात तक हम बैठे रहे। सरिता का सैकत कूल हमारा गवाह रहा। नदी का तट हमें दुलराता रहा। नदी का जल हमें शीतल करता रहा। नदी तट के पल्लव - पाखी हमारे लिए मंगल गान गाते रहे। मंद सुगंधित हवाएं श्रृंगार करती टहलती रही।

वह कहता रहा। मैं न जाने क्या सुनती रही! न जाने किस रस में भीगती रही! न जाने कौन से समंदर की अतल गहराई में तैरने लगी! मैं कुछ भी न समझने की तरह सिर हिलाती रही! भूली, भूली, ठहरी ठहरी, चुपचाप! जब तक कि शचीन्द्र ने मेरा पूरा चेहरा अपने हाथों में भर न लिया। मैं थोड़ा सा कुनमुनाई थी। मुझे याद है। तुमने थपका था। कोई मीठी, गुलगुले सी लोरी थी जैसे, मैं बेहोश सी थी। किसी जादू के वशीभूत। जादू ही था।

“बोल कि लव आजाद हैं तेरे, बोल कि जुबाँ अब तक तेरी है.....”

किस बात का कौल भरवा रहा था वह मुझसे ? मैं तो कब की थकी, आज उसी की बाँहों में लम्बा आराम पाना चाहती थी।

मैंने आँखें बंद कर लीं। अपना सिर तुम्हारे कंधे पर टिका दिया। तुम्हारी हथेलियों में अपनी हथेली रख दी।

“हाँ। तुम्हीं हो। तुम्हीं रहोगे। और कोई नहीं।” मैंने कहा था। पूरे मन, वचन, कर्म से।

इससे अधिक भी क्या कहा जाता!

इससे अधिक सुनने को भी क्या होना था!

हमारी गवाह नदी थी। पेड़ पल्लव थे। पाखी के मंगल गान थे। हवाएं भी थीं ही।

तुमने माना था। प्रकृति को साक्षी रख कर। मैंने माना था। बाकी सब आडम्बर था।

“तो चलो, सालाना चंदा भरो पहले।” तुमने हँस कर मुझे खींचा था।

मैं भी हँसी थी। ऐसे समय ऐसी बात! तुम्हें सूझ सकती थी! तुम हो ही ऐसे!

छात्र हित के लिए चंदा मांग सकते हो, कभी भी!

“चंदा। हाँ, हाँ, क्यों नहीं।” मैंने एक दूसरी दुनिया से निकल कर कहा।

मुझे थोड़ा वक्त लगा था। मैं चेत गई थी। लजा उठी थी। यह क्या कर रही थी। इतने खुले आम। तुम मेरे लजा जाने पर हँसे थे। हँस कर मुझे खींचा था। मैं खिंच आई थी। तुम्हारे माथे की सलवटें कितनी सुंदर, मनोहर, भव्य, रमणीय.... या जो भी शब्द सटीक बैठता हो, बस, वैसी लग रही थीं। तुम्हें देख कर मुझे यकीन होने लगता था कि यह दुनिया बदल जाएगी एक दिन जरूर। एक दिन औरतें खुली हवा में सांस लेने लगेंगी। एक दिन मेरी माँ भी डरना भूल जाएगी। बहुत डरती है मेरी माँ, मैं तुम्हें एक दिन कहूँगी। डरती है इसलिए लड़कियों को और भी ज्यादा कड़ाई से चारदीवारी के अंदर रखना चाहती है। वह सबको खुश देखना चाहती है। सबको, मतलब जो घर में ताकतवर हैं, उन सबको। बाकी सब खुश रहने के दायरे से बहुत पीछे हैं, बहुत पीछे। हाशिए के कोर पर लटके हुए। उसके पास सहानुभूति से नहीं जाया जा सकता। वह इसे सहानुभूति की बजाय अपना काम कुछ पूरा हुआ सा मान कर कब्जे की स्थिति को और बढ़ा देती है। हे प्रभु! सचमुच यह दुनिया बदले और सारी माएँ भय मुक्त हो जाएं। मैं दुआ करती हूँ। किसी ईश्वर को नहीं जानती मैं। बस, दुआ जानती हूँ।

मैं तुमसे अपना सब सपना साझा करना चाहती हूँ।

मैं तुम्हारे साथ मिल कर अपनी पुरानी, वही सदियों पुरानी लड़ाई में मजबूत होना चाहती हूँ।

दुनिया की मरम्मत करना चाहती हूँ।

चाहती हूँ कि मेरा यह सब तुम जान लो।

मेरा वह सब, जो अतीत से टूट टूट कर वर्तमान में भर भर आता है, वह सब।

कोई सुंदर शब्द आएँ और छलछला कर तुम्हारे आगे बिखर जाएँ। तुम उन्हें समेटो, सहेजो, रख लो अपने अन्तरमन की संदूकची में।

मैं कुछ न कहूँ। सीधे शब्दों में कहना जितना मुश्किल है, यह बताना भी उतना ही। अब ऐसा क्या रह गया कि शब्दों की एक अलग छतरी तानी जाएँ, तब कहीं हम भावनाओं

के ताप, शीत और बरसात से बच जाएँ। अंधड़ हमें बहा न ले जाएं, इसके जतन में लगे रहें? अरे नहीं, मैं हाथ तुम्हारी तरफ बढ़ाऊँ तो सब बढ़ जाएगा तुम्हारी ही ओर। पूरा का पूरा जीवन।

“चाय।” तुमने धीरे से चाय का कुल्हड़ मुझे थमाया है।

कब ले आए मुझे इस ढाबे तक?

देखो, कैसे नींद में चली जा रही हूँ !

बादलों में तैरती सतरंगी पंखों वाली परी हो गयी हूँ!

“संभालो अपने को। माथे का टेंशन पोंछो। नौकरी की खुशी में चाय का तो पेमेंट करो।”

मैं शर्मिन्दा हो उठी। सचमुच कैसे भूल बैठी हूँ जग - वग सब!

तुम्हारा हाथ थामें चली आई हूँ निर्णय की इस डगर पर।

एक भविष्य भरा- पूरा, मेरे आगे आगे चल रहा है।

तुम्हारा पैनापन पानी की तरह बह रहा है। तुम्हारे तर्क चमचमाते हुए खिल रहे हैं। सूरज का ताप जैसे शीतल हो उठा है। मैं हूँ तुम्हारे अहसास के समंदर में बिछलती और तुम हो अपनी बलिष्ठ देह में चमचमाते सुनहरे। अपने स्पर्श से दुलराते, सहलाते, झुकते, चूमते, छाते हुए.....

फिर, फिर, यह क्या ? इतने परेशान हो उठे हो? इतना संघर्ष कर रहे हो अपने आप से! अपने छोटे से अंग को इतना रगड़ रहे हो, पर वह है कि अपनी सुप्तावस्था से बाहर ही नहीं आता। भय से सिकुड़ कर बैठे किसी केंचुए सा.... या शायद छिपकली के छू जाने से पैदा हुए अहसास जैसा.... या शायद..... मुझे सूझ नहीं रहा कि क्या कहूँ? कि क्या करूँ?

सारा आलोड़न विलोड़न रुक गया है!

सारा शोर थम गया है!

तुम अपनी असमर्थता में काँप रहे हो!

अपनी जान भर जूझ रहे हो। आखिरकार थक कर गिर गए हो। हारे हुए भी और पस्त भी।

मैं न हारी, न थकी। फिर क्यों लग रहा है कि जैसे ढह गयी हूँ!

कोई रेत का टीला अभी अभी भरभरा कर गिर गया है!

कितनी ही देर तक कोई शब्द नहीं आया। आ ही नहीं पाया!

कुछ कहने को होती तो कहना रह जाता।

कैसे कहा जाए? यही संकट था।

कैसे सुना जाएगा? यही चिंता थी।

“कब से?” बड़ी मुश्किल से मेरे मुँह से निकला है।

“कुछ दिन से, कुछ महीनों से.... पता नहीं.....” तुम कह नहीं पा रहे हो। शब्द किसी अज्ञात लोक से चल कर आए लग रहे हैं। थके, परेशान, बेचारे शब्द।

“तुमने बताया क्यों नहीं? अपना नहीं माना मुझे?” मैं इतनी कमजोर सी आवाज में कह रही हूँ जैसे दूर किसी खाई में खड़ी हूँ। जहाँ से बोलूंगी तो आवाज गूँज कर कई टुकड़ों में बिखर जाएगी। पता नहीं उस तक पहुँचेगी भी कि नहीं, जिसे सुनाना था?

तुम्हारे कंधे पर सिर रख कर सो रही हूँ। सो रही हूँ या केवल सोने का अभिनय कर रही हूँ। तुम भी, शायद तुम भी सोने का अभिनय कर रहे हो। मुझे ऐसा ही लग रहा है। पता नहीं किस सागर तट पर तूफान तट बंध तोड़ आया था, पता नहीं किस नदी ने करवट

ली थी कि सारा जल उमड़ा चला आ रहा था। इधर, इधर, मेरी आँखों की खाली पड़ी जगह में। तुम्हारी आँखों की खाली पड़ी जगह में।

“रो क्यों रही हो?” तुमने कहा नहीं था। बस, मैंने जान लिया था।

“सब ठीक हो जाएगा।” यह भी नहीं कहा गया था।

कहीं हमारा आप, दूसरे में इस तरह मिल जाता है कि बहुत अनकहा भी कहा हो जाता है। बहुत कुछ हम जान लेते हैं। बिना किसी प्रयत्न के हम तक कितना कुछ पहुँच जाता है। तुम तक भी पहुँचता होगा?

तुमने मुझे खींच कर अपनी तरफ कर लिया है। अपने सीने में दुबका लिया है। सारी दुनिया से अलग कर के छिपा लिया है। तुम्हारे नयनों के नीर को मैंने स्नेह से पोंछा है। तुम्हें दुलराया है। यह कोई इतनी बड़ी बात नहीं है। देह के छोटे से सुख के लिए आदमी का इतना बड़ा प्रेम ठुकराया नहीं जा सकता।

मैंने उस रात, जितनी जितनी गहराई से तुम्हें प्यार कर सकती थी, किया था।

पूरी नदी कल कल छल छल बह रही थी और तुम किनारे खड़े थे।

मैं दया से, सहानुभूति से भर उठी हूँ।

“ठीक हो जाएगा। आजकल इतना तो इलाज है। दुनिया भर के तेल और दवाएं...” यह भी मैंने मुश्किल से कहा था। डरते हुए कि कहीं तुम्हें हर्ट न कर दूँ।

“तुम्हें कैसे पता?” अचानक तुम नींद से जागे थे। चकित से, हैरान से!

“पढ़ा था कहीं?”

“कहाँ?”

“शायद किसी अखबार में।”

“ये सब पढ़ने की क्या जरूरत है?”

यह मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। इसमें इतना क्या चौंकना! रोज अखबार ऐसे विज्ञापनों से भरे रहते हैं। कोई भी पढ़ सकता है। मुझे कभी नहीं लगा कि इस पर नजर जाए तो नजर बचा ली जाए। जीवन की असलियत से तो नजर मिलाना होता है। बचाना नहीं। यही जानती थी। यही जीवन ने सिखाया था। सो पढ़ा हुआ जब तब का, अभी याद आ गया था और कह दिया गया था। शायद तुम्हें अच्छा नहीं लगा था। शायद तुम यह सुनना नहीं चाहते थे कि कोई लड़की यह सब भी पढ़ लेती है और पढ़ ही ली है, तो इस पर ज्ञान बघारे, यह तो अशोभन है, यही सोचा होगा। एकदम मेरी माँ की तरह।

मैंने करवट कर लिया।

“ऐसे ही कह दिया था।”

तुमने समझ लिया कि कुछ है जो मुझे नहीं भाया है।

पर इतने बुझे हुए! तुम्हारी चहक! मैं उसे वापस पाना चाहती हूँ।

एक पुराना समय पुराने सिक्कों पर झुका था

लाल और बैंगनी रंग के चटक फूलों वाली आधी बाँह की बुशर्ट और काली जींस पहने, एक अंगुली में मोटर साइकिल की चाभी नचाते, जोड़ सोड़ गुनगुनाते जब मुन्ना जी बँटवारे में मिले उस एकमात्र पुश्तैनी कमरे में, जिसका एक हिस्सा काट छांट कर रसोई में बदल दिया गया था और एक और हिस्सा, दीवार उठा कर बंद दबड़े जैसे पतले कमरे में, जो बहू के लिए था, जिसमें धूप और हवा का प्रवेश निषिद्ध हो जाया करता था, इन सबसे जो कुछ बच गया

था, उसी छत के टुकड़े पर, जिसे बाप दादों की जायदाद माना गया था, तो उसी कमरे में पहुँचे थे। पहुँचते ही ठगे से खड़े रह गए थे। अकस्मात् ही उन्होंने मेले में चलने वाले जादू का एक दृश्य देख लिया था। इससे पहले के बीत गए दृश्यों को नहीं देख पाए थे। इसके बाद के दृश्यों पर नजर गड़ाए खड़े थे।

बल्ब की हल्की पीली रोशनी पुराने जमाने की लकड़ी की चौकी पर गिर रही थी। सफेद झबरीले बालों वाला एक बूढ़ा व्यक्ति उस पर बैठा तन्मय हो कर गुट्टियाँ गिन रहा था। वह इस तरह गुट्टियों पर झुका था, जैसे पुराना समय झुका हो- गहरा, बोझ से लदा, कुछ कुछ बुढ़ता, कुछ अशक्त होता, कुछ धुंधला पड़ता.....। वे इस कदर मगन थे कि मुन्ना जी के छल्ला नचाने और गुनगुनाने से बने एक हल्के पीले और नए बनते समय में घुस नहीं पाए। तब मुन्ना जी ने दो समयों की दूरी को भाँप कर दरवाजे पर से ही हुलस कर कहा-“ का हो गुरु! गुट्टिया कब से गिनै लगला?”

इस पर सफेद झबरीले बालों की माथे पर लटकने से हटाने का हल्का सा उपक्रम कर के बूढ़ा व्यक्ति मुस्कराया।

“एक एक पैसे की कीमत होती है बच्चा! तुम्हारी तरह, इधर मिला उधर उड़ाए, वाले जमाने के हम नहीं हैं।” पुराने समय की धीर गंभीर पुरानी आवाज तैर गयी।

मुन्ना जी एक पल को रुके फिर उन्होंने भी अपना माथा हल्का सा झटका, जैसे कोई बोझ झटक कर पटक दिया हो और हँसे। उन्हें ऐसे तीर तुक्के की आदत थी। बल्कि और पास चले गए, बल्कि और दुलरा कर बोले-“ एक बात कहीं तोहसे।”

लेकिन नजदीक पहुँचते ही बल्ब की पीली गिरती रोशनी ने उन्हें यथार्थ के आश्चर्य से नहला दिया।

“सिक्का! सिक्का गिनत हउवा?” खुशी और हैरानी उनके स्वर से फूट पड़ी।

“हूँ। त ए बेरा कहाँ से ?” अपना ध्यान हटाए बिना बूढ़े व्यक्ति ने कहा।

“ए के छोड़ा बाबू। झोला भर सिक्का कहाँ से पइला?” मुन्ना जी उन्हें छेड़ने लगे। एक सिक्का उठा कर देखने लगे।

“कौन जमाने का हौ भइ? बाजार में न चली तोहार सिक्का। एस बचत कइला तुहूँ।” मुन्ना जी ने भी उन पर वार किया। बचत करने की उनकी पुरानी आदत थी। वे थोड़ा शरमा उठे। लेकिन तत्क्षण जरा सी चिंता भी व्याप गई।

“न चली? आल कल संग्रहालय वाले ऐसी पुरानी चीजें खरीद लेते हैं। कीमत है ऐसी चीजों की।” वे तुनके।

“त जा बेच ला। संग्रहालय वाले खड़े हैं पलक पाँवड़े बिछाए तोहरहीं बदे, यही तोहरे फालतू के झक बदे। जा, ले आवा कछु, हमहूँ तनी देखीं।” मुन्ना जी ने अब एक ऐसा सिक्का उठाया, जो छोटा था और बीच में जिसके छेद था। गिलट का रहा होगा या शायद लोहे का। कभी लोग छोटे बच्चों के गले में काले धागे में पिरो कर इसे पहना देते थे। मुन्ना जी को अचानक ही याद आया कि बड़े समय तक ननकी भी ऐसा ही सिक्का गले में पहने थी। वह सिक्का कहाँ गया? हो सकता है माँ ने कहीं संभाल कर रख दिया हो या क्या पता बाबू ने ही वापस ले लिया हो? क्या पता वह बाबू का था भी कि नहीं? कहीं बचपन में उन्होंने भी तो ऐसी ही माला धारण नहीं किया था!

“रखा। वापस रखा।” शर्म के एक छोटे से क्षण से कब का उबर चुके थे बाबू। वे गुस्सा कर कह रहे थे।

“सोना हौ? तोहरो भूख कभी न मिटी!” मुन्ना जी ने एक और जहरबुझा बाण फेंका। यह भी कोई सोच विचार कर चलाया गया तीर नहीं था, बेध्यानी का ही बाण था, लग गया तो ठीक, न लगा तो अपना कौन सा नुकसान था? इसी तर्ज पर बोला गया था।

“तोहें न समझ आई। एक जमाना था कि गुरु के मुँह से कुछ निकल जाए तो शिष्य जान की बाजी लगा कर पूरा करते थे। पढ़ते तब न जानते गुरु और शिष्य के संबंध को!”

“चुपाइ रहा। मुँह न खुलबाओ हमार। क्या बना दिया गुरुओं ने, हाँ, दलाल बना के रख दिया। एक ठू रहलीं माधवी और उ कौउन शिष्य रहल? गालव की कहानी,..... तुहै सुनउला तो जनलीं और एक ठो एकलव्य की कहानी, ओकर कौनो दोस्त मित्र न रहलें? आज के टाइम त कुल मिला गोल बना के घेर लेते तोहरे गुरुदेव के, का नाम रहल उन कर? द्रोणाचार्य, पिटाई जइतें, आज के टाइम। समझला!” मुन्ना जी ने उनका फेंका तीर उन्हें ही लौटा दिया।

“न पढ़ने लिखने से आदमी का विवेक काम नहीं करता। इसीलिए ऐसा बोल रहे हो।”

मुन्ना जी ने यह सब नहीं सुना। सारे सिक्के एक तरफ खिसकाया और उसकी जगह पॉकेट से निकाल कर पाँच पाँच सौ की दो नोट रख दी।

“आपन फिलॉसफी रहे दो। हमरहू एक ठो फिलॉसफी हौ।”

सिक्का, जिस तरह खिसकाया गया था, उससे बाबू आहत हुए थे, मगर अभी उनका गुस्सा फूटता कि उस पर हिमकण बरस पड़े। ऐसी नई नकोर दो नोट देख कर वे पिघल कर पानी बन गए। अपने जमाने की वही बात जो वे भाव विह्वल हो कर हजारों बार बता चुके थे, दोहराने लगे-“अब तो कोई मास्ट्रों को कुछ न देना चाहता है। यह सिक्का भी कैसे एकत्र हुआ, समझो। बात रही होगी कोई सन 1982, 83, की। नेपाल के लड़के लड़कियों को हाई स्कूल की परीक्षा देने की अनुमति दी थी भारत सरकार ने। तब हमारा भी स्कूल उधर ही था। गोरखपुर की तरफ। लड़के लड़कियाँ परीक्षा दे के उठते तो चुपचाप अपना पेन, पर्स, झोला या जो भी छोटा मोटा सामान उनके पास होता, मास्टर की टेबल पर रख जाते। कोई कोई सिक्का रख देता। विदेशी पेन, चीनी पेन, ढेर इकट्ठा भई रही तब। तब कोई देखा न रहा अइसी पेन। समझे। कोई कठिनाई नहीं थी, एक इशारा भर कर दिया गया था कि भइ, इम्तिहान दे लो, उसके बाद पेन दे जाना। बाकी यहाँ के लोग क्या देंगे सिक्का! ये देखो नेपाली सिक्का, क्या लिखा है इस पर बताओ! अब कहाँ मिलेगा यह सब? बचा के रखे हैं। लाभ का स्रोत सब खत्म हो गया। मैं तो प्राइमरी में रहा। लेकिन ड्यूटी थी तो कर लिया। मास्ट्रों के हाथ में होता ही क्या था? उपर से ऐसी जगह नियुक्ति! अब रिटायर हो गए हैं तो तुम लोग कुछ नहीं समझते।”

“बस करा। छोट मोट पैसा पे मरत हउवा। बड़ा सोचा। तोहार जमाना टुच्चई का जमाना रहा।”

“और तोहार? कुल टुच्चई बह गई गंगा जी में?”

“नाहीं बाबू। अब बिजनेस का जमाना है। हर चीज में बिजनेस मिलेगा। इसी से हम कहते हैं कि बिजनेस में घुसना चाहिए। उठावा धन, रखा। इहौ एक ठो बिजनेस हौ।”

“कइसन बिजनेस?” फिर वे भावुक हो उठे।

“अब तुम्हीं लोंगो पर भरोसा है मुन्ना। तुम्हारा भी कहीं इंतजाम हो जाता। कहीं लग जाते मेरे जीते जी तो चैन से उठ जाते। चैन से चले जाते उपर।”

“बाबू, ऐसा न कहौ। कोशिश में तो लगे हैं। हो ही रहा है कुछ न कुछ। अबकी बढ़िया

काम हाथ लग रहा है तो कदम पीछे न हटायेंगे। बस, कुछ पैसे का इंतजाम करना पड़ेगा। फिर तुम्हें डबल न लौटाया तो हमारा भी नाम।” वे रुक गए। अचानक उन्हें अपना औपचारिक नाम याद नहीं आया। मुन्ना नाम से ही लोग उन्हें बुलाते थे। वे खुद मुन्ना नाम से अपने को जोड़ पाते थे। न जाने कितना वक्त बीत चुका था किसी को उनका औपचारिक नाम लिए हुए। उन्हें एक क्षण को लगा कि कहीं बाबू जी भी उनका स्कूली नाम भूल तो नहीं गए हैं? इंतजार कर रहे हैं! नाम याद होता तो अब तक उचार दिए होते।

“बलदेव तिवारी। बदल देना ये नाम। रख देना घूरहू पतवारू।” अचानक वे अपना औपचारिक नाम बोल गए। पर इसका कोई औचित्य जान न पड़ा। इस नाम को कोई बदल दे तो क्या फर्क पड़ेगा! गड्ढे में क्या गड़ा है? कौन जानता है? ऐसा नाम रखा ही किसलिए जाता है? हाँ, कोई मुन्ना नाम में तोड़ फोड़ भी करने की कोशिश करे तो जबान काट के उसके हाथ में रख दें।

“मुन्ना बदल देना। अब तो संतोष हुआ।” वे अपना कहा थोड़ा बदल कर बोले। अब उन्हें अपने कहे में ज्यादा वजन लगा।

बाबू ने उनका हाथ पकड़ लिया। रुपया लौटाने लगे। मगर मुन्ना जी ने रुपया लेने से मना कर दिया। उनकी गोद में सिर रख कर कहने लगे-“ दस हजार दो तो कुछ बात बने। न हो तो पाँच छः दे दो। कहीं और से इंतजाम करेंगे।”

बाबू कुछ देर उनका सिर सहलाते रहे। फिर पोटली में सिक्का बाँधने लगे। मुन्ना जी मुँह लटकाए गोद से उठ कर चौकी पर पाँव फैला कर लेट गए। बाबू उठ कर अपने जेनेउ में लटकी चाभी से एक पुराने छोटे से टीन के बक्से का ताला खोलने लगे। बहुत सारे कपड़े उलटने पलटने के बाद उन्हें अंत में एक छोटे कपड़े में बँधी कोई चीज मिली। वे हर्षित से उसे खोल कर कुछ देर देखते रहे।

“हमारी शादी में मिली थी। लो, आठ दस हजार से कम न होगी। लो, तुम्हारे काम आ जाएगी। पुराने जमाने का सोना है। एकदम खरा। भारी है, अब की तरह हल्का फुल्का काम नहीं है। यही बचा है मेरे पास। तुम्हारी तीन तीन बहनों की शादी में सब भस्म हो गया। अभी ननकी बची है। उसी के लिए बचा के रखे थे। तुम्हारी माँ जान जाएगी तो मेरा नेटुवा दबा देगी। तुम पहली बार कमा के लाए हो। कुछ करना चाहते हो। क्या पता फल जाए। इसलिए तुम्हारी मदद की जानी चाहिए। तुम कुछ बन जाते।” बाबू भावों में बह रहे थे। एक उज्ज्वल भविष्य उनकी आँखों में ठाठें मार रहा था। यह अंतिम वाक्य उन्होंने किस विह्वलता और कामना के किस अन्तर्जगत से कहा था, यह केवल भुक्तभोगी ही समझ सकता था।

मुन्ना जी इस वाक्य से थोड़ा सा, मतलब बस, पल भर को विचलित हो उठे। बड़े अपराध भाव से उन्होंने अंगूठी पकड़ी। फिर वे उस भाव जगत से निकल आए। उलट पलट कर अंगूठी को तौला।

“ दुइ हजार से उपर न जाई।” उन्होंने तौल का अंदाज मारते हुए कहा।

“पुराना सोना है।” बाबू की इस बात को उन्होंने काट दिया।

“का पुराना पुराना रटत हउवा? एक तो मैल कट जाई, उपर से कारीगरी कुल कट जाई। फिर देखिहा कितना बची?”

बाबू को यह अच्छा नहीं लगा। कहीं यह लड़का पुरानी भारी अंगूठी औने पौने में न लुटा आए, चिंता भी जागी। लेकिन समय उनकी मुट्ठी से सरक चुका था। मुन्ना जी पॉकेट में अंगूठी डालते तीर की तरह निकल गए थे।

“अरे, जरा संभाल के, पुराना, खरा सोना....” आगे उन्होंने अपने को रोक लिया। दिल पर हाथ रख कर चौकी पर बैठ गए। मुन्ना जी उसी समय मुड़े और एक बहुत छोटे क्षण में हाथ के इशारे से बता गए कि संभाले हैं।

जमाना इस तरह अपना

आगे से उनके जूते कुछ कुछ नुकीले थे। फैशन ऐसा नया था। जूते पैरों की अंगुलियों से बहुत आगे तक लगभग चार इंच आगे तक निकले थे। कोई सधा मोची आगे के भाग का सदुपयोग करने की सोच सकता था। आगे के भाग को काट कर एक छोटे जूते के काम ला सकता था। जूता न भी बनाता, उतना चमड़ा कहीं किसी और काम में इस्तेमाल कर लेता। किसी संदूक का हथ्या लग जाता। किसी चमड़े के बैग के फट जाने पर चिप्पी की तरह चिपक जाता या जो भी उसका सदुपयोग हो पाता। खैर.... तो ऐसा नुकीलापन लिए आयताकार जूता पहने मुन्ना जी अपने उसी पुश्तैनी कमरे के बीच वाले हिस्से में घुसे। वहाँ बाबू आँख मूंद कर चौकी पर लेते थे। तब उन्होंने बिना बाबू को जगाए, एक पॉलीथिन में पड़े सिक्के उनकी बगल में पलट दिए। सिक्के खन खना कर गिरे। खनखनाने से बाबू एकदम जाग गए।

“का हो? काहे नौटंकी मचाए हौ?” वे बिगड़ते हुए उठे थे। बगल में सिक्के और सामने मुन्ना जी को देख कर चौंक उठे थे।

“कब अइला? और इ का है?” हैरान हो कर सिक्के को छू कर उन्होंने कहा।

मुन्ना जी ने इस प्रश्न का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझी। कमरे का रंग बदल गया था। बाबू के साथ वे भी इसी में मगन थे। सिक्के सुनहरे रंग में चमक रहे थे। उनकी चमक खनक में मिल कर पूरे कमरे में फैल गयी थी। बल्ब की पीली रोशनी सुनहरी आब में दमकने लगी थी। बाबू के बाल भी पिलियाए सफेद की बजाय सुनहरे सफेद लग रहे थे। सिक्के करीब पाँच थे। बाबू ने मन ही मन अंदाज किया। जल्दी से उन्हें बटोर कर पूछा-“ असली हैं?”

मुन्ना जी ने मुँह बिचका कर, कुछ गर्व, कुछ खुशी का प्रदर्शन करते हुए कहा-“ अपनी किस्मत पर भरोसा नहीं न हो रहा। असली है। सोलह आना। रखो संभाल के। अब न कहना कि कमा के पूत ने न दिया।”

पाँच छोटे छोटे सिक्के हथेलियों में भर कर बाबू झूम उठे।

“एस लागत है तोहार बिजनेस चमक गइल!”

“आशीष दो बाबू कि दिन दूना रात चौगुना चमके।” इतना कह कर उन्होंने शर्ट के भीतर हाथ डाल कर दस हजार की एक गड्डी निकाली और धम्म से उसी चौकी पर फेंका। बाबू ने लपक कर उसे भी उठाया। खुशी से उनकी आँखों में आँसू छलक आए।

“जुग जुग जीओ।” कह कर वे कभी नोटों को छूते तो कभी सिक्कों को।

“सिक्का सुनार के दिखलावे के पड़ी? कि जाँचल बाय?”

“सब चेक करा चुके हैं। ऐसे लेते क्या? तूहं बाबू! कहीं छिपा के रख दा। वक्त बेवक्त काम आ जायेगा।” बेटे की इस समझदारी पर वे विह्वल हो उठे। जल्दी से उठे और अपना टीन का बक्सा खोल कर उसके सबसे नीचे बिछे कपड़े के एक कोने में बड़े एहतिहात से सिक्का बाँध दिया और नोट उपर के किसी कपड़े के भीतरी तह में रख दिया।

“यहीं ठीक रहेगा।” उन्होंने मन ही मन सोचा।

“हमरे भूख प्यास की केहू को चिंता न है।” तभी मुन्ना जी ने लाड़ भर कर कहा। बाबू फिर भावुक हो उठे। लड़का आठ महीने बाद लौटा है। खाना पीना भी लोग नहीं पूछ

रहे। कमाउ पूत हो गया है, कोई मामूली बात नहीं है। उन्होंने चिल्लाना शुरू किया-“ अरे ऐ मुन्ना की महतारी! अरे ऐ मुन्ना बो, अरे ऐ ननकी! कहाँ हो सब जनी? तनि खाना पानी लगाओ मुन्ना जी के। लगता है सुताइ गयी हैं।”

उनके धराप्रवाह चिल्लाने से घर के कई लोग धीरे धीरे जग गए। मुन्ना की अम्मां दौड़ीं। ननकी दौड़ी, फिर उसी के पीछे आ कर मुन्ना बो मतलब सुमन भी खड़ी हो गयीं।

“कहाँ सिर पे पहाड़ उठाए जा रहे हैं। बारह बज रहा है रात का? कौनो बेला है घर आने का?” अम्मां ने चिल्लाने का जवाब चिल्ला कर दिया।

“हर समय रेडीमेड धरा रहेगा क्या?” ननकी भी पीछे नहीं छूटी।

“चुप रहो।” बाबू खुद ही उठ गए। रसोई में खाने पीने की चीजें देखने लगे।

“तनि कुछ बना दो मुन्ना बो, देखो क्या बन सकेगा?”

मुन्ना बो आगे चली आईं। गर्मी बहुत थी। वे बिना कुछ बोले आटा निकाल कर सानने लगीं। बाबू को चैन मिला। वे वापस अपनी जगह आ गए। लगे मुन्ना जी का निहोरा लेने। तारीफों के पुल बाँधने।

“ए दुल्हन, दूध बचा होगा, जरा गर्मा के दे दो मुन्ना को। हमारा लाल इतने दिन बाद आया है। कमाने धमाने में आज कल बहुत पसीना निकलता है।” अम्मा द्रवित हो रही थीं। मुन्ना जी की आवभगत शुरू हो गई थी।

सिक्के की बात नहीं हुई। यह ऐसा राज था जिसे वे किसी को नहीं बताना चाहते थे। लोग अपने थे लेकिन इसी एक बात से ईर्ष्या से जल मर सकते थे। कोई तंत्र मंत्र की शरण भी ले सकता था। जलनखोर बुद्धि का क्या ठिकाना! यही सब सोच कर वे संयम रख रहे थे। मुन्ना की अम्मां को बता देने का कितना जी हो रहा था, मगर औरतों का क्या भरोसा? किसी के सामने मुँह से निकल जाए? बात फैलने में वक्त ही कितना लगता है!

काम खत्म कर के मुन्ना जी पर दुलार अक्षर न्योछावर कर के ननकी और अम्मां जब सोने सबसे उपर छत पर चली गयीं और मुन्ना बो बनी सुमन अपने दडबे में। तब धीरे से मुन्ना जी ने कहा-“ अबकी पचास हजार से कम में न चली। चाहिए ही, धंधे का यही फंडा है। पहले लगाना पड़ता है। कहीं से इंतजाम करो।”

बाबू कुछ परेशान हुए। ज्यादा था पैसा, कहाँ से आएगा? फिर कुछ सोच कर बोले-“ देखते हैं।”

“पक्का कहो।”

“पक्का कैसे कहें? कहीं रखा थोड़े है? एस करौ जौन दिये हो उहै ले जाओ।”

“क्या कह रही हो बाबू? प्राविडेंट फंड कब काम आई? इस समय लगा दो, बाकी पाई पाई हमसे ले लेना।”

“अरे राम, राम, सब तुम्हीं लोगों का है। प्राविडेंट फंड वक्त बेवक्त काम आने वाला पैसा है, उसको छूना ठीक नहीं।”

“वक्त बेवक्त का तो रखा दिए हैं। आगे और रखा देंगे। भरोसा करो। चिंता मत करो।”

सोने की चमक और खनक एक बार फिर बाबू की आँखों में कौंध गयी। वे मुन्ना जी से सहमत हो उठे। कल आवेदन कर देंगे। बात तय हो गई। तब मुन्ना जी बाबू का कंधा थपथपा कर उठे। बाबू ने भी उनका अपने कंधे पर रूका हाथ सहलाया। फिर उसी चौकी पर पड़ गए।

हालाँकि सोने के सिक्कों के बारे में बाबू ने इतना एहतियात बरता था कि किसी को पता न चल सके। घर ही में चोर हो सकते थे। लड़का इतने दिनों बाद कमा धमा के लौटा था। लोगों की नजर इसी पर हो सकती थी। उन्होंने टीन के बक्से में अपना विश्वसनीय ताला लगाया था। बावजूद इसके सिक्कों की खनक छिपी न रह सकी। लोग एक दूसरे से काना फूसी करने लगे। मुन्ना जी की माता ने धीरे से उनसे पूछा कि “सच क्या है?”

इस पर मुन्ना ने कहा-“ सच तो एक बीमारी है।”

“साफ साफ बताओ भइया।” माता ने जिद किया।

“साफ साफ कुछ नहीं होता। सब भ्रम है।”

इतने गोल उत्तर की उम्मीद माता को नहीं थी। उन्होंने थोड़ा और बल दे कर कहा कि -‘ननकी की शादी की भी कोई फिकर है?’

“ये सब बात बाबू से करो।” कह कर वे वहाँ से निकल गए।

माता पीढ़े पर बैठी थीं। बैठे बैठे दीवार पर सिर मारने लगीं। सिर मार मार कर वे अपनी किस्मत को गरियाने लगीं। पता नहीं किस अदृश्य गुनाह की सजा थी! वे किसी से पूछना चाहती थीं। उन्हें दुनिया से किस कदर काट कर रख दिया गया था कि अपने ही घर के भीतर का कुछ पता न चलता था! अपना जाया पूत तक सब छिपा ले जाता था! उन्हें दखल का अधिकार नहीं था, तो जानने का भी नहीं था! सारी बिरादरी जो बात जान गयी थी, वही बात वे नहीं जान पा रही थीं, तिस पर बात उनके अपने से जुड़ी थी! सोचती थीं कि यही लड़के बड़े हो जायेंगे तो उनके कुछ दिन फिर जायेंगे! लेकिन कहाँ! लड़का बड़ा हो कर बाप की तरफ चला गया! वहीं सब बातें होती हैं, सलाह मशविरा होता है, नई योजना बनती है, वे तो इस सब में कहीं हैं ही नहीं! बाप से पूछो तो लताड़ दें, लड़के से पूछो तो देख लो, कैसे बात घुमा के चल दे! आखिर क्यों उन्हीं के साथ यह सब? अचानक ही उन्हें ख्याल आया कि आखिर घर की बात बाहर आती कैसे है? बाप, बेटे तो घाघ ठहरे! जरूर मामला कुछ और है? फिर उनका ध्यान जा कर मुन्ना बो बनी सुमन पर अटक गया। कहीं ऐसा तो नहीं कि उनसे छिपाया जा रहा है और दुल्हन को बताया जा रहा है? कहीं उन्हीं के खिलाफ चुपचाप एक दुश्मन तो नहीं खड़ा किया जा रहा है? अगर ऐसा हुआ तो वे अपने दुश्मन को जीने नहीं देंगी। संकल्प धरती हैं! तभी ननकी आ कर उनके पास खड़ी हो गयी और उन्हें कंधे से हिलाने लगी।

“जानती हो मम्मी, मुन्ना जी सोने का सिक्का लाए हैं एह बारी। बाबू के पास धराए हैं। दस हजार रूपइयौ दिहै हैं।” ननकी की बात से वे आवाक रह गयीं। तो ननकी भी जान रही थी! केवल वही थीं जो इस कदर छूट गयी थीं! केवल वही थीं, जिन्हें बताना इस कदर अनावश्यक था!

इसी रात मुन्ना जी जब बाबू की कोठरी से खा पी के बाहर निकले तो उन्हें बरामदे में उपर की सीढ़ियों की तरफ तेज कदमों से जाते कान्हा तिवारी दिखाई पड़े। उन्होंने आवाज दे कर उन्हें रोका। कान्हा तिवारी मुन्ना जी को देख कर चौंक गए-“ कब अइला?”

“इ सब छोड़ा। अब की एस वेस नइखे। बड़ा हाथ। समझला।”

“एस कह रहे हैं जैसे सोना लाए हों।” कान्हा तिवारी जल्दी में थे।

“सोना ही समझो। कमाई स्टार्ट ले ली है। तुहूँ आ जाओ।”

“देखब। निचवा इनगेज रहल, एही बदे।”

कोई और वक्त होता तो कान्हा तिवारी रुक कर सारा वाकया तफसील से सुनते मगर

इस वक्त! इस वक्त नहीं रुक सकते थे। नीचे का टॉयलेट खाली नहीं था। उपर वाले में भाग्य अजमाने जा रहे थे।

“इहो ससुर! दिन रात लैट्रिन की लड़ाई में फँसल हउवें।” हँसते हुए मुन्ना जी पलट पड़े। पलट कर सुमन के दड़बे में जाने का मन बना ही रहे थे कि देखते क्या हैं कि कान्हा तिवारी आगे आगे और एक व्यक्ति पीछे पीछे भागते गिरते संभलते इस बेला में चले आ रहे हैं।

“का भया हो?” मुन्ना जी को गहरी जिज्ञासा हुई।

“सरउ रोज रोज गरियात हैं। आज न छोड़ब। इनके बाप का बनवायल बाय लैट्रिनवा? इन कर हुकुम चली? पिशाच बनिहैं अगले जनम में। एही जनम केहू के न छोड़त हैं, जिन्न है सार जिन्न। जिन्न!.....” पीछे उतरने वाले ने चिल्लाते हुए कहा।

कान्हा तिवारी गालियों की अनगिन बौछार किए जा रहे थे।

इसी रूप में वे लोग नीचे उतर गए।

“रोज का मजमा हौ।” मुन्ना जी खिल उठे। आते ही इतना हसीन मंजर मिल जाए देखने को!

“हमारे घर में किसी फिल्मी शो की जरूरत न है। चलत रहत है खुदै दिन रात।” वे गर्व से कहते। इस मजमे ने उनका हौंसला कई गुना बढ़ा दिया था। वे हँसते हुए उस दड़बे में घुसे जो बँटवारे में मिले कमरे के एक तरफ दीवार उठा कर बनाया गया था। इसमें खिड़की के नाम पर एक छोटा सा मुक्का बरामदे की तरफ खुलता हुआ सा बना था। जगह कम थी। एक खाट पड़ जाती थी। एक बक्सा और एक बैग किनारे रखा था। एक तिपाई भी पड़ी थी। तिपाई आधी खाट के नीचे और आधी दिखती हुई रहती थी। कोई कमरे में घुसे तो तिपाई खींच लेता था या बरामदे में अक्सर ही तिपाई की बुलाहट मचती रहती थी। दो चार खूंटियाँ भी लगी थीं। कमरे का पतला सा दरवाजा चिपका हुआ था। गर्मी और उमस में डूबा अँधेरा था। दड़बे की खाट पर सुमन अधलेटी अखबार से पंखा झल रही थीं। गर्मी से बेहाल सूती साड़ी का पल्ला आगे से हट कर गोद में पड़ा था। ब्लाउज के भीतर ब्रा नहीं थी। मोटे मोटे आधे स्तन ब्लाउज से बाहर झाँक रहे थे। बाल उपर कर के खूब कस के जूड़ा बनाया था। रह रह कर पसीना कनपटी पर बह आता था, उसे ब्लाउज की बाँह से पोंछ लिया जाता था। थकान थी पर गर्मी के मारे नींद नहीं आ रही थी। सुमन फिर हाथ का पंखा छोड़ कर उठीं और सुराही से कुछ पानी ले कर अपने बदन पर छिड़कने लगीं। गला भीग गया। ब्लाउज का आगे का हिस्सा भी भीग गया और बचा हुआ स्तन अपनी पूरी सुडौलता में प्रकट हो उठा। ऐसे भीगे ब्लाउज में गोद में पल्ला रखी सुमन को पंखा झलते मुन्ना जी कई पल देखते रहे। गर्मी और उमस में डूबे अँधेरे के बीच सुमन उन्हें किसी फिल्म की नायिका सी लगीं। निमन्त्रित करती सी। खींचती सी। बुलाती सी। वे निमन्त्रित हुए। वे खिंचे। वे आए। झपाट से उन्होंने दरवाजा खोला और उतने ही झपाट से कूद कर सुमन की देह पर गिरे।

“साली अकेले अकेले रासलीला करती है!” वे उत्तेजना में काँपते हुए बोले।

“अरे, क्या कर रहे हो.....” सुमन आगे बोल भी न पाई। मुन्ना जी ने अपनी लुंगी निकाल कर फेंक दिया और झटके से उनका आँचल खींच कर अलग कर दिया। रोकने के लिए बढ़ा सुमन का हाथ उन्होंने मोड़ दिया। ब्लाउज खींच कर फाड़ दिया। ब्लाउज भीगा था फटने के बाद भी जल्दी से अलग नहीं हुआ तो वे तैश में आ गए। खींच खाँच झपाट लपट कर उन्होंने सब कपड़े अलगा दिए। फटे ब्लाउज से झटके से उग आए दो फल को

वे ताकत भर झिंझोड़ने चूसने लगे। इस खींच खांच रोक बचाव में सुमन का जूड़ा खुल गया। लम्बे केश झूलने लगे। उन्हीं केशों को मुट्ठी में भींच कर सुमन को इधर उधर पटकते, काटते, नोचते.....

“कमीनी, मेरे पीछे क्या क्या करती रही? कैसे चला इतने दिन तेरा काम? बोल, किससे किससे लड़ाती रही इश्क?...” मुन्ना जी पर जुनून सवार था। वे तरह तरह की तीखी गालियाँ देते चले जा रहे थे। सुमन पहले धीरे धीरे चीखती रहीं।

‘अरे बाप रे, अरे, राम, बचाओ।... अरे मुन्ना इ का कर हरे हो। काहे हमारी जान पे पड़े हो?....’ फिर जोर जोर से चीखीं। उनकी चीख कहीं तक जा रही थी, इसका भरोसा खुद सुमन को नहीं था। अलबत्ता उनकी चीख पर तड़ तड़ चार छः झापड़ मुन्ना जी जड़ते जाते। जरा सा एक क्षण सुमन के हाथ आया कि उन्होंने सारी ताकत बटोर कर एक जोर का झटका दिया। मुन्ना जी को इसकी उम्मीद नहीं थी। गड जैसी लड़की भला इतनी हिम्मत कहाँ से लाएगी? वे भहराकर गिर गए। गिर कर उठने में कुछ वक्त लगा। यह वक्त भी सुमन की मुट्ठी में आया। वे फुर्ती से उठी अपनी फेंकी हुयी साड़ी को जैसे तैसे लपेटें। वहीं खटिया के नीचे झाड़ू पड़ा था। पड़ा क्या था, छिपाया गया था, कारण कि सुबह सुबह खानदान का कोई न कोई प्राणी यही उठा ले जाता। इससे रोज झगड़ा होता। इस झगड़े को झाड़ू युद्ध कहा जाता। इसी से बचने के लिए सुमन झाड़ू को अपनी खटिया के नीचे रख लेतीं। यहाँ से तो कोई न निकाल सकेगा। झाड़ू की रक्षा का भाव इसमें निहित था। इससे रोज का एक कर्म युद्ध टल जाता था। आज वही सुमन के बड़े काम आया। उन्होंने झपक कर खटिया के नीचे से झाड़ू निकाला और तड़ा तड़ा ले झाड़ू आव न ताव देखा, बस, पीटना शुरू किया। मुन्ना जी अचानक के इस आक्रमण से घबड़ा उठे। उन्हें सपने में भी उम्मीद न थी। नाउम्मीदी में कुछ न सूझा तो वे वैसे ही, माने कि नंग धड़ंग हालत में ही बाहर की तरफ भागे। मुन्ना जी दौड़ते जाते। सुमन दौड़ा दौड़ा कर मारती जातीं।

“ए हे ससुरी बौराइ गयी है। पूरा रणचंडी रूप धारण किए हौ? अरे रोका केहू!” मुन्ना जी मौका मिलते ही चीखते।

दरवाजे से निकल कर कोई बहुत जगह नहीं थी। बारामदे जैसी जगह थी। चारों तरफ गहरे कुएं जैसे आँगन पर रेलिंग लगी थी। रेलिंग के किनारे किनारे मुन्ना जी अपने को बचाते दौड़ रहे थे। उसी के किनारे किनारे हाथ में झाड़ू पकड़े सुमन दौड़ा रही थीं। मुन्ना जी ने कमरे में वापस घुसने के कई प्रयास किए, पर विफल रहे। उनकी लुंगी वहीं थी। अंततः नंग धड़ंग ही भागते हुए वे सीढ़ियों से नीचे उतर गए। मुन्ना जी के नीचे उतरते ही सुमन का गुस्सा धाराप्रवाह फूट पड़ा। झाड़ू वहीं जमीन पर पटक कर वे रेलिंग के सहारे बैठ कर हाँफने लगीं। हाँफती जातीं, बोलती जातीं।

“पिशाच आदमी है, नरपिशाच है! औरत को इंसान नहीं समझता है। औरत क्या है? देह भर है? जैसे चाहा मसला, रौंदा? जो चाहा किया? औरत आवाज उठा दे तो बहुत बुरी। प्रेम न किया गुनाह कर दिया। उसी की सजा काट रही हूँ। घर से भागने का कोई रास्ता मिलता तो वही चुनती, काहे इस जंजाल में पड़ती। लेकिन मति मारी गई थी। तुम्हीं मिले इस दुनिया में हमें? ला के नरक में झोंक दिए। अरे, इससे अच्छा तो भीख माँग लेते, जहर खा के मर जाते। जानते तो कभी ऐसा न करते। बड़ी ठसक से निकल आए थे हम भी कि अपनी पसंद की जिन्दगी जी लेंगे। लेकिन नहीं, औरत के नसीब में कहाँ अपनी पसंद की जिंदगी? जिद थी, जिद का नतीजा देख लिया! सही आदमी कहाँ से तलाशते? जो हमारे इर्द

गिर्द थे सब लुच्चे लफंगे थे। तुम्हीं कुछ ठीक लगते थे तो तुम तो निकले चोरों के सरदार! महाचोर! सबसे बड़े हरामी! जा, आज के बाद तेरा मुँह न देखूंगी! गलती मेरी थी तो सुधारूंगी भी मैं ही। जा, आज के बाद तेरा मेरा रिश्ता खत्म। आज के बाद तू मेरा कुछ नहीं। अरे किस बदजात के पल्ले पड़ गयी रे..., हे राम... अरे मोरी माई रे..... ”

हाँफती हुई वे सिसक सिसक कर रो पड़ीं।

उसी समय गिरधारी तिवारी मूत्र त्याग के लिए उठे थे। बड़ी देर उन्हें टॉयलेट के आगे इंतजार करना पड़ा था। इंतजार करते हुए वे आँगन में टहलते रहे। आँगन का फायदा उन्हें ही था! दुनिया की नजर ऐसा मानती थी। वे नहीं मानते थे। भयानक दुर्गन्ध इसी आँगन से उठती रहती थी। रात में लोग यहीं किनारे की नाली में मूत्रत्याग कर जाते थे। कोई कोई इतनी भी सहूलियत नहीं लेता। जहाँ से चलता, वहीं कर जाता। सुबह इसी पर कितनी ही बार बहस होती। झगड़ा आफत बन कर टूटता। एक दूसरे से बोल चाल बंद हो जाती। आँगन में रात भर की निगरानी बैठायी जाती। इस पर भी पता नहीं किस पहर कौन आ कर मूत जाता! धीरे धीरे निगरानी करने वाला थक जाता और मामला फिर पहले जैसा हो जाता।

इंतजार की भी आखिर एक सीमा थी।

एक सीमा के बाद इंतजार की भी तासीर खत्म हो जाती थी।

इसी सीमा के बाद गिरधारी तिवारी ने भी निर्णय लिया और आँगन की नाली पर बैठ गए। आँगन की नाली पर बैठे हैं, इधर उपर से आने वाली आवाज के मारे धक धक छूट रही है! न जाने कौन नौटंकी उपर चल रही है! निवृत्त हो कर वे उठे और धीरे धीरे बिलजी के बिना अँधेरी सूनी सीढ़ियों पर टटोल टटोल कर चढ़ने लगे। उपर चढ़ते हुए उनसे नंग धड़ंग हालत में भागते हुए मुन्ना जी टकराए थे। उन्होंने अँधेरे में ही उनके बदन को, पीठ को हल्का सा छू लिया था। बल्कि रोक कर पूछना चाहते थे पर मुन्ना जी तीर की तरह निकल गए। अँधेरे में ही वे नहीं समझ पाए कि मुन्ना जी इतने नंगे हैं! इतने ज्यादा! फिर वे धीरे धीरे उपर आए। उपर आ कर उन्होंने रेलिंग के सहारे अस्त व्यस्त सी सुमन को बैठे देखा। एक क्षण रुक कर उन्होंने सोचा कि 'जो भी हुआ हो, बहू परेशान है तो हाल पूछना चाहिए। झगड़ा हुआ है तो मना कर भीतर जाने को कहना चाहिए।' वे आ कर उसी रेलिंग के सहारे बैठ गए। धीरे धीरे दिलासा की मुद्रा में सुमन का सिर सहलाने लगे। इस अप्रत्याशित आत्मीयता से सुमन में क्या कुछ उमड़ा कि वह एकदम हिलक कर रो पड़ीं। रोती हुई सुमन का सिर उन्होंने अपने कंधे पर रख लिया। इससे पहले कभी कोई मौका ही न आया था कि ऐसे कोई जवान स्त्री उनके कंधे पर टिक कर रोई हो। वे कंधे से उन्हें थपथपाते, पीठ सहलाते। बिना ब्लाउज की पीठ पर फिसलता उनका हाथ उन्हें अजीब सी उत्तेजना से भर रहा था।

“देवी हो तुम!” उन्होंने धीरे से कहा। फिर अँधेरे के हल्के उजास में उन स्तनों को आँख फाड़ फाड़ कर देखने लगे जो इस हाल में आधे उघरे, आधे छिपे, जैसे तैसे लपेटी साड़ी में जैसे तैसे आड़ किए हुए थे। आखिरकार गिरधारी तिवारी का धैर्य छूट गया।

“उठा दुल्हन, उठा!” कहते हुए उन्होंने अपनी बाँहों का घेरा बना कर सुमन को आलिंगन में लगभग बाँधने की तरह बाँध लिया और उठाने की कोशिश करने लगे। इस कोशिश में सुमन के आगे छातियों पर उगे दो फल आधे उघरे और आधे छिपे उनसे टकराए। वे एक अबूझ सुख से कराह उठे। भूल गए कि वे कहाँ हैं? कौन हैं? क्या हैं? कुछ नहीं हैं वे! नहीं हैं गिरधारी तिवारी! नहीं हैं इस औरत के चचिया ससुर! चचिया ससुर, ससुर थोड़े न हुआ?

और हुआ भी तो ससुर कौन सा उसका अपना बाप है? उन्होंने अपना सिर झटका। वे तो

bl oDr fl QZ, d iə'kɔs furkr iə'k iəhiə'k
 ʔrə cɔŋ l ʈj gA eA sɔ'fjɪk xɔle gA eəsviukcukylA jkuh eŋ jkuh
 eɪki jk t'hou nɔ'fjɪspj. lɛeɪj gA bəli er djulA* mɔ'gəsviukcək eg [lɛs
 dj l Mest Ssɔ'sdɔŋ fyi Vɔ'dɔŋ [lɛs Qy dɔsp [kudsfy, Åij dj fr; lA
 l ɛu vpkud dsmudsl Qogj l splɛ x; lA gMɛkdj viuhdg Nɔs
 yx lA vius dɛ Nɔs dɛsfy, nɔ'fjɪki gɪhɔft ruhrldr l sɔ'dd kfr; lA cɔ'ng fM k
 i jst ekudsn k l scuh lA bruht Yh Nɔs dɛ k Sɪj ug lA d d d s sɔ'k l k
 fVd x; h lA

ʔsɔ'dhnt lukghug lA D; kɔs rə euker dj lA eɪ c dɔŋ d: əkrɔ'fjɪs
 fy, A l c dɔŋ d: əkrɔ'fjɪs rə fdruhl ɔj gA dɛ'zɔgət kurk; gA eɪ kurk gɔ
 fɪ rə fdruhl ɔj gA eA sɔ'fjɪspj. lɛeɪj t'hou lA jkuh eəscpkylA—* os
 l ɛu dhcg id Mɛ fM Mɛ syx A

ʔfruki Skt l k g Svt rd] l c] l c rə ysylA* cɔ'us'fo' kɔs dj d gA
 l ɛu rc xɔ se Q d l rɪh] viuhdg Nɔ'ch [hV dɔ'k l k l k g l e h— > l M
 eɪ eɪ d s; gət e h s—dj n s!—* t'ʃhrele xɔf; kɔdrhgɔ'z rsh l s > l M r d
 x; lA > l M g l k e a n k dj r s n e d n e f j e h f r o j h d h v l s c < k l A

fjɛh f r o j h v i u h n r s u k v l s v c m l d s l k f e y h f o o ' k r k v l s d ŋ ' l e z
 e a d l j g s l A m u d h v l s l e d v k z l A g l B f y j g s l A c m e f d y l s i l g a s d g e
 y l s i n q g t l s l t k n k p l g s l A *

l ɛu d s i l ɔ d h r j Q m u d s g l k c < x, A
 ʔv c h j h c n u e h l s p l s r s c p k y l s p l s r k e j n A * f o o l r k l s y d k g y d k
 d l i r s g o s f M k A

ʔ M e s t k * l ɛ u s l M o g t e h u i j i V d f r ; k v l s r s h l s e m d j v i u s
 m l h n M e s e a t k d j r j o t k c a d j i M x ; l A

स्वर्णमृग और झील मन की हलचल

(आत्मकथा - 4)

शचीन्द्र! हर दिन तुम लौटते हो। तुम नहीं लौटते! तुम्हारा साया लौटता है। तुम्हारा हमशक्ल कोई! तुम्हारी तरह मुस्काराने की कोशिश करता। तुम्हारी तरह बहस करने का मूड बनाता। पर तुम्हारी तरह नहीं, कुछ छूटा हुआ, कुछ रुका हुआ, कुछ बीता हुआ सा.... उस साये से कुछ छूटा हुआ! मैं इंतजार में रुकी, इंतजार में ही रह जाती हूँ। मेरा इंतजार नहीं टूटता, खत्म ही नहीं होता!

तुम लौटते हो। थके हुए से! लौटते ही मुझ पर टूट पड़ते हो। अपने को अजमाते, अपने से संघर्ष करते। अपने से निराश होते। अपने से खीजते। अशक्त और कमजोर। पहले से ज्यादा। किसी भी तर्क से अलग। अपना तर्क गढ़ते। अपने बचाव का तर्क गढ़ते।

“कमजोर हो गया हूँ। शायद इसी से। अब से फल फूल, दूध दही नियम से खाऊँगा तो देखना सब ठीक हो जाएगा।”

तुम्हारा ध्यान अपने पुरुषार्थ पर केन्द्रित हो कर रह गया है! तुम कुछ और सोच ही नहीं पाते। जब मन करता है, रहते हो, जब मन करता है, कहीं के लिए निकल पड़ते हो। कहाँ के लिए? कोई बता नहीं सकता। ठीक ठीक दोस्त मित्र भी नहीं बता पाते!

मैं “हाँ। ठीक है।” कहती हूँ और फल फूल के इंतजाम के लिए बैंक से पैसे निकालने लगती हूँ।

“फिर भी एक बार डॉक्टर के पास चले जाते। मैं भी चलूंगी तुम्हारे साथ।” मैं सोचती हूँ कि तुम झिझक रहे होगे। मुझे भी साथ चलना चाहिए।

“अच्छा, चला जाऊँगा।” तुम टालते हुए कहते हो।

“कब? क्यों टाल रहे हो?” मैं सचमुच पीछे पड़ती हूँ।

“क्यों मेरी जान खा रही हो! खा तो रहा हूँ फल, सब्जियाँ। थोड़ी कमजोरी है, कह तो दिया। थोड़ा इंतजार नहीं कर सकती।” तुमने झल्ला कर कहा है। और भी बहुत कुछ कहा है। मुझे सेक्स के लिए तड़पती औरत की तरह व्याख्यायित कर दिया है। मुझे किस हद तक हर्ट करना चाहते हो? समझ में नहीं आता। जानती हूँ, तुम नाराज हो। मुझसे नाराज हो। अपने आप से नाराज हो।

हाँ, मुझमें भी अतृप्ति की सागरिकाएं हिलोरे लेती हैं। देह जगती है मेरी भी। तुम्हारा छूना, सहलाना, चूमना बेचैन बनाता है मुझे भी। हाड़ मांस की बनी हूँ मैं भी। प्रेम के नाम पर कुर्बान होती हूँ। सहती हूँ। तुम्हें भी सहती हूँ। तुम यह जानते ही कहाँ हो! तुम इसे जानना चाहते ही कहाँ हो?

एक दिन और लौटते हो तुम। हाथ में थैला लिए। इससे पहले कभी कुछ लाए नहीं। कुछ तुम अपने लिए ही लाए होगे। थैला मेरी ओर फेंक कर मुँह हाथ धोने चले गए हो। थैला मेरी ओर आया है तो मैं उसे खोल देती हूँ। बीयर कैन! नमकीन!

हैरानी मेरी आँखों में उतर आती है! हो सकता है दोस्तों के लिए हो।

“क्या पार्टी का इरादा है?” हैरानी मेरे शब्दों से झर रही है।

“कुछ बना सकोगी? पकौड़े या और कुछ तल लेती, जो आसानी से बन जाए।” मेरी बात पर तुम्हारा ध्यान नहीं है। तुम मुँह हाथ धो कर निकल आए हो।

“कोई आएगा? मतलब कुछ मित्रगण?”

“नहीं बाबा, ये मेरे और तुम्हारे लिए। आज हमारा दिन होगा।” तुम दुलरा कर कहते हो। खुश दिखने की कोशिश कर रहे हो। जल्दी जल्दी बिस्तर की चादर ठीक कर रहे हो।

“तुम्हारी यह कंचन काया! किसी जादूगरनी की तरह बाँधती है! उफ! मैं इसे पूरा....”

“बहुत रोमांटिक हो रहे हो। इस सबसे कुछ नहीं होता। यह ठीक तरीका नहीं है। अपने को भूल कर अपने को पाने का यह तरीका ठीक नहीं लग रहा है।”

“तुम भी! हर समय बहस करती हो। लेकिन बहस करती हो तो भी कितनी अच्छी लगती हो। छोटी सी फुदकती, चंचल सी, हिरनी सी। कौन इस मर न मिटेगा मेरी जान!” तुम्हारा ध्यान मेरी बातों पर नहीं है।

“लेकिन मैं तो नहीं पीती हूँ। तुम जानते हो।” मैं अब तक हैरान हूँ। अब तक परेशान हूँ। अब तक समझ में ठीक ठीक नहीं आ रहा कि क्या होने होने को है?

“तो आज पी लेना। मेरे साथ।” तुम हतोत्साहित नहीं हो रहे हो।

“आज क्यों? जब मैंने कहा कि....”

“हर बात का बतंगड़ बनाना जरूरी है? अपने तर्क बाद में देना। अभी तो इधर आओ। आज तुम्हें सजा कर यहाँ बैठाऊँगा। मैं करूँगा सब कुछ आज। समझी मेरी सोने की हिरनी।”

तुमने तक्रिए किनारे रख दिए हैं। एक अखबार बीच में रखा है। अपने हाथ से दो स्टील की गिलास उठा लाए हो। शीशे की होती तो शीशे की लाते। जो है, उससे काम चला रहे हो।

“तुम अकेले ही करो यह सब। प्लीज मुझे छोड़ दो।” मैं डर गयी हूँ। डर गयी हूँ कि अब आगे न जाने क्या झेलना पड़े?

“तुम्हारे नखरे से मैं तंग आ गया हूँ। हर बात में तमाशा करती हो।” तुम गुस्ता गए हो।

“किसी ने बताया है कि ड्रिंक करने से एकदम असर पड़ता है। आज देखना तुम।” तुम मेरे पास आ कर खड़े हो। तुम नहीं कहते यह, शैतान की आवाज आती है! कहीं और से! दूर से! मुझसे कोसों दूर!

“नहीं।” मैं डर जाती हूँ। कितने हिंसक होते जा रहे हो तुम! और अब यह ड्रिंक कर के तो न जाने कितने पाशविक हो उठोगे? मैं यह नहीं झेल सकती। मेरी देह पर उभरी नीली चित्रकारी मुझे भय से हिला रही है।

“चलो आओ।” तुम मुझे बाँहों से घेर कर ले जाना चाहते हो। उधर, जिधर तुमने अपना कामना महल सजाया है।

तुम्हारा बाँहों से घेरना अच्छा लगता है। हर बार इसी भूल में चली जाती हूँ तुम्हारे लाक्षा गृह में। वहाँ से जली हुई मेरी लाश निकलती है। न जाने कितने दिन तक काँपती मैं काम धाम कर पाने में असमर्थ अपने आप पर रोती हूँ और तुम अपने आप में त्रस्त-पस्त। मुझसे नजरें बचाते, छिपते, जाने कहाँ के लिए निकल पड़ते हो।

‘नहीं, मृत्युतृष्णा है। मैं इससे अधिक में नहीं जा सकती। प्रयोगों के लिए मेरी देह नहीं बनी है। मैं अपने आप में कितनी छोटी होती जा रही हूँ।’

“क्या सोचने लगी? आज तुम्हें निराश नहीं करूँगा।” तुम खींच रहे हो। मैं हिल भी नहीं रही।

“नहीं। रहने दो। मेरा मन नहीं है। इतना तो समझो।” मैं अपने को छुड़ाने की कोशिश करती हूँ।

“नहीं क्या? एक मौका इसके लिए भी सही। तुम सपोर्ट नहीं करती, यही दिक्कत है।”

तुम बहुत दयनीय हो उठे हो। इस दयनीयता के बावजूद मुझे कह रहे हो कि मैं सपोर्ट नहीं करती। मरती हूँ हर रात एक अलग मौत, जीने की किसी उम्मीद में ही तो।

“तुम्हारे अनुभवों का लाभ नहीं ले पा रहा हूँ। आज बताओ? कैसा था पहले वाला? बोलो?” तुमने मुझे धक्का दे कर गिरा दिया है।

“तुम बैठोगी यहाँ तब तक, जब तक कि मैं पीऊँगा। समझी।”

तुम किसी पाषाण से भी ज्यादा मिर्मम हो उठे हो। इस क्षण, तुम वो हो ही नहीं, जिसे मैंने चाहा था। तुम कुछ और हो। मेरे पिछले अनुभवों को जानने की भयानक इच्छा रखने वाले। यह तुम्हारा मनोरंजन हो सकता है! यह तुम्हें उकसा सकता है! पर क्या सचमुच ही तुम जानना चाहते हो कि कैसा था मेरा पति? कब से मैं तुम्हें बताना चाहती थी, पर अब इसलिए, बिल्कुल नहीं। मेरा दुख इस काम आए, मैं मर ही न जाऊँ, इससे पहले। मेरा प्रिय यह कह दे कि..... तो जीते जी मर जाऊँ मैं! हे प्रभु! मैं यह दिन देखने के लिए बची ही

क्यों रह गयी? इसीलिए इतना जोखिम उठा कर भाग आई थी? इसीलिए एक नई जिंदगी जीने का साहस कर रही थी?

नहीं, मेरी आँखों से एक भी मोती नहीं टपकेगा! नहीं रोऊँगी मैं! नहीं। जीऊँगी मैं। नहीं करूँगी, जो मैं नहीं चाहती। मैं उठ कर बैठ गयी हूँ।

“मुझसे नहीं हो सकेगा।” मैंने अपनी तरह की निरीहता में कहा है। आखिरी प्रार्थना की तरह।

“मैं तुम्हें जिबह तो करने जा नहीं रहा। ऐसे कह रही हो।” तुम मुझे खींच कर अपनी जाँघों पर लिटाना चाहते हो।

तुम्हारी गोद, जिसमें चैन से सोने का सपना मेरा, बस, सपना ही है। इसे अब मैं पूरा नहीं करना चाहती।

“उठो, गुड गर्ल। लो, नमकीन लो। मूड ठीक करो।”

नमकीन की प्लेट उठा कर तुम मेरी तरफ करते हो। तुम्हारा इस तरह बीयर पीना मुझे बड़ा बेशर्म सा लगता है। इससे पहले कभी जब तुम्हें दोस्तों के साथ पीते देखा तो ऐसा खराब नहीं लगा था।

“अच्छा, छोड़ो तो। लाती हूँ।” बचने का कोई उपाय सोचते हुए मैं कहती हूँ।

मैं छूटती हूँ तुमसे। कुछ लाने के लिए रसोई तक जाती हूँ। कोई डिब्बा उठा कर खोलती रखती हूँ। कुछ सोचती हूँ पल भर। फिर एकाएक अपना पर्स उठाती हूँ और निकल जाती हूँ घर से, पता नहीं कहाँ के लिए!

तुम मुझे दूँड लोगे, मुझे पता था। लेने आ जाओगे, मुझे पता था। वही हुआ। वही किया तुमने। मेरी सहेली सुरभि के घर चले आए। रात के दो बजे, बदहवास से, जैसे तुम्हारा कोई जिगर का टुकड़ा खो गया हो। आँखों से गंगा जमुना उमड़ी चली आ रही हैं। सुरभि की आँखों में तुम नहीं, मैं दोषी बन गयी हूँ। निष्ठुर, निर्मम। तुम भावुक प्रेमी के प्रतीक हो! तुम हो ही ऐसे! सारे सिक्के अपने हक में भुनाने की कला वाले।

“तुम शचीन्द्र को समझने की कोशिश करो बिट्टो। भागने से समस्या हल नहीं होती।” सुरभि मुझे समझा रही है। मैंने सोचा था वह शचीन्द्र को समझायेगी!

“तुम उसके साथ जाओ, उसे प्यार दो। मेरा पति अगर भूल कर भी मेरे लिए एक आँसू टपका देता तो समझो मैं तो बिना मोल बिक जाती। मगर कमबख्त, उसने आज तक प्यार का इजहार तक न किया। तुम तो भाग्यशाली हो। ऐसा प्यार करने वाला मिला है।” सुरभि मुझ पर नाराज हो रही है। मुझे शचीन्द्र के साथ जाने के लिए समझा रही है।

“अगर मुझसे परेशान हो तो मुझे छोड़ क्यों नहीं देते।” मैं दुखी हो कर कहती हूँ।

तुम तड़प उठे हो। तुम्हारी आँखें कह रही हैं। मैं इसके आगे हारती हूँ हर बार। तुम्हें मनाती हूँ। सोचती थी कि तुम मनाओगे। पर अब सोचती हूँ कि यह मनाना भी एक कोशिश ही थी। जीवन के मरम्मत की। मनाती हूँ और जैसे जैसे प्रयत्न पूर्वक डॉक्टर के पास ले जाती हूँ। देखो, मैंने खुद को ही कैसे एक और खर्चे में झोंक दिया है! प्रेम के नाम पर। जीने की इच्छा के नाम पर।

मैं तुम्हें वापस जीवन में देखना चाहती हूँ। इसीलिए बार बार कोशिश करती हूँ। प्यार से तुम्हारे कंधे पर टिक कर कहती हूँ कि “जीवन भर भागते रहे हो, दौड़ते रहे हो, लड़ते की कोशिश में लगे रहे हो, पर लड़ाई वैसी नहीं बनी, जैसा कि तुम चाहते थे। है न!”

तुम आकाश को देख रहे हो। मुझसे इतने अलग होते हुए। दूर होते हुए। देखो कि

मैं फिर कोशिश करती हूँ। कहना जहाँ छोड़ा था, वहीं से पकड़ती हूँ—“तुम सोचते हो कि आज तक जो भी कोशिश तुमने किया, उसका कुछ भी हासिल नहीं। छात्र राजनीति के साथ जुड़े तो वहाँ भी बहुत कुछ कर पाना संभव आज नहीं रह गया। लेकिन जीवन को ऐसे देखना ठीक तो नहीं है। जो सही काम होते हैं, उनका असर कहीं न कहीं तक जाता है। वह एकदम खत्म नहीं होता। आज जरूर देश में ऐसे हालात बन गए हैं कि बड़ी लड़ाइयाँ नहीं बन पा रही हैं पर लगातार चलती छोटी लड़ाइयाँ भी बड़ी लड़ाई की संभावना को बचाए रखती हैं। और तुम, सुनो, उस अपने छात्र हित वाले काम से क्यों विरत हो रहे हो? वहीं तो तुम हो! कुछ बदलने, कुछ ठीक ठाक कर पाने की कोशिश के साथ हो! तुम उससे अलग नहीं हो सकते। तुम फिर जाओ! फिर से ठीक करो। फिर से शुरू करो। फिर से संगठित करो। यही एक तरीका है हमारे पास, तुम्हारे पास.....”

मेरी आवाज, मेरी सब ध्वनियाँ किसी बंद दरवाजे से टकरा कर लौट रही हैं।

“हो गया उपदेश! परेशान कर के रख दिया है। चैन से दो घड़ी बैठ भी नहीं सकता!”

तुमने मुझे जोर का धक्का दिया। मैं गिरते गिरते बची।

“क्या समझ रही हो अपने को? हाँ! पैसा कमा रही हो तो जो मर्जी बोलोगी? हाँ! मैं कुछ नहीं हूँ न! यही साबित करना चाहती हो!” तुम तैश में खुद को भूल गए हो। एक साथ मुझे हिलाते हुए, न जाने कितने झापड़, घूसे, लात जमा रहे हो। मैं बैठी हुई, गिरती हुई, रोकती हुई, रोती हुई.....

तुम गुस्से में चले गए हो। कहीं, उस जगह की तलाश में शायद, जहाँ सुकून हो!

मुझे इसका भरोसा नहीं है। सुकून का भरोसा!

सचमुच मैं यह कहाँ आ पहुँची हूँ! नरक क्या यही है?

नरक! जिसके लिए मेरी माँ हर वक्त चेताती रहती थी! जिसका एक हिस्सा झेल कर मैं भाग आई थी। जिसका दूसरा हिस्सा झेलती मैं यहाँ बैठी हूँ! जिसका कोई तीसरा, चौथा हिस्सा भी होगा!

मैं भय से काँप रही हूँ।

मैं चोट से काँप रही हूँ।

धीरे धीरे उठती हूँ और कभी एक हाथ से अपना बाल ठीक करते, कभी एक हाथ से अपना पेट, बाँह, छाती सहलाते, डॉक्टर के पास चली गयी हूँ।

डॉक्टर से कहूँगी कि सीढ़ियों से फिर आज गिर गयी हूँ।

.....

शचीन्द्र! तुम लौटते हो। फल खाते हो। अपनी दवा समयानुसार लेते हो। तमाम चेकअप कराते हो। फिर प्रयोग करते हो।

डॉक्टर, दवा, प्रयोग.... यही रह गया है तुम्हारे जीवन का केन्द्र!

मित्रता का हल्का सा तंतु भी नहीं बचा!

यह क्या, मशीन बनते जा रहे हो तुम!

यही, इतना भर तो जीवन नहीं होता। तुम्हें समझा नहीं पाती हूँ।

ठीक है मैंने कहा था कि, मैं तुम्हें संपूर्णता में चाहती हूँ। पर यही इतना भर छूट जाए तो देह के पार भी चाह लेती तुम्हें। पर तुम! तुम हो कि इस देह से पार जाना ही नहीं चाहते! यहीं अटक गए हो! यहीं साबित करना है तुम्हें अपने आप को!

मैं सुखी हूँ कि दुखी हूँ? बीमार हूँ कि आराम में हूँ? मेरे पास पैसा है कि नहीं है?

एक छोटी सी स्टेनो की नौकरी में पैसा होता ही कितना है? मैं अपने लिए कपड़े, किताबें खरीद पाती हूँ कि नहीं? मैं फल, फूल, दूध, दही खाती हूँ कि नहीं?

मैं तुम्हारे मायने के किसी दायरे में हूँ भी ?

एक बार फिर मेरी लड़ाई मेरी माँ से ठन गई है। उनसे कहूंगी तो हँसेंगी, मजाक उड़ायेंगी।

“गई थी न मनमानी करने, अब भोगो।” ऐसा कुछ कह सकती थीं। पर भीतर से कहीं कराह उठेंगी। आखिर जो वे नहीं चाहती थीं, वही हुआ। उन्होंने ही कहा था कि औरत कमाए तो क्या? पैसा तो उसी के अधिकार में चला जाता है, जिसके कब्जे में औरत होती है। तो क्या मैं....?

नहीं, कब्जा नहीं, मैं वश में नहीं हूँ किसी के।

अरे, मैं मान क्यों नहीं रही कि मैं वश में हो गयी हूँ।

शचीन्द्र के वश में! ?

फूल लाया हूँ कमल के...

यह भी एक उमस भरी दोपहर थी। दिन भर के काम धाम से थकी सुमन खटिया के पायताने सिर टिका कर बैठी थीं। कहीं अदृश्य में उनकी दृष्टि अटकी थी। कभी कभी माथे पर अंगुलियों और अंगूठे से थोड़ा दबाव डालती थीं। कोई दर्द वहाँ बैठा था, ऐसा लगता था। दो एक बार खटिया के पायताने पर सिर टिकाए सोने का प्रयत्न भी कर चुकी थीं। पर उमस इतनी थी कि सोना मुश्किल लगता था। दूसरे, खटिया पर लेटी उनकी सास उनके सोने के प्रयत्न को विफल कर देती थीं। तत्क्षण उन्हें हल्का सा धक्का दे कर उठा देतीं और पंखा झलने का संकेत करतीं। उसी पंखे के सहारे तो वे जरा सा झपकी ले पा रही थीं। बेंत या बाँस से बुना और रंग बिरंगे कपड़ों की झालर से सजा पंखा नहीं था, अखबार था, जिसे मोड़ कर पंखा बना लिया गया था। इसी से वे खाट के उपर के प्राणी को हवा कर रही थीं। बीच बीच में यह हवा अपनी ओर भी कर लेती थीं। उसी बीच में खाट का प्राणी झल्ला उठता-“तनि हवा करतू!”

वे फिर अपना सिर सहलाने और हवा को अपनी तरफ करने के प्रति लापरवाह हो उठतीं।

“हे प्रभु!” धीरे से उनके मुँह से निकला। इसका अर्थ ‘ईश्वर’ नहीं था। इसका अर्थ ‘थकान’ था। ‘प्रभु’ का अर्थ ‘थकान’ हो सकता था, यह सोच कर उन्हें बहुत राहत मिली।

उसी पतले से बारामदे में कपड़े पर बना एक पुश्तैनी दीवार-चित्र टँगा था। यह चित्र मटमैला हो चुका था। यह भी इतिहास का हिस्सा था, चित्र भी और उसका मटमैलापन भी। इस इतिहास को मुन्ना जी के पिता जी, उनके छोटे भाई गिरधारी तिवारी और उनके अन्य भाई और उसके बाद की पीढ़ी गाहे बगाहे सुनाती रहती थी। यह इतिहास जितना सच था उतना ही यह भी सच था कि इस सच्चाई का कोई गवाह था, इसका इतिहास नहीं था। हर कोई किसी गवाह की बात करता था। पर कौन, यह तय नहीं हो पाता। फिलहाल लोगों ने इसे कथाओं और उपकथाओं के घालमेल में से अपने अपने अनुसार निकाल लिया था।

तो बात कुछ इस तरह कही जाती थी कि एक बार बड़के बाबा मतलब गिरधारी तिवारी के पिता जी के पिता के सबसे बड़े भाई बाँके बिहारी जी के मंदिर से लौट रहे थे, तब रास्ते में परेशान हाल कलकलते का सेठ उनसे टकरा गया। हर साल वह बाँके बिहारी जी से मनौती मान कर जाता था। लेकिन बात बनती नहीं थी। उसका मुकदमा बीसों साल से चल रहा था। कुल धन सम्पत्ति तीव्र गति से इस पर न्यौछावर होती जा रही थी। मामला कंगाली तक

न पहुँच जाए, इस चिंता में सेठ गल रहा था। मुकदमा था उसकी पत्नी के घर वालों की तरफ से, जो यह मानते थे कि उसी ने अपनी पत्नी की हत्या की थी। वह ऐसा नहीं मानता था। बड़के बाबा से भावुक हो कर उसने बताया था कि भला वह क्यों अपनी पत्नी की हत्या करना चाहेगा? इतना काम संभालने वाली औरत थी। कितना पैसा खर्च कर लो, वैसा काम नौकर नहीं कर सकता! फिर अपनी जोरू थी तो कभी कभार किसी बात पर हाथ उठ जाता था। यह भी कोई नई और बड़ी बात नहीं थी। उस दिन जरा ज्यादा चोट लग गयी होगी। हाथ गले पर था, आवेश में जरा ज्यादा दब गया होगा। इतनी सी बात का बतंगड़ बना कर रख दिया है उसके घरवालों ने! उन्हें भी कौन सा प्यार मोहब्बत गलाए जा रहा है? चाहते हैं कि मैं कुछ ले दे के बात रफा दफा कर दूँ। पर मैं भी अड़ गया हूँ, कानून के हाथों बरी हो कर निकलूंगा, तब देखेंगे, एक कौड़ी उनके हाथ नहीं आयेगी उल्टा उनका भी पैसा ऐसे ही लगेगा, जैसे कि मेरा बहा जा रहा है।

बहुत भावुक हो कर सेठ ने कहा-“ कुछ भी कहो, मगर थी तो अपनी बीबी। मैं जैसे चाहता, वैसे रखता। इसमें उसके मायके वाले क्यों कूद पड़े? यही बात गले का कांटा है पंडित जी। मैं तो इन मायके वालों को ही उसकी मौत का जिम्मेदार मानता हूँ। जब तब उसे भड़काते रहते थे और उसे भी देखो तो अपने पति परमेश्वर से ज्यादा मायके वालों की बातों पर यकीन कर लेती थी। यही सारे झगड़ा फसाद की जड़ था।”

भावातुर सेठ जी रोने को हो आए थे। कहने लगे-“ पंडित जी, भोली थी मेरी बीबी। उसके मायके वालों ने उसे चढ़ाया। शुरू में कुछ न बोलती थी लेकिन इन सबों के बहकावे में आ कर अनाप शनाप बकने लगी। आप ही बतावें, जो खाना दे, पहनने को दे, रहने को हवेली दे, गहने गढ़वावे, उसी को अनाप शनाप.... बतावें, कितना सहन करेगा आदमी? गुस्सा न आयेगा? बस, यही बात थी। मूल दोष उन्हीं लोगों का था और अब मुझे फँसाना चाहते हैं। मैं भी छोड़ने वालों में से नहीं हूँ। आप से सब सच कह दिया है। बाकी बाँके बिहारी की कृपा।”

बड़के बाबा उसके दुख से दुखी हुए। दुखी हो कर पूछा था कि “अपनी बीबी थी तो मायके वालों के चक्कर में पड़ने क्यों दिया? मायके वाले तो होते ही ऐसे हैं, दामाद के दुश्मन। उपर से खातिरदारी करते हैं मगर भीतर भीतर घात करते हैं।”

यह बात सेठ के दिल को छू गयी। वह उनके पैरों पर झुक आया।

“बाबा, आप तो पंडित हैं। आशीर्वाद दें कि मैं इस झंझट से निकल जाऊँ।”

बाबा ने अश्रुपूरित नेत्रों से आशीर्वाचन उचारे। और संयोग ऐसा बना कि आशीष फलीभूत हो गया। साल बीतते न बीतते सेठ की बीबी का वह भाई, जो जी जान से मुकदमा संभाले था, मर गया और सेठ का मुकदमा मुअत्तल हो गया। सेठ बड़के बाबा को ढूँढते हुए आया और गद्गद् भाव से उनके पैरों पर गिर पड़ा। उसकी धन दौलत स्वाहा हो चुकी थी। यही एक पेंटिंग थी, जिसे वह गुजरात से लाया हुआ बताता था, उसने आँखों में आँसू भर कर बाबा को भेंट किया था। बाँके बिहारी के प्रति अगाध श्रद्धा इसमें से झलकती थी। मानने वाले ऐसा मानते थे। दूसरा पाठान्तर भी था।

चित्र में बाँके बिहारी भाव विह्वल से, कमल का फूल थामे खड़े हैं। राधा रानी उनकी तरफ केश खोले, मुँह दूसरी तरफ किए खड़ी हैं मानो कह रही हों कि ‘लो सजा दो मेरे केश...’

इस पर दूसरे पाठान्तर वालों ने कहा कि “जानौ सेठवा बड़ा रसिक रहा। और कौनो चित्र ओकरा के न सूझल!”

कोई कहता-“ का हो, सेठवा भक्त रहल कि प्रेमी? जनात नाहीं! अइसन चित्र भेंट कइलस?”

“प्रेम भी भक्ति का रूप है।” कोई बुजुर्ग टोकता।

“काहे झूठ बोलत हउवा? ननकी के बेरा कइसन गड़ासा ले के काटे दौड़ले रहला!”
कोई युवा चिढ़ाता।

“चुप सार! जबान लड़ावत हउवा!”

“सही बात बोले पे डटबा?” कोई दूसरा बच्चा मजे ले कर कहता।

विवाद बढ़ने लगता तो बीच में गाने का स्वर गूंजने लगता। पता चलता कि दामोदर जी गा रहे हैं-“ झूठे रे जग पतियाओ.... साँच कहे तो मारन धायो.... साँच कहे तो..... झूठे रे जग पतियाओ.....

यह आग लगउवा गीत था। इस पर जो भी पुरानी पीढ़ी का सामने पड़ता, चाहे वह ज्यादातर दूसरे लोक की यात्रा में लीन गिरधारी तिवारी ही क्यों न हों, दो चार गाली दिए बिना न टलता।

“बुढ़वन से गाली गुफ़ता का औरो मजा है।” मनोहर पूरी मस्ती में कहते।

चित्र चूँकि वहीं रुक गया था और पाठान्तर को जन्म देता था, इसलिए कल्पना में लोगों ने कृष्ण के एक कदम आगे बढ़ जाने और कमल के बालों में लग जाने को भी सराह लिया था या न लग पाने की कचोट में भी कुछ रह गए थे। इस सब के बावजूद चित्र की साफ सफाई पर किसी का ध्यान नहीं था। चित्र मटमैला हो चुका था। कई जगह से उसके असली रंग का अनुमान नहीं हो पाता था। बल्कि कालान्तर में ऐसा भी होता गया था कि लोगों के ध्यान से उतर गया था कि यहाँ ऐसा मनोरम भाव चित्र टंगा है! वे भूल चुके थे। भूले हुए उसके सामने से गुजर जाते थे। अभी इस वक्त भी चित्र के सामने दो व्यक्ति चित्र से बिल्कुल ही अनजान गर्मी से परेशान से, कुछ आराम का उपक्रम करने में लगे थे।

ठीक इसी समय दामोदर जी उधर से गुजरे। उनके हाथ में शनि महाराज को चढ़ाने के लिए लाए गए गेंदे के फूल थे। कत्थई पीली पंखुड़ियों वाले। उन्होंने अपनी हथेली का दोना बना कर उसे संभाला था। ये फूल मामूली नहीं थे। किसी के घर की चारदीवारी फाँद कर उनके गमले में से चुराए गए थे। इसे चोरी नहीं कहते थे। इसे चौर्य कला कहते थे। इस कला पर दामोदर जी को अभी फिलहाल नाज़ था। दुनिया इधर से उधर हो जाए पर शनि देवता के लिए फूल चाहिए ही थे। इसके लिए कई बार किसी छोटे बच्चे को बहलाना फुसलाना भी पड़ा था। आज दोपहर के इस वक्त कैसा मौका हाथ लग गया था। वे मन ही मन मुस्कराते हुए गुजर रहे थे कि उनके पाँव से कोई चीज टकराई। झुक कर देखने लगे कि ससुर है क्या? पाया कि बिलार कल जो कटोरा ले कर भाग गयी थी और जिसके लिए बड़ा कोहराम मचा था, वही कटोरा पड़ा है। वे एक पल को खुश हुए। इसी के लिए त्राहि त्राहि मची थी लेकिन तत्क्षण उनकी खुशी स्थगित हो गई। उसमें रखा बड़की अम्मां का दाँत वाला डेंचर तो था ही नहीं! चारों तरफ देखा। क्या पता यहीं कहीं पड़ा हो! बिलार का क्या ठिकाना? कहीं छोड़ गयी हो!

इसी चारों तरफ डेंचर की ढुँढाई में उनका ध्यान दीवार चित्र की तरफ चला गया। वे पल भर को रुक गए। पहली बार उन्होंने चित्र को इतने गौर से देखा। पहली ही बार उन्हें सचमुच अफसोस हुआ कि कृष्ण कमल का फूल ले कर वर्षों से रुके रह गए हैं। पहली ही बार उन्हें राधा रानी के चेहरे के भाव नजर आए। मनोरम तृप्ति से जगमगाता उनका चेहरा...वे

मंत्रमुग्ध खड़े रह गए। पहली ही बार उनका मन इस तरह भर आया कि वे कृष्ण के देर करने पर खीझे और फूल उनसे ले कर उन खुले सघन केशराशि में सजा देने को एक कदम आगे बढ़े। राधा का प्राचीन वैभव धीरे धीरे उनके आगे साकार होने लगा....

सामने खटिया के पायताने सिर टिकाए सुमन की आँख पल भर को लग गयी थी। पंखा बना अखबार हाथ में तब भी झूल रहा था। पसीने की झिलमिलाती बूंदें उनकी आँखों के नीचे और ठोड़ी पर चमक रही थीं। सुन्दर नील कमल सी उनकी साँवली त्वचा लावण्य से भर उठी थी। 'सुन्दर नील कमल' दामोदर जी के मन में कौंधा। साड़ी का पल्ला हल्का सा नीचे खिसक आया था। बेध्यानी में दो सुन्दर कलश हल्का हल्का हिल रहे थे। सांस की आती जाती गति से नाक भी हल्का हल्का कंपायमान थी। नाक पर नकली पत्थर से मढ़ी लौंग थी। नकली पत्थर किसी असली हीरे सा जगमगा रहा था। पाँव ढका था पर अंगुलियाँ थोड़ा थोड़ा झाँक रही थीं। खुली झाँकती अंगुलियाँ किसी बच्चे सी नटखट लग रही थीं। ब्लाउल की काँच पर पसीने का बड़ा सा गोला उभर आया था। थकी हुयी उंघती स्त्री, इससे पहले कभी उनके ध्यान में न आयी थी। थकान भी इतनी सुंदर हो सकती है, पहली बार दामोदर जी देख रहे थे। खिंचे, बँधे, चित्रलिखित से.....। थकान के इस पल का नाम राधा रानी भी हो सकता था! या राधा रानी का पर्याय थी थकान! अब तक जैसे उन्होंने यह दीवार—चित्र देखा ही न था! अब तक जैसे उन्होंने इतनी पस्त स्त्री देखा ही न था! उनकी हथेलियों का दोना कथई पीली पंखुड़ियों वाले फूलों से भरा था। वे एक कदम आगे बढ़े, फिर हिचक गए। नहीं, इस पल के विश्राम को किसी भी थके आदमी से नहीं छीना जा सकता!

उन्होंने आँखें मूंद लिया। हृदय में राधा रानी जाग उठीं। उनकी हथेलियों से कब कथई पीली पंखुड़ियों वाले फूल धीरे धीरे राधा रानी की अभ्यर्थना में गिरने लगे, उन्हें ख्याल तक न रहा।

कथई पीली पंखुड़ियों वाले फूलों के खुली अंगुलियों पर गिरने से तत्क्षण राधा रानी की आँखें खुल गयीं। तत्क्षण दामोदर जी की भी आँखें खुल गयीं।

न तो मौसम था न हालात न तारीख न दिन

मैं हाथ में अखबार का वही बंडल लिए, जिसे दामोदर जी ने लेने से इंकार कर दिया था और दामोदर जी के आँख दिखाने के कारण मुन्ना बो भी छोड़ आयी थीं, वही लिए दिए दुकान के सामने रिक्शे से उतरी। सामने थोड़ी सी जगह थी, जो सड़क की आवाजाही से अपने को बचा ले गयी सी लगती थी। उसी जगह पर कुर्सी खींच कर मुन्ना बो के ससुर बैठे थे। उनके अगल बगल दुकानों की नाक तक गाड़ियाँ खड़ी थीं। मुझे देखते ही उन्होंने इशारे से कहा कि अंदर जाओ। अंदर कान्हा तिवारी जमे थे। स्टूल पर बैठ कर काँच के भीतर के मोबाइल को जाँच रहे थे। मुन्नाबो एक किनारे कुर्सी पर बैठी थी। जब मैं घुसी, उसी समय कान्हा तिवारी ने मुन्ना बो की तरफ देख कर गर्दन मटका कर, लम्बा सा मुस्करा कर कोई भद्दा सा चुटकुला सुनाया था। अपना मोबाइल मुन्ना बो की तरफ कर के कोई एस एम एस पढ़ने को कह रहे थे। जब वे नहीं पढ़ें तो सुनाने लगे। उसी की आखिरी या शायद पूरी ही थीं, पंक्तियाँ मेरे कानों में पड़ीं। यह कुछ इस तरह था-

हवा चली बड़ी जोर से, हवा चली बड़ी जोर से

डर से मेरी प्रेमिका चिपक न जाए किसी और से.....

“यह सब आप कहाँ से सुन कर आ जाते हैं कान्हा बाबू?” शांति से मुस्कराते हुए

मुन्ना बो ने कहा और उठ कर मुझे अपनी तरफ खींच कर उसी, अपनी वाली कुर्सी पर बिठा दिया। कुर्सी एक ही थी। मैं न न करते बैठ गयी तो वे उसी काँच वाली अलमारी जैसी टेबुल से सट कर खड़ी हो गयीं। पता नहीं मुझे ऐसा ही लगा कि मेरे अचानक चले आने से कान्हा तिवारी कुछ असहज हो उठे थे, जबकि मैंने उनका चुटकुला पूरा नहीं सुना था, मुन्ना बो की बात जरूर पूरी सुनी थी। कान्हा तिवारी तुरंत उठ खड़े हुए।

“कहाँ जाएँ, कहाँ जाएँ कि चैन मिले।” वे हाथ उठा कर बुदबुदाएँ और एकाएक ही दुकान से बाहर चले गए।

“जब देखो, आ कर यहीं जम जाते हैं। पता नहीं क्या समझ लिया है? इन्हें घर में कोई बोल ही नहीं सकता। बात बात पर कट्टा निकाल लेते हैं।” मुन्ना बो ने बिना मेरी तरफ देखे कहा।

“आफत है बस।” यह उन्होंने बहुत धीरे से उसी स्टूल पर बैठते हुए कहा, जिस पर क्षण भर पहले कान्हा तिवारी बैठे थे।

“बाहर बड़के मौसा जी बैठे हैं? मैं समझी थी दुकान आपके भरोसे है?”

“बिट्टो बीबी जी, चौबीसों घंटे कोई न कोई नजर रखता है। जहाँ जहाँ इधर के लोग गैप छोड़ देते हैं, वहाँ वहाँ मेरे घर के लोग गैप भर देते हैं। ये जो दरवाजा देख रही हैं न, यहाँ से जब देखो, ‘सुमन’ ‘सुमन’ का जाप करते कोई न कोई आता जाता रहता है।” वे उदास हो उठीं।

तभी सचमुच उस भीतरी दरवाजे से एक बूढ़ी औरत निकली और उसने एक छोटे से बच्चे को धक्का देते हुए आगे किया-“ जाओ, जाओ, बुआ टॉफी दिला देंगी। ऐ सुमन, दिलाई दो कुछ।”

“हूँ... आओ, आ जाओ।” सुमन, जो मुन्ना बो थीं, उन्होंने बिना हिले डुले कहा। बच्चा अपने आप उन तक आ गया तो बूढ़ी औरत दरवाजे के पीछे गुम हो गयी। तब दामोदर जी हाथ में चाय का दो गिलास लिए अंदर घुसे-“ कान्हा चले गए क्या? ला, चाय पीआ।” उन्होंने काँच की अलमारी जैसी टेबुल पर बड़े संभाल कर चाय रखी। फिर बच्चे का हाथ पकड़ कर उसे तरह तरह से बहलाने पुचकारने लगे। सुमन उर्फ मुन्ना बो ने द्वार खोल कर एक रुपया निकाल कर दामोदर जी को दिया -“ टॉफी।” दामोदरजी रुपया ले कर बच्चे के साथ निकल गए। तब तुरंत ही वे हिसाब वाली कॉपी में ‘एक रुपया - टॉफी पप्पू के लिए’ ऐसा नोट करने लगीं। उनके इस तरह नोट करने से मेरी स्मृति में मेरी माँ खट से बज उठीं। वे भी इसी तरह एक-एक पाई का हिसाब नोट करती रहती थीं और पिता जी उसे चेक करते रहते थे। फिर भी कुछ रुपये जाने किस हिसाब से चूक जाते थे, जिनमें से वे मौसी को कभी कुछ भेज देती थी। कभी हम बहनों में से जिसे ज्यादा जरूरत आ जाती, दे देती थीं। क्या मुन्ना बो बनी सुमन के हिसाब में भी कुछ चूक जाता होगा?

“बिट्टो बीबी जी, कहीं हमारे लिए बाहर कोई नौकरी बताइए। आप दस लोगों के बीच हैं। कुछ देखिए। क्या कहें? यहाँ चारों तरफ से घिरे हैं। इसमें से निकलने का रास्ता तो ढूँढना होगा। आप समझ रही हैं न!” उन्होंने बड़ी गहरी उदासी से कहा।

मेरा मन मचल उठा। लगा कि मेरे साथ ‘कहीं निकल पड़ने की साध लिए’ कोई और भी है। ‘चलो, साथ चलो। लड़ने का हौसला रहेगा।’ उपर से मैंने यह नहीं कहा, बल्कि अचानक ही उनकी उदास मुद्रा के आगे मैं प्रसन्न हो उठी। मेरे जैसा ही तो कुछ था। ‘साथी, हाथ

बढ़ाना' मैंने हाथ बढ़ा कर धीरे से कहा। उन्होंने हैरानी से भर कर मेरा बढ़ाया हाथ थाम लिया।

फिर उन्होंने धीरे धीरे कहा-“ यही सब बताने का मन था आपसे। देखिए, सब लोग कैसे नोच खसोट पे जुटे हैं। दुकान का किराया नहीं दे पाते हैं न। इतना पैसा जो दुकान में लगा दिया। तो लोग किसी न किसी बहाने पैसा उगाहने की कोशिश करते हैं। कभी सब्जी लाओ, कभी चाय की पत्ती, कभी कुछ, कभी कुछ लगा ही रहता है। दामोदर जी लगे रहते हैं। इस घर में वही एक सज्जन आदमी हैं। वे तो जानते भी नहीं कि जब तब अल्मारी के नीचे दस, बीस रुपये मैं ही गिरा देती हूँ। शनि महाराज की कृपा कह कर उठा लेते हैं। खोल ओढ़ कर बैठे हैं शनि महाराज का! मन करता है सब नाटक खोल के रख दूँ। जीवन से कब तक भागेंगे? लेकिन बस, उनकी सज्जनता देख कर रुक जाती हूँ। पर ज्यादा दिन नहीं चलने दूंगी अपने सामने यह सब!” वे रुक गयीं। फिर उनकी उदासी में बहुत भीतर गड़ी मुस्कान की एक सुंदर दीप्ति उभरी।

“कितना तो सुंदर मन है उनके पास! एक दिन की बात कहूँ आपसे। उस दिन जरा सा अँगुली भर छू गयी थी तो खड़े रह गए कितनी ही देर। अगले दिन कविता लिख कर लाए। इतनी सुंदर लिखावट में लिखे थे मानो टाइप किया हो। ला कर मेरे टिफिन वाली पॉलीथिन के नीचे खोंस दिए। वो तो कहो किसी की नजर न पड़ी। लजाते रहते हैं। क्या कहें आपसे, यही एक सीधे आदमी हैं।”

“ये देखिए।” कह कर उन्होंने कहीं किसी अज्ञात लोक से एक कागज निकाल कर मेज पर रख दिया। कागज क्या था, डायरी का पन्ना था। उस पर कोशिश भर साफ लिखावट में कविता उकेरी गई थी। कहीं कहीं मात्रा की कुछ गलतियाँ रह गई थीं। मगर जहाँ इस बात पर ध्यान गया था, वहाँ काट कर सुधारा गया था। कहने का मलतब की अपनी तरफ से पूरी सावधानी की कोशिश थी। कहीं कुछ पहले लिखा गया था, फिर उसे कहना ठीक न मानते हुए, या कहने में कुछ संकोच महसूस करते हुए काट दिया गया था। कटा हुआ हिस्सा भी चमक रहा था। मेरी आँखें उसी पर सबसे पहले गई थीं। इस तरह बिखरी हुई, कहीं कहीं कटी हुई भी, नीली नीली मोतियाँ मेरे सामने मेज पर पड़ी थीं।

यह कविता थी।

यह करुणा की नदी थी।

यह हृदय था, जो खुल कर सामने पड़ा धड़क रहा था।

मैंने पढ़ा।

ये किधर निकल रही थीं वे? मुझे विश्वास सा न हुआ। मन हुआ टोक दूँ। ये क्या कि कुँए से निकले खाई में गिरे? यही भोले भंडारी बचे हैं दुनिया में? और मुन्ना जी? जीवन से बाहर निकल गए थे क्या? लेकिन उनकी चमकती हुई आँखों के आगे कुछ कहते न बन रहा था।

“मुन्ना भइया क्या लौटेंगे नहीं?” मेरा यह प्रश्न जमाने का प्रश्न था। वे जानती थीं।

बिना मेरे पूछे ही कहने लगीं-“ बीबी जी, जीवन में गणित होता है, सिर्फ गणित जीवन नहीं हो सकता। जिंदगी के धक्के आदमी को केवल तोड़ते ही नहीं हैं, सिखाते भी हैं। मजबूत भी करते जाते हैं। मैंने भी इसे जी कर ही सीखा। मुन्ना जी दुकान खोले, तब भी दुबई भागने की जरूरत पड़ी। दुकान बेचने की कोशिश किए। पैसा भी ले लिए थे किसी से। लेकिन ऐन वक्त पर बात खुल गयी। पैसा ले कर तो वे भाग गए। दुकान बस बच गयी। जैसे तैसे उस

आदमी का पैसा चुका रहे हैं। किस्तों में दे रहे हैं। पता नहीं कितनी मुश्किलों से यह सब चल रहा है। डरती हूँ कि कुछ न ठीक बना तो मेरे साथ तो कुछ भी हो सकता है।”

“कुछ भी ? ऐसा न कहिए भाभी।”

“कुछ भी मतलब कुछ भी। यही वक्त की जरूरत बन सकती है। अपने भरसक काम कर रही हूँ और अपने भरसक सोच रही हूँ। मैं सोच लूंगी इसका मुझे भरोसा है। किसी और पर नहीं अपने पर है। हाँ, एक और” कहते कहते वे रुक गयीं और हल्का सा मुस्करा उठीं।

दामोदर जी बच्चे को लिए तभी आ गए थे। वे संकोच से भर उठे। उनका संकोच मुझे बड़ा भला सा लगा। मुस्कराना उससे भी भला लगा था। इस समूचे दृश्य में से मैं एकदम अभी बाहर कर दी गयी थी। इस बाहर हो जाने पर मैं भी मुस्करा उठी। मैं चलने के लिए उठी। अचानक बच्चे को गोद से उतार कर वे मुझे रिक्शा कराने बाहर निकल आए। इससे पहले कभी वे मुझे रिक्शा कराने के लिए नहीं आए थे। बाहर कुर्सी पर मुन्ना बो के ससुर बैठे थे।

“अच्छा, रिक्शा कराने?” उन्होंने हाथ के इशारे से पूछा और हाथ के इशारे से ही मेरे प्रणाम के उत्तर में ‘जाओ, जाओ’ जैसा कहा। हम सड़क पार कर के दूसरी पटरी पर आए। रिक्शा उधर ही मिलना था। एक रिक्शा रुक भी गया था। लेकिन अचानक दामोदर जी ने मुझे हाथ उठा कर रोका—“ तुमसे कुछ बात करना चाहते हैं बिट्टो।”

“हाँ, भइया।” कह कर मैं रुक गयी। थोड़ा चकित थी, थोड़ा लगाव महसूस कर रही थी। दामोदर जी इससे पहले कभी भी मुझसे इस गहरी आत्मीयता से नहीं बोले थे।

“तुम्हें क्या बतावें ? दुकान से कोई पैसा रुपया का लाभ तो हमें है नहीं। लेकिन इज्जत है कि अपनी दुकान है। झूठी इज्जत दो रहे हैं। हम जानते हैं बिट्टो। तुम्हारी भाभी सोचती हैं हमें कुछ नहीं पता। जो दस बीस रुपया मिल जाता है बीच बीच में, वही, तुम्हारी भाभी गिरा देती हैं चुपके से अलमारी के नीचे। हम जानते हैं। किसी से कह तो नहीं सकते। मम्मी तो समझ भी न सकेंगी।”

तो वे जानते थे! अगर वे जानते थे तो ‘उनका यह जानना’ जल्दी ही भाभी भी जान जाएगी, मैं यह सोच कर कुछ खुश हो गयी।

“भइया, इतना पूजा पाठ? सारा समय इसी में लग जाए, सारा सोचने का दायरा यही हो, यह ठीक है क्या?” मैंने अपने मन की बात आखिर इस मौके पर कह ही दी।

“हम क्या यह नहीं समझते बिट्टो! दुनिया जो देखती है, उसी को तुम भी सच मान रही हो! हम भी नहीं चाहते हैं यह सब। कोई अंध श्रद्धा नहीं है। पाखंड आदमी को कितना कमजोर कर देता है। किन्हीं हालातों से बचने का सहारा यह नहीं है। इतने वर्षों में हम भी जान गये हैं।”

“तो फिर यह क्यों किए जा रहे हैं भइया? भाभी आपको अच्छा आदमी मानती हैं और आप दुनिया से भाग रहे हैं!” मैंने जरा नाराजगी के साथ कहा।

वे इधर उधर सड़क पर देखने लगे। फिर नीचा सिर कर के कहने लगे—“ शनि महाराज का खोल ओढ़ कर बैठे हैं, बोलो क्यों? अपने ही घर में सब जीने नहीं देंगे। बेरोजगार आदमी की क्या औकात है, बताओ! लेकिन अब बहुत हो गया। हम इस खोल में न रह सकेंगे। सब पाखंड बंद होगा। जीवन के जल में उतरना होगा। उतरेंगे। कोई साथ दे तो हौसला होगा ही। बताओ, काम से कभी भागे हम? नहीं न। बकिर काम ही नहीं मिला अपने हिसाब का।”

उन्होंने आकाश की तरफ देखा और बहुत धीमी और बहुत साफ आवाज में कहा—“कैसी भली हैं वे! कैसी भली हैं वे!”

वे अपने भीतर गहरे धंसी किसी मुलायम सी चीज को छिपा रहे थे।

हल्की सी रोकी हुई मुस्कराहट उनकी आँखों और गालों पर खिंच आई थी।

शुरुआत

दृश्य-1

संझा बेला थी। हवा मंद मंथर गति से चल रही थी। मगर पत्थर से चुने इस विराट मकान के इस निचले तल्ले तक भी नहीं पहुँच पाती थी। पहुँचने का आभास जरूर देती थी। इसी पर लोग कहते थे- “ए देखा, हवा चलत ह....।” हवा की आभासी पहुँच के बीच इस तल्ले पर महिला संगीत चल रहा था। मोहल्ले की तमाम औरतें इकट्ठा हुई थीं। बैठका के एक तरफ कोने में बैठी ननकी अन्यमनस्क सी लग रही थी। हाथ पैरों में हल्दी लगायी गयी थी। पूरा शरीर ही कुछ अजीब पीला हुआ था। हल्दी और संगीत की यह रस्म हड़बड़ी में आज रख दी गयी थी। इससे गानेवाल्याँ भी हड़बड़ी में दिख रही थीं। जल्दी जल्दी एक दूसरे को पुकार पुकार कर गाने का अनुरोध कर रही थीं। पहले किसी ने परम्परा के मुताबिक भजन उठाया। फिल्मी गानों की तर्ज पर धड़ाधड़ कई भजन हुए। किसी ने गणेश की स्तुति गाई, किसी ने शिव पार्वती का विवाह गीत। कोई हनुमान जी की भी स्तुति गाने को उठा तो झुंड में से किसी को एकदम बर्दाश्त न हुआ—“ का बहिना, हनुमान तो कुँवारे रहे। उनको इस टाइम में गाना उचित नइखे।” इस पर एक जोरदार हँसी का फव्वारा छूटा।

“अब बस करा भजन। बन्ना बन्नी गावे का समय काहे खतम करत हउ?” किसी ने चेताया। लोग बन्ना बन्नी गीत की तरफ मुड़े। तरह तरह के गाने याद किए जाने लगे।

सुमन बीच बीच में इलायची, सौंफ, लौंग लिए इस उस के पास आ जा रही थीं। बीच में चाय पानी भी चला आ रहा था। घर परिवार की आस पास ब्याही सब लड़कियाँ भागती हुई आई थीं। उनके तमाम सामान उनके अपने घरों में छूट गए थे। किसी की चप्पल छूट गयी थी, किसी का टूथ ब्रश छूट गया था। किसी के सजने सँवरने का भी एकाध सामान रह गया था। वे बार बार जल्दीबाजी में चले आने की दुहाई दे रही थीं। फिर भी वे कोशिश भर गला खोल कर गा रही थीं। तभी दूँदाई शुरू हुई कि ‘कहाँ गयीं जौनपुरवाली? उनसे बढ़िया गीत कौन कढ़ाए?’

जौनपुरवाली से मतलब गिरधारी तिवारी की पत्नी था। गिरधारी तिवारी की पत्नी मतलब कि मौसी। मौसी की टेर उठी। बार बार कहना पड़ा कि “आती ही होंगी। जरा आश्रम गयी हैं।” ननकी की माँ भुनभुनाई -“मने कि आज तो आश्रम छोड़ सकती थीं।” मगर उपर से कुछ नहीं बोलीं। किसी मोहल्ले की औरत ने कहा भी कि “घर का काज छोड़ के आज के दिन आश्रम कहाँ चली गयीं? गजब हैं जौनपुरवाली!” इस पर आज के रस्म की खबर पा कर भागी चली आई बेटियों ने मुँह टेढ़ा कर के जवाब दिया—“ अरे वो कब न क्या करें! शुरू से ऐसे करती रहीं, हमीं जानते हैं! हम लोग कुछ नहीं बोलते। एक हमारी अम्मा हैं, एक वो!” यह अच्छा मौका था मन की भड़ास निकालने का। मौसी की तरफ से कोई सफाई देने वाला भी नहीं था। सुमन ने जरूर हैरत से उन्हें देखा और ऐसी जलनकुट्टी बातों में बोलना बेकार मान कर दूसरी तरफ चली गयीं।

तभी कार्यक्रम में तेजी आ गयी। रिश्तेदार, सखियाँ, बहनें सब चूम चूम कर हल्दी लगाने लगीं। पाँच जगह चूमना होता था। पहले माथे पर, फिर गाल पर, फिर कंधा, फिर घुटना, फिर पैरों का पंजा या अंगूठा। गीत के बोल उतनी ही तेजी से बदल गए। 'चूमन चलीं गोरी... ' जैसा स्वर तैरने लगा। रस्म खत्म होते ही एक बेटी उठी और उसने ढेर सारा हल्दी ननकी की दोनों बाँहों पर मल दिया। पाँव में लगाने को हाथ बढ़ाई थी कि ननकी ने रुआँसे हो कर कहा-“ बस दीदी।” बेटी ने छोड़ दिया।

“जा फिर अंदर बैठ कर अच्छे से पाँव भर मल ले। फिर धो लेना।”

ननकी ने सहमति से सिर हिलाया और उठ कर अंदर चली गयी।

इधर किसी ने तान छोड़ी- “ बन्नी मेरी फूल चमेली, बन्ना गुलजार है.....”

लोग हा हा कर के हँसे।

“ दुल्हन इ गाना रहै दो।” एक वृद्धा ने टोका।

“बन्नी तो फूल है, मगर ये बन्ना पूरा बगीचा लिए रहेगा? हाँ भई, कहाँ का न्याय है? ये नहीं चलेगा।” किसी ने मजाक भरी आपत्ति दर्ज की।

“ फेरों पर बन्नी, बन्ने से झगड़ी... अजी, क्यों नहीं लाए सोने की तगड़ी.....”

इस स्वर में कई स्वर मिल गए। फिर तो बन्नी ने फेरों पर तमाम गहनों की फरमाइश की। बन्ना कुछ नहीं लाया था। झगड़ा बढ़ता था तो बन्ना बहलाता फुसलाता था। भोली बन्नी मान जाती थी।

“अरे मेरी प्यारी बन्नी, अरे मेरी भोली बन्नी,... .. तू शादी तो हो जाने दे... फिर शीश महल बनवा दूंगा..... फिर गहने मैं गढ़वा दूंगा.... अरे मेरी प्यारी बन्नी, अरे मेरी भोली बन्नी.....”

सुमन ने ढोलक अचानक अपनी तरफ खींच ली- “ बलम मोहे ठग के ली आए.... मैं तो सखी बी ए पास..... बलम मोहे ठग के ली आए.... तब तो कहें बलम पूड़ी मिठाई. तब तो कहें बलम महला दुमहला..... सूखी रोटी पे जिया तरसाये..... बलम मोहे ठग के ली आए..... ”

लोगों ने इस पर साथ में खूब गवाया। हँसी एक बार दिल खोल कर छायी।

“का मुन्ना बो, तू त जबरदस्त गावेलू महारानी!” किसी ने प्रशंसा में भर कर कहा।

“तू त नकटा गइलू! इ न चली। इ त मौर सिराए के बेरा गावल जाला। बिआह गीत गावा सब जनी।” किसी वृद्धा ने सुधारने की कोशिश की।

“खेतन में होइहैं बुलाइ द्यो न, मोहे बिच्छू ने काटा.... हाय! बिच्छू ने काटा.... बिच्छू की लहर मोरी अंगुरी तक आई..... बिच्छू की लहर मोरे हाथन तक आई..... बिच्छू की लहर मोरी अंगिया समाई.....” किसी नवेली ने बुढ़िया को चिढ़ाने के लिए बिन बजाई।

“चुप, बेशरम। एह मौका पर इ सब!” बुढ़िया गुस्साई। सारी औरतें जोरदार आवाज में हँस पड़ीं। ऐसे ठट्ठे के बीच पैर से सबकी चप्पल खिसकाती मौसी जी का प्रवेश हुआ। वे बिना सुने ही हँसी। अनुमानित की हँसी थी।

“काहे नयी नयी जनी के मुँह लगेलू अम्मा? इनही का तो उमर हौ, गइहैं न? तोहार सुनिहैं?” उन्होंने घुसते ही बिन माँगी सलाह दे कर अपना पाला साफ कर लिया।

“गावा दुल्हन, उ वाला गीत उठावा - “ लटकानी में तोहार इ चोना त जवानी में न जाने का कइलू?” मौसी ने तत्काल खड़े खड़े ही उकसाया। बुढ़िया के लाख मना करने के बावजूद मोहल्ले की नई औरतें, जिनकी शादी को चार छः साल हुए थे या आठ दस या

उससे भी अधिक पर जो रिश्ते में दुल्हन वाला ही पद रखती थीं, बड़े जोश में कढ़ाने लगीं।

तब आग में घी डाल कर अपनी मस्ती में मस्त मौसी 'हटा हो, तनि हटा हो।' कहते हुए जगह बनाती उस पुश्तैनी कुर्सी तक पहुँचीं, जो गिरधारी तिवारी और दामोदर जी के अधिकार क्षेत्र में आती थी, उसी पर धम्म से गिर गयीं। इस पर बैठ जाने के बारे में उन्होंने इससे पहले नहीं सोचा था। आज बिना सोचे ही साधिकार बैठ गयी थीं। आज का शुभ कार्य अचानक तय हुआ था। अचानक ही इसके लिए मौसी से उनके बैठका की बात की गई थी। कोई और समय होता तो वे साफ मना कर देतीं। पर अब वे एक अलग महिला थीं। आध्यात्म उनकी शरणस्थली था। प्रतिदिन दो घंटे सुबह और दो घंटे शाम वे उसी में शान्ति पा रही थीं और रोज कुछ न कुछ नया सीख कर आती थीं, घर वालों पर उस सीखे का कुछ रूआब भी गाठती थीं। इसी लिए बैठका में जब इस संगीत कार्यक्रम की बात आई तो उन्होंने परिवार की सहायता की बात नहीं सोची, उससे बड़ी बात सोची। बड़ी बात थी कि जन कल्याण की तरफ प्रवृत्त होना चाहिए। सब सम्पत्ति धूल बराबर है, मेरा तेरा बस, इसी इह लोक तक है, आगे तो कर्म ही काम आयेंगे, सम्पत्ति नहीं। इसीलिए उन्होंने जीवन में पहली बार इस पुश्तैनी बैठका पर एक छोटा सा निर्णय लेते समय गिरधारी तिवारी की तरफ देखा तक नहीं। उनकी आत्मा का उद्देश्य इस व्यर्थ के भौतिक संसार में भटकना था भी नहीं। अब तक भटकती रहीं, निरुद्देश्य रहीं। अब जा कर तो यह माया लोक समझ में आया। अब जा कर भ्रम छटा। क्या कहा था उस युवा साध्वी ने-“ हमारी सोल, सोल माने आत्मा, किसी उद्देश्य को ले कर इस भौतिक संसार में आती है। प्रत्येक आत्मा का एक उद्देश्य होता है। इसे हमें खोजना चाहिए।” मेरी आत्मा का क्या उद्देश्य है? वे पल भर को दुनिया से विरत हो कर सोच में पड़ गयीं।

“ जौनपुरवाली त सुस्ताए लागीं। आग में घी डारि के ओहर बैठि गयीं।” किसी ने उन्हें उकसाने के लिए जोरदार आवाज में कहा।

“हम त इंतजार में रहे कि आवैं तो संभारैं। ल हो ढोलकी, ए जौनपुरवाली, आवा सखी। बन्ना बन्नी की एक्सपरट हउ।” बड़ा दोस्ताना लहजा उभरा।

इतनी सारी तरह तरह की ललकारों का उन पर कोई असर न हुआ। वे शान्त और सहज बनी रहीं। पहले का वक्त होता तो अब तक उनकी गीतों की कॉपी निकल चुकी होती। कितने ही लच्छेदार गीतों से शमा बँध गया होता, लेकिन अभी वे उस तरह का जुनून महसूस नहीं कर पा रही थीं बल्कि उन्हें अपनी आत्मा का यह उद्देश्य बहुत छोटा, तुच्छ और पिछड़ा हुआ लगा। किसी ने उन्हें हाथ पकड़ कर उठाया तब वे उठीं और मंडली के बीच बैठ गयीं। थोड़ी ही देर में आत्मा परमात्मा के दर्शन को भूल कर गीतों में रम गयीं लेकिन उनकी कॉपी इस बार फिर भी नहीं निकली बल्कि उन्होंने कई बार उस कॉपी को उसके सच्चे उत्तराधिकारी को सौंप देने की बात भी सोची।

“हमार चुनौटिया कहीं हटइलू हौ?” गिरधारी तिवारी पूछने लगे। वे नहीं बोलीं। बल्कि उनके कान में गया ही नहीं। अब तक हर क्षण इस दूसरी आत्मा के पीछे भागती रही थीं और यह उन्हें अपमानित करती रही थी। जब कि भागना था परमात्मा के पीछे। यह जो उनका पति है, यह उनका पति नहीं है। यह भ्रम है। स्वामी मात्र परमात्मा है। इसलिए सारे भौतिक नियम बंधन क्रियाएं सब भ्रम हैं। उनकी आत्मा का उद्देश्य इस पति नामक जीव को प्रसन्न करने के प्रयास में दिन रात लगे रहना नहीं है। आजिज आ गई हैं वे इस प्रयास से। मार पीट, लड़ाई झगड़े, गाली गलौज से। वे आजिज आ गई हैं जीने के इस अब तक के प्रयास

से। एक सजायाफ़ता की तरह जीती रही थीं। भला हो उस पड़ोसन का, जो उन्हें खींच कर आश्रम ले गयी। वरना इसी में कलपती रहतीं। और अब, जो क्षण सामने है, उस क्षण के आनन्द से विरत क्यों हुआ जाए? उन्होंने अगले पल ही सोचा, संगीत हृदय का आनंद है, और सब कुछ सिर से झटक कर संगीत के जादू में खो गयीं।

ननकी एक बार भी संगीत मंडली के बीच नहीं आई। लोगों ने बुलाने की कोशिश भी की। जो कपड़ा उसने पहना था, उसे लेने के लिए नाउन खड़ी थी, बल्कि सिर्फ इसीलिए डटी हुई थी। मंडली उठ गयी। लोग जाने लगे। सुमन नमकीन, बिस्किट समेटने लगीं। इधर उधर पड़े गिलास, कप उठाए जाने लगे। तब धीरे से सुमन ने मौसी से पूछा-“छोटकी अम्मा, आप पे तो गजब असर भइल है आश्रम संगति का!”

“सुमन!” पहली बार मौसी ने मुन्ना बो न कह कर उन्हें सुमन कह कर बुलाया था।

“अब पूछ ली हो तो सुनो, औरत के लिए सबसे पहले घर से निकलना जरूरी है। बाहर की दुनिया उससे दूर रखी गयी है। बाहर जाओ तो तमाम तरह के विकल्प पता चलेंगे। घर में क्या जान लेंगे? मुझे सहूलियत नहीं थी, बहुत दाब के रखा गया था। अब जब एक विकल्प मिला तो वही अपना लिया। कई मिले होते तो चुनाव की दृष्टि मिलती। नहीं मिला तो जो मिला उसे छोड़ना भी ठीक न लगा। कुछ सोच विचार का सलीका मिलने लगा। यही कम नहीं था मेरे लिए। एक दिन मेरे साथ चलो। देखो, लोग कैसे अपनी समस्याओं से घिरे आते हैं और कुछ ही दिन में इनसे छूट कर अपनी आत्मा को पहचानने की कोशिश करने लगते हैं। मुझे भा गया। यह शादी, विवाह, कर्म कांड सब माया है, पति, जिसका सब अन्याय सहते रहे, भ्रम है, कोई पति नहीं, अपना आप जानो और जब तक इस दुनिया में हो, लोगों का कल्याण करने की कोशिश करो। हमें तो यही समझ में आया। इसके अगल बगल के विकल्प मुझे नहीं पता हैं। मगर तुम लोग नई पीढ़ी के हो, और तमाम रास्ते जान सकते हो, और तरह से कोशिश कर सकते हो। मेरी मुक्ति तो इसी में हो गयी बकिर तुम अपनी मुक्ति खोजो।” मौसी ने साफ़ खड़ी बोली में बिना झिझक के कहा। इस कहने में भी वे सोच सी रही थीं। सुमन उनके इस ढंग पर भौंचक रह गयीं। हाथ में नमकीन, बिस्किट की प्लेट थामे ठगी सी खड़ी रह गयीं। कितनी पते की बात कह गयीं छोटकी अम्मां! रास्ते होते ही हैं, बस हमें पता नहीं होता! पता नहीं कितनी लम्बी यात्रा होगी, यह भी हमें पता नहीं होता। लेकिन यात्रा के लिए निकलना तो होगा! क्या कहती हैं बिट्टो बहिन जी, स्टिल लाइफ! इस स्टिल लाइफ से निकलना.... रुका हुआ जीवन व्यर्थ ही है, यही सच अपनी तरह से छोटकी अम्मा भी कह रही हैं और बिट्टो बहिन जी भी। नरक में चुपचाप सड़ते चले जाना कौन सी बहादुरी है? ‘विकल्प’ अच्छा शब्द है, ढूँढना होगा हमें भी! वे भी विचार में फँस गयीं।

इधर घर की कुछ चीजें बेची गयी थीं, जिनसे पैसे आए थे। एक पुश्तैनी घड़ी थी, चाँदी के कलेवर वाली। उसके अच्छे पैसे मिले थे। एक पुराने जमाने की हँसुली थी, ननकी की अम्मा के हिस्से आई थी, कब से उसे बचाए जा रही थीं, इस बार नहीं बची। एक किताब थी, कोई पुराण था, किसी ने उसे पढ़ कर जानने में कभी दिलचस्पी नहीं ली थी, वह लोहे के मोटे डिब्बे में रखी थी, वह डिब्बा कबाड़ी को गया, एक साड़ी थी, नीले रंग की, न जाने कितनी पुरानी थी, दादी के जमाने की थी, उनकी मौत से पहले ननकी की अम्मा ने उसे छिपा लिया था, बँटवारे में उसका कहीं जिक्र नहीं था, उसके उपर चाँदी के तार का बुना पतला बार्डर लगा था, साड़ी गल गयी थी, बार्डर को संभाल कर उतार लिया गया था, सुनार के पास ले जाया गया था। एक पुरानी स्कूटर भी इसी बीच बेची गई थी। घर की गाय की भी यही

स्थिति हुई थी। सुमन ने अपना एक मात्र गहना, शादी वाली अंगूठी उतार कर दे दिया था। गिरधारी तिवारी अपनी अब तक बचा कर रखी जमा पूंजी निकाल लाए थे। चालीस हजार रूपए थे। उन्होंने ननकी के बाबू को उधार दे दिया। उधारी का अपना फायदा था। मदद की धौंस थी ही, उपर से जब तक की सहूलियत भी। बाबू पहले ही अपनी जमा पूंजी मुन्ना जी को दे चुके थे। तब से मुन्ना जी के दर्शन न हुए थे। यह तो ननकी का मामला गंभीर न हुआ होता तो उन्हें अभी कौन सी जल्दी थी। ननकी की उम्र भी क्या थी? सोलह सत्रह साल की लड़की! गर्भ गिराने को तैयार न हुई। बेवकूफ लड़की, मुसीबत खड़ी कर दी, वे तो कब का काट कर फेंक देते! लेकिन ननकी की अम्मां का मुँह देख कर रुक गए। यह भी बात नहीं थी, असल में लड़की ही अड़ गयी कि बच्चा पैदा करेंगे। इसी से जरा मजबूर हो गए। पागल औलाद, दिमाग खराब हो गया है इस लड़की का! किसी तरह यह शादी तय हुई है। चाहे जैसा हो दूल्हा, कम से कम इज्जत तो रह जायेगी, बाकी बातों से तो बाद में भी निपट लेंगे। वे परेशान थे, परेशानहाल सोच में पड़ जाते थे, सब ठीक से निपट जाए, लड़की विदा हो तो चैन की सांस लें। बावजूद इस सब पाई पाई जोड़ने के इंतजाम के बाबू सोने के सिक्के और दस हजार की गड़्डी की बात छिपा ले गए थे। कोई गंभीर समस्या आ जाए तो उससे निपटने का इंतजाम था यह, ऐसा वे मान रहे थे। भाइयों ने कई बार इस ओर हल्का सा इशारा भी किया था, मगर वे टाल गये थे।

बड़ा एहतियात बरता गया था। रूपए पैसे सब ऐसे मुक्कों में छिपाए गए थे, जहाँ चोर के बाप दादा भी न पहुँच पाते। लेकिन इस सब उपाय के बाद भी उसी रात, संगीत कार्यक्रम वाली रात ही चोरी हो गयी। घर में हाहाकार मच गया। लोग तरह तरह से बताने लग गए कि कैसे उन्हें आभास हो गया था कि कोई चोर है! कोई कहता कि हल्के अँधेरे में उसे लगा था कि कोई हाथ में आठ इंच का छुरा खोले, मुँह पर कपड़ा बांधे चल रहा है। कोई छुरा की जगह पिस्टल कहता, इस तरह इसके कई पाठ बन गए थे। कान्हा को लगा कि रात के अँधेरे में, नींद की हल्की बेहोशी में जब वे उठे थे तब जो कोई उनसे टकराया था, हो न हो वही चोर था। एक आदमी था कि दो जनी थे। दो ही थे। वे लुढ़कने को होते हुए भी नहीं लुढ़के थे, खाली गुस्सा कर 'का महाराज, इहौ बेरा चैन नहीं!' इतना कह कर, अपनी खाट पर वापस गिर गए थे। उनका हाथ खटिया के नीचे लटक गया था, तब चोर का जूता उनसे छू गया था। स्मृति पर थोड़ा और बल डाल कर उन्होंने कहा-“ चोरकटवा का जूता एकदम वइसन रहल, जइसन मुन्ना जी का। आगे से नुकीला निकला हुआ आयाताकार।”

फिर उन्हें मुन्ना जी की बात याद आई-‘ पाँच हजार दो असली के और दस हजार नकली के ले जाओ। चला लो। पाँच का फायदा।.....’

फिर वे खुद ही चौंक गए।

दृश्य-2

उपर बारामदे में ननकी का छोटा सा शरीर रखा था। पीले पीले हाथ पाँव दिख रहे थे। हल्दी का रंग फीका नहीं था। बल्कि ज्यादा गहरा दिख रहा था। चेहरा पीले गुलाब के मुरझा जाने जैसा मुरझा गया था। हमेशा गोल गोल गाल अपनी आभा बिखेरा करते थे, हँसते ही खट्ट से उन पर गड़्ढा पड़ जाता था। वे सब एकदम खामोश पीलेपन में डूबे पड़े थे। कोई आनन फानन में एक रंगीन चादर लाया है। उसी को शरीर पर ढक दिया गया है। नाक कान में किसी बुजुर्ग महिला ने रूई खोंस दी है। शरीर वायु के प्रवेश से फूलता चला जाएगा, ऐसा

माना गया था। परम्परा से सब यही देखते आए थे। मुन्ना बो बनी सुमन ने अगरबत्ती ला कर सिरहाने सुलगा दी।

विलाप का स्वर बाहर कहीं नहीं था।

भीतर था।

भीतर का विलाप दिखता हुआ विलाप नहीं था।

दिखती हुई चीजें अलग थीं।

माथा पकड़ कर ननकी की अम्मा एक तरफ बैठी थीं। ननकी के बाबू उपर से नीचे आ जा रहे थे। कान्हा तिवारी मोबाइल पर किसी को कुछ समझा रहे थे। मनोहर, गिरधारी तिवारी के एक विश्वसनीय को बुलाने गए थे। मौसी इस सब से निर्लिप्त अपने सुबह के प्रवचन में न जा पाने को ले कर संशय में थीं।

“आत्मा थी, उसने अपना रास्ता चुन लिया।” कह कर उन्होंने अपने इर्द गिर्द आने वालों को सात्वना दिया था। केवल घर के लोग थे। मोहल्ले में किसी को खबर नहीं की गयी थी।

“अभी किसी से बोले बतावे की जरूरत न हो।” बाबू ने निर्देश दे दिया था।

कल ही महिलाएं हल्दी की रस्म पर गीत गा कर गई थीं। कल ही इतना हँसी मजाक हुआ था। लोग हैरत में थे कि कल ही तो ननकी मान गई थी।

“आठवां हफ्ता लग गया था, न गर्भ गिराने को तैयार हो न बाबू के मन से शादी करने को!” घर की किसी बुजुर्ग महिला ने दुख में कहा।

“बस करौ, एह कोई बखत नइखे।” किसी दूसरे ने तुरंत सावधान कराया।

बात हैरानी की थी कि लोग ननकी को धमका कर, समझा बुझा कर हार रहे थे कि गर्भ गिरा दे या फिर यहाँ से हमेशा के लिए पल्ला साफ समझे। मगर ननकी कभी धीरे से कभी चिल्ला कर कहती जाती—“ मैं पैदा करूंगी। मेरा मन है। मेरे हिस्से में जो आ गया वह पूरा मेरा हुआ। मैं पाल लूंगी।” पर कुल समस्या यही थी। पालना आसान नहीं था। यही लोग समझा रहे थे कि खुद क्या खाओगी? और नन्हें को क्या खिलाओगी? पालने के लिए धन चाहिए था, उससे भी बड़ी चीज सामाजिक स्वीकृति चाहिए थी। पालने के लिए अपनी मर्जी कहीं थी ही नहीं! पालने के लिए घर वालों की मर्जी थी! घर वाले समाज नाम की संस्था के सदस्य थे। वे उन्हीं के नियमों से संचालित थे। वे उनके विरुद्ध जा कर परेशानी में नहीं पड़ना चाहते थे। अभी घर में और छोटी लड़कियाँ थीं। ननकी के चाचा की लड़कियाँ भी शादी योग्य हो गयी थीं..... ननकी नहीं मानी। तब उसके पिता के भाइयों ने मिल कर एक और उपाय निकाला - शादी। एक बूढ़ा व्यापारी आदमी निम्न कोटि का ब्राह्मण था। व्यापार भी उसका ब्राह्मणों के कर्मकांड से जुड़ता था। मुर्दों के क्रिया कर्म से। इसलिए ब्राह्मण उसे अपने बीच का मानते हुए भी नहीं मानते थे। ऐसे में यह भी हुआ था कि उसकी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद लम्बे समय से उसकी शादी नहीं हो पा रही थी। वह किसी ब्राह्मण लड़की को ही अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कर सकता था। इसलिए अच्छा मौका जान कर ननकी के बाबू अपने भाइयों की पलटन ले कर पहुँचे। छोटी सी लड़की, बूढ़ा व्यापारी अपनी चुटिया सहला कर स्वप्नलोक में डूबने लगा था। उसने चुटिया पकड़े पकड़े ‘हाँ’ कर दी। पैसे रूपए उसे चाहिए नहीं थे। लड़की की तस्वीर उसे पसंद थी। सबसे ज्यादा पसंद थी उम्र।

ननकी को सीधे सीधे यह बात नहीं पता चली। धीरे धीरे कर के घर के लोगों की बातों से रिसती हुई उस तक पहुँची। घर की एक लड़की ने आ कर कान में सबसे पहले

मंत्र फूका। फिर तो बात धीरे धीरे अपने रूपाकार में आने लगी। ननकी भड़क उठी। एक आखिरी बार अपने ब्वॉयफ्रेंड से मिलने भी गयी। लेकिन अपने सभी संभावित ठिकानों पर वह नहीं मिला। हाथ झटक कर वह पहले भी भगा चुका था। अब कहना कुछ बाकी था भी नहीं। पर एक कोशिश और ननकी ने की। अब अपना बच्चा पालने के लिए वह पूरी तरह दृढ़ हो कर लौट रही थी। समाज की परवाह अब उसे नहीं रह गयी थी। कहीं तो कोई जगह बची ही होगी, वहाँ रह लेगी, काम कर लेगी, लेकिन अपना बच्चा नहीं, उसे नहीं, उसे अपना लेगी। आज तक औरतें यही तो नहीं कर पाई थीं! ननकी ने अचानक निर्णय लिया और व्यापारी ब्राह्मण के घर चली गयी। व्यापारी ब्राह्मण से उसकी क्या बात हुई? इसका किसी को पता न चला। बस, शादी की 'हाँ' कह कर ननकी चुप हो गई थी। आनन फानन में हल्दी की रस्म कर दी गई थी। उस शाम तक भी ननकी एकदम सामान्य बैठी थी। चुप और अपने आप में खोई। फिर अचानक यह! सुमन हैरान थीं कि कोई भी बहुत आश्चर्य में नहीं था! ननकी की अम्मा सिर थामे बैठी थीं, बाबू उपर नीचे दौड़ रहे थे। अभी सोने से कुछ देर पहले तो ननकी ने सुमन से कहा था-“भाभी मैं भी हार मानने वाली नहीं हूँ। मैं अपना बच्चा पाल लूंगी। तुम देखना। कोई साथ न दे। बस, जीने दे।” फिर ? सुमन सोच में दीवार से टिक गयीं। तभी उन्हें याद आया कि ननकी के बाबू यानी कि उनके ससुर कल ही बहुत परेशान थे। अम्मां को बुला कर कोने में कुछ कह रहे थे। हल्का सा आभास उन्हें हुआ था कि व्यापारी ब्राह्मण ने शादी से मना कर दिया है। शायद खरीदने के सौदे की बात बोल रहा था और बाबू क्रोध से पगला उठे थे।

“इज्जत से बढ़ कर कुछ नहीं।” उन्होंने गुस्से और कड़ाई के साथ कहा था। अम्मा उसी वक्त रोने लगी थीं। उनकी हल्की हल्की सिसकी की आवाज समझ में आ रही थी। तब उन्हें भी लगा था कि यह सब ननकी से बताना ठीक नहीं होगा। तभी बाबू केमिस्ट की दुकान पर गए थे। दुकान बंद थी, तब उन्होंने मनोहर से कहा था कि “ए मनोहर! बाबू रे! तनि चले चलते चौक तक। निकार लो मुन्ना जी की बाइक।” मनोहर जैसे मौके के इंतजार में बैठे थे।

“हमें केहू लायक तो समझला।” मनोहर ने खुशी से कहा था और तुरंत मुन्ना जी की मोटरसाइकिल ले कर, बाबू को पीछे बैठा कर, चौक तक गए थे। चौक पर उन्हें केमिस्ट मिल गया था या नहीं? यह वे नहीं जान पाई थीं। मनोहर बाबू को छोड़ कर कहीं और निकल गए थे। किसी से गुपचुप भी कुछ खबर न मिली थी। जब बाबू लौटे थे तो चुपचाप कमरे में बैठे रहे थे। खाना खाते समय भी रोज की तरह नहीं बोले।

‘मुन्ना बो, तनि इ सब उठाइ के रखा ओहर।’ बाबू उन्हें ही कह रहे थे। वे चौक गयीं।

तो क्या पिछली रात एक सपना थी, जिसमें यही आदमी बेचैन सा ननकी के सिरहाने घूम रहा था!

उसी शाम की यह रात थी कि घर में चोरी हो गई थी। घर की कोई और चीज नहीं गई थी। सिर्फ़ पैसे किसी ने चुन चुन कर निकाले थे। बाबू को लगता था कि पैसे ऐसी जगह छिपाए गए हैं, जिसे घर का आदमी भी ठीक से न जान पाएगा। गिरधारी तिवारी भी ऐसा ही सोचते थे। लेकिन उनकी यह धारणा रह गई थी। कोई था जो भली भाँति सब जानता था! और जो उस रास्ते घुस आया था, जिसकी किसी को जानकारी न थी!

समस्या एक और आ गई थी। अभी तक तो बाबू अपने भाइयों को जोड़ कर पुलिस स्टेशन जाने की बात कर रहे थे, चोरी की रिपोर्ट लिखाने के लिए। पर इस पर अमल करना

मुश्किल था। एक की बजाय दो रिपोर्ट लिखवानी पड़ती। दूसरी रिपोर्ट के लिए घर सहमत नहीं था। इससे दुनिया भर का पचड़ा पड़ जाता। तरह तरह की बातें फैलतीं। तमाम बातें उनके हाथ से फिसल जातीं। जिन्हें मुट्ठी में बंद रखने के प्रयत्न में तो उन्होंने बूढ़े व्यापारी का हाथ पकड़ा था। दूसरी रिपोर्ट नहीं लिखवाने का मलतब पहली रिपोर्ट भी नहीं लिखवाना था। पुलिस आती, पहली रिपोर्ट की वजह से, बात खुल जाती, दूसरी रिपोर्ट न लिखवाने की। अजीब कश्मकश थी!

पैसा और ननकी - दो अलग चीजें थीं।

दो अलग बातें थीं।

दो अलग अहमियत थी!

थक हार कर गिरधारी तिवारी ने बाबू से कहा कि दोनों ही रिपोर्ट छोड़ दी जाएं।

छोड़ कुछ भी दिया जाए, उनका उधार तो छूटना नहीं था। वे मन ही मन गुणा भाग कर रहे थे।

“चालीस हजार का नुकसान सह लेबा?” दामोदर जी ने अचकचा कर पूछा।

“सब मिल के सह लेंगे। यह मति कह दिया।” गिरधारी तिवारी के एक भाई ने व्यंग्य किया।

“एह समय तो जनि कहा। बाद में सोचल जाइ।” गिरधारी तिवारी ने सहृदयता दिखाई। इस पर ननकी के बाबू उनके कुछ पास आ कर खड़े हो गए।

सुमन एक तरफ अपनी सास का कंधा दबाती, विकल और विरक्त सी मौसी को बीच बीच में हाथ पकड़ कर सहलाती बैठी थीं। एक बार जो ननकी ने उनसे भी कह दिया होता। अपनी मन की कितनी देर में एक बात कही थी! अपने भीतर सब लिए भिड़ती रही। क्या पता मिल कर कुछ और सोच पाते! ठीक कहती हैं बिट्टो बहिन जी, बिना संगठित हुए न हम अपने को बचा पायेंगे, न अपने जैसों को। इसी घर में हम एक दूसरे के काम आ सकते थे। इसी घर में हम एक साथ मिल कर चल सकते थे। देह की गलती तो इतनी बड़ी गलती नहीं थी कि एक लड़की को जान देनी पड़ जाए या एक लड़की की जान ले ली जाए। इतना भी कह लेते, इतना भी सुन लेते तो क्या पता बंद होते रास्तों की तरफ कोई खिड़की खुल जाती! लेकिन कहाँ? सबने मिल कर, हम सबको दुश्मन की तरह एक खांचे में जड़ दिया है! इसे समझे कौन? बिट्टो बहिन जी ने कितनी ही बार मुझे समझाया है। इसे समझें तो तोड़ें, इसे समझें तो कितना कुछ खुद ही छोड़ दें। छोटकी अम्मां इस उम्र में बाहर निकल पड़ीं। बाहर निकल पड़ीं तो समझीं कि सबसे पहले बाहर निकलो। इससे पहले कब ऐसे बोल फूटे थे उनके भी!

फिर सुमन ने ननकी की चादर ढकी देह को देखा। आँखों में आँसू छलक पड़े। कैसी सलोनी सी लड़की! जरा सा भटक जाए आदमी तो सीधा रास्ता पाने की कोशिश नहीं करता क्या? कोई गलती हो जाए तो सुधारने के सब रास्ते औरत के लिए बंद क्यों?

इसी बीच बिन बुलाए मेहमान की तरह दो पुलिस वाले धम्म धम्म जूतों की आवाज करते सीढ़ियों से उपर पहुँच आए। उनके जूतों की आवाज से गिरधारी तिवारी दौड़े थे कि शायद बाँस, खपच्ची वाला आ गया। उनके पीछे बाबू भी दौड़े थे। सभी लोग सकते में आ गए। यह क्या? किसने किया? कैसे हुआ? एक दूसरे की तरफ सब देखते, एक दूसरे से पूछते। उत्तर किसी के पास नहीं था। इतने में मनोहर बाँस खपच्ची वगैरह लिए दिए एक मजदूर के साथ उपर आ पहुँचे। वे भी पुलिस देख कर चकरा गए।

‘मनौ सूँघ के पहुँच आए हैं।’ मन ही मन उन्होंने सोचा या क्या पता चोरी वाली बात खुल गयी हो? यह भी उनके मन में कौंधा। तभी बाबू के दूसरे नम्बर के भाई पुलिस वालों को दुआ सलाम कर के झट से नीचे उतर गए। उतरने के बाद वे अन्तरध्यान हो गए। मनोहर का ध्यान इस पर अटक गया। घर में ऐसी घटना हो और घर का आदमी भाग निकले। गुस्सा कर उन्होंने कहा-“ छोटके बाबू एह बेरा कहाँ निकल पड़े?” परेशान लोगों में से किसी ने इसका खास नोटिस नहीं लिया। बाबू को थोड़ा खटका जरूर।

दोनों पुलिस वालों को सब व्यथा कथा बड़े दुखदायी पीड़ा से कराह कराह कर सुनाई गई। वे सुनते रहे लेकिन बीच में ही अधैर्य का प्रदर्शन कर के एक ने कहा-“ बस भइ, हम सब समझ गए। थाने तो चलना पड़ेगा। आत्महत्या का मामला है। पोस्टमार्टम कराना होगा। ड्यूटी का मामला है। आपलोग भी समझिए।” पुलिसवाले डिगने को तैयार न हुए। तब किसी ने सुझाया भइ, पैसा रूपैया खर्चो जरा।

“पैसा तो सब चोरी चला गया।”

“अरे, ऐसे कैसे? घर में कुछ तो होगा? बैंक में होगा।”

अब बाबू विवश हो गए। विवश हो कर उनकी याद में टीन के बक्से में बंद सोने के सिक्कों और नोटों की आवाज बजी। सारी चोरी में वही बचे रह गए थे। वे धीरे से गए और चुपचाप अपना बक्सा खोल कर उसमें से पाँच हजार निकाल कर ले आए और गिरधारी तिवारी से कुछ बड़े अपने एक भाई के पास जा कर बोले कि ‘ए छोटे, तुम तेज हो इस सब काम में। जा के किसी प्रकार धर दो पुलिस के हाथ पे। गिरधारी तो इतने आराम से जाएगा और जो भूल कर बीच ही में दूसरे लोक की यात्रा करे लगे तो होइ गवा कुल गुड़ गोबर।’ भाई मान गया। तत्परता से पुलिस तक दौड़ा और उनमें से एक को किनारे खिसका कर पैसे देने लगा।

“कै?” पुलिस वाले ने पूछा।

“पाँच।”

“कम से कम पचास। मर्डर का मामला है।” पुलिस वाले ने पैसे पकड़ते हुए कहा।

“अरे साहब। सुबहिहें चोरी का पता चलल। घर में कुछौ रह न गइल है।”

“हूँ। बाद में दे जइहौ। दस का इंतजाम अजुवै करै के पड़ी। एहमें हम कुछौ न करि सकित हई।”

लेकिन अचानक ही पुलिस वाले को गुस्सा आ गया। ननकी के बाबू के भाई के कंधे पर डंडा रख कर गरजा -“ का गुरू। सौ हाथ आगे निकलल! पुलिस वाले से ही सीनाजोरी! नकली नोट थमात हउवा ससुर!” बाबू ‘न, न’ कहते हुए सामने आए। एक पुलिस वाले ने ननकी के बाबू के भाई को हथकड़ी पहनाई तो बाबू तड़प उठे। अंदर की ओर दौड़े। वापस टीन का बक्सा खोले और बची हुई पाँच हजार की गड़्डी ले कर बाहर दौड़े।

“ठगाइ गए हो महाराज।”

“कहाँ से ठगाए?”

बाबू खामोश।

‘किस्मत। सब किस्मत। सब एक ही साथ बिगड़ गया है।’ बाबू प्रलाप सा करने लगे।

“जरा गौर से देखो भाई। ऐसा कैसे हो सकता है?”

तब गिरधारी तिवारी रोती हुई सी आवाज में कहने लगे-“ भाई रहम करो। घर में लहाश पड़ी है। पैसे चोरी चले गए हैं। जो बचा था, वह ठगी का माल निकला। अब इंतजाम करने

dkdN le; nshkz*

dkk frojhdlsvpkud ; kn vk kfd etjkt husnlgfhdN i hro fr; k

था। पर आगे कभी बात नहीं हुई इस बारे में। प्रस्ताव था कि 'पाँच हजार असली के दो और दस हजार नकली के लो। चला लो नकली। पाँच का फायदा हुआ। हुआ कि नहीं?'

'ससुर, एक नम्बरी!' कान्हा तिवारी मन ही मन बड़बड़ाए और उठ कर पुलिसवाले के पास जा कर कुछ कहने लगे।

स्वर्ण मृग और झील मन की हलचल

(आत्मकथा-5)

मैं सोच में डूबी अपने बिस्तरे पर रात के इस सघन एकान्त में पड़ी थी। सोने की कोशिश सब व्यर्थ चली जाती थी। जाने कितनी तरह की विचार लहरियाँ उठती गिरती थीं। मैं उनमें घिरी थी।

पहले मैं सोचती थी कि प्रकृति की कारीगरी में कहीं कोई चूक रह जाए तो इसे किसी का व्यक्तिगत अपराध नहीं माना जा सकता। इस समझ के सहारे मैंने कितना तो झुठलाया खुद को, शचीन्द्र को। भूल गई कि जीवन में सिद्धांत किताबों की तरह लागू नहीं होते। जीवन का अपना तरीका है, हर क्षण चौंकाता, भेष बदलता, हर बार चुनौती की तरह, हर बार नए सिद्धांत गढ़ने के लिए उकसाता..... तो पहले मैं सोचती थी कि इस एक कारण के बावजूद मनुष्यता का तर्क बड़ा तर्क है लेकिन यह धारणा आखिर ध्वस्त हो ही गई। आदमी किसी भी तरफ से कमजोर हो जाए तो हमारा समाज उसमें जी भर कुंठाएं भरने से नहीं चूकता और ऐसा आदमी उदात्तता की तरफ जाने की बजाय हर क्षण अपने को चीथता रहता है। जितना अपने को चीथता है उतना ही अपने प्रियजनों को भी चीथता है।

मानो चीथने में ही उसका संतोष हो।

चीथने में ही उसका बदला पूरा होता हो।

चीथने में ही उसका आनन्द हो।

संघर्ष भी।

इससे मुक्त होने का प्रयास करता वह! करता! करता भी!

सोचती हूँ रामायण के उस पद को। उसके पाठ को बदल कर पढ़ती हूँ।

“असंभवं हेममृगस्य जन्मः, तथापि राम लुलुभो मृगाय।

प्रायः समापन्न विपत्तिकाले धियोपि पुंसां मलिना भवन्ति।।”

कौन है यह हेम मृग? जिसका जन्म असंभव है? कौन है यह राम? जो असंभव की इस संभावना के पीछे दौड़ पड़ा है। क्या यह हेम मृग स्त्री के सपनों का वह पुरुष है जिसकी उपस्थिति असंभव है। जो है ही नहीं। जो एक्जिस्ट ही नहीं करता। वह सपनों में है। सपनों के हरे वन में कुलाचें मारता। यथार्थ से जो परे है उसे पकड़ लेना व्यर्थ है। यह जान कर भी मन का लोभ नहीं छूटता। जीजिविषा हर बार इस स्वर्ण मृग का पीछा करती है और ठगी जाती है। एक हमसफर साथी की तलाश अंत तक बची रहती है। यह इच्छा—टूट कर किसी को चाहने और टूट कर चाह लिए जाने की इच्छा—अंत-अंत तक बची रहती है। बचा रहता है अपने साथी की बाँहों में घिर कर या उसे घेर कर पा जाने वाला, दे देने वाला वह तत्व, वह भाव, वह रसातीत सा कुछ, जिसे 'ऐसा है', 'ऐसा है' कह कह कर भी, नहीं कहा जा सका, नहीं कहा जा सकता। जो लाख लाख तरह से कहे जाने पर भी बचा रह गया। वह समेट कर रखने वाला खजाना, वह असीम निधि, कल्पना के बाहर भ्रम बन कर रह जाती है। भ्रम बन कर न जाने क्या कुछ सह डालने को उकसाती है। और तो और इसे जान कर

भी, ठगे से खड़े रह कर भी इसे मान लेने का मन नहीं करता। मन इसे पा लेने को, जी लेने को ललकता, छटपटाता, अपनी ही आग में जलता रहता है। और 'धियोपि पुंसां....' मलिन हो जाती है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विवेक चुक जाता है। हो भी क्यों न ऐसा? जब कि आप असंभव हेम मृग के पीछे भागे चले जा रहे हैं!

या कि यह हेम मृग स्त्री की देह है। स्वर्ण देह। जिसका शिकार किया जाना है। उसके मन को न जीत पाने की बारम्बार की असफलता के बावजूद। इसी देह की दुर्गति करनी है, चाहे सद्गति के नाम पर या किसी और नाम पर। वध के लिए कब्जाई गई देह का मन अलग जा पड़ता है। यह पाना संपूर्ण पाना नहीं रह जाता। आत्मा से छिटकी देह किसी खाली बटुली सी, किसी खाली गगरे सी टनकती रहती है। उसमें से जीवन संगीत नहीं फूटता। असंभव है कि उसमें जीवन के राग रंग जीवन जैसे खनकें।

उठ कर मैंने घड़ी देखी है। शचीन्द्र के आने का कोई समय कभी तय नहीं हो पाया। कभी नहीं भी आया। इस बार भी न जाने कितने दिनों से नहीं आया है। महीनों बीत रहे होंगे! पता नहीं कहाँ कहाँ की यात्रा पर निकला होगा। इसके लिए रोज रोज नहीं पूजा जा सकता था।

किसी के इंतजार की एक जिम्मेदारी भी होती है।

इंतजार निरा इंतजार नहीं होता।

लेकिन जो नहीं था, उसके लिए अब सोचना भी नहीं था।

अब फिर से, एक दूसरे नए सिरे से, पाँवों में अपना रास्ता पहनना था।

खुद से लड़ने की भी एक सीमा थी। वह पार हो चुकी थी। मुझे त्यागना था अपने ही भीतर से यह असंभव को संभव करने की इच्छा का लोभ। निरे यथार्थ से आँखें मिलाना था। मुझे खुद से छोड़ना था अपने भीतर अटका पड़ा एक पुराना राग, एक मोह, एक आशा, एक टेक

मैं उठ कर खड़ी हुई थी। निरभ्र रात में। इस अपने छोटे से कमरे के भीतर। एक संकल्प से प्रज्वलित होती। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि रात के कितने बजे हैं। संकल्प के लिए कोई दिन, तारीख नहीं निर्धारित करनी पड़ती है। वह तो ऐसे ही जीवन के किसी पहर में उठ कर, साध लेना होता है। किसी मूर्त के इंतजार में टालते हुए चीजों को खिसकाया नहीं जा सकता। खिसक जाए तो हम फिर वहीं अटके रह जायेंगे। उसी चक्रव्यूह के भीतर घिरे। घूमते उसी पृथ्वी की धुरी पर। घूम घूम कर वहीं पहुँचते, उससे निकल भागने की सारी इच्छा के बावजूद।

मैं अब और एक भी मिनट नहीं चला सकती थी इसे, इस संबंध को।

और नहीं झेल सकती अपनी देह पर नीले काले बहुविध चित्र।

पिराती हुई देह मेरी अपनी है।

अब इस संबंध में कुछ भी नहीं। मृत है सब। मृत संबंधों की लाश से दुर्गन्ध उठने लगती है।

इसका दाह संस्कार कर देना चाहिए। समय रहते।

यह राह कहीं जानी ही नहीं थी।

इस पर जो पाँव उठ गए थे, उन्हें लौटना था।

उन्हें लौटना ही था।

मैंने काले रंग की स्याही वाली कलम उठाई है और सफेद कागज पर बड़ा-बड़ा लिखा है

: CHAPTER CLOSED.

समाज से साहित्य का रिश्ता और संवाद अनेक स्तरीय होता है (अशोक वाजपेयी से सूर्य नारायण और विवेक निराला की बातचीत)

सूर्य नारायण—आप मूलतः कविता के आदमी हैं, आपने कई जगह इसको लिखा भी है तो आपसे एक बुनियादी प्रश्न जुड़ा है कि कभी आपने कविता की वापसी का नारा दिया था और इस दौर में जब यंत्र बढ़े हैं, यांत्रिकता बढ़ी है और वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण तथा आधुनिकीकरण के कारण कविता कितनी दूर हुई है और कितनी पास आई है और क्या कविता की वापसी इस युग में, इस भयावह समय में, जिसको जटिल और कठिन कहा जा रहा है, कहाँ तक संभव है?

अशोक वाजपेयी—मैंने जब कविता की वापसी की बात की थी। उस समय कविता-संग्रह बहुत कम प्रकाशित होते थे और यकायक कई पीढ़ियों के कवियों के संग्रह एक साथ आये थे जिनमें त्रिलोचने, नागार्जन से ले कर युवतम पीढ़ी के कवि शामिल थे : यह एक अनोखा मुकाम था—इतने सारे संग्रह, इतनी सारी दृष्टियाँ और शैलियाँ, इतनी पीढ़ियाँ एक साथ। उन सबका एक-दूसरे के लिए अर्थ था और कविता मात्र के लिए भी। आज का समय कठिन और जटिल है माना, लेकिन कविता के लिए सभी समय ऐसे ही रहे हैं : ऐसा कोई समय नहीं रहा जिसमें कविता का रास्ता सुगम रहा हो। राजनीति, बाज़ार, धर्म आदि सभी क्षेत्रों से अन्तःकरण गायब हो चुका है जबकि मुक्तिबोध के समय में, जैसा कि उन्होंने कविता में ही दर्ज किया था, तो अन्तःकरण का आयतन संक्षिप्त हुआ था, आज तो गायब हो चुका है। ऐसे लोप के समय मुझे लगता है कि कविता की वापसी के दो ही अर्थ हो सकते हैं : एक कि वह अन्तःकरण का पुनर्वास करे कम से कम अपने परिसर में, दूसरा कि जो खण्ड-खण्ड हो गया संवाद है, जो बिखर गया विमर्श है उसे एकत्र करे याने फिर समग्रता की तलाश करे।

हमारे समय में शब्द कम हो रहे हैं और सारी चकाचौंध के बावजूद अँधेरा तेज़ी से बढ़ और घना हो रहा है। इस समय कविता को जाँचने के मेरे दो पूर्वग्रह हैं—कविता में अँधेरे की कितनी पहचान, कितना तीखा-गहरा अहसास है और कविता भाषा का कैसे विस्तार करती है।

भाषा का संकट एक स्तर पर विचार का भी संकट है। बासी पड़ गये विचारों से आज आप सचाई नहीं पकड़-समझ सकते। साफ़-सुथरा गद्य तक इन दिनों कम ही नज़र आता है। ऐसे समय में जब शब्दों का टोटा सा पड़ रहा है, कविता का एक काम शब्द को केन्द्र में वापस लाना है यानी शब्द का उसकी मानवीय ऊष्मा और गरिमा में, उसकी अर्थबहुलता और अनेक अन्तर्ध्वनियों में, उसकी मानवीय अर्थवत्ता में पुनर्वास करना है। हमें ऐसी कविता चाहिए जो प्रश्नाकुल और प्रश्नवाची हो, जो आत्मबोध और आत्माकलन से निकलती हो और जिसमें अन्तःकरण विन्यस्त होता हो। दूसरों को ज़िम्मेदार ठहराने, बाज़ार, भूमण्डीकरण, आधुनिकीकरण आदि को दोष देते हुए चीखने से अब कविता नहीं बन सकती। इस सबमें अपनी हिस्सेदारी और ज़िम्मेदारी के स्वीकार के बिना ऐसी कविता नहीं लिखी जा सकती जिसमें नैतिक शक्ति और बल हो। उसे ही कविता में दूसरों को दोष देने का हक़ है जिसने स्वयं अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार की हो।

सूर्य नारायण—इसी प्रश्न के विस्तार के रूप में एक प्रश्न है कि, ज़िम्मेदारी और आत्मबोध की बात आई तो एक दौर में दो पारिभाषिक शब्द बहुत प्रचलित थे—प्रतिबद्धता और पक्षधरता। इस दौर में, बीसवीं शताब्दी के महास्वप्न टूटने के बाद फिर से साहित्य में इसकी वापसी का कोई संदर्भ बनता है? इसका कोई औचित्य कोई मूल्य बनता है?

अशोक वाजपेयी—आप अगर वही सीमित अर्थ रखना चाहें जो दशकों पहले था तो बात नहीं बनती। जब हम अन्तःकरण के पुनर्वास और भाषा की मानवीय और अर्थबहुल विपुलता की बात कर रहे हैं। तब हम एक तरह से एक नये क्रिस्म की प्रतिबद्धता की बात कर रहे हैं। साहित्य में एक दूसरे क्रिस्म की राजनीति प्रस्तावित कर रहे हैं। विचारधारा से अपनी असहमति के बावजूद उससे प्रतिबद्ध लेखकों के अवदान को स्वीकार करने में मैंने कभी कोई संकोच नहीं किया, न हिचक दिखायी। बीसवीं शती में महास्वप्न का बिखरना कविता के लिए नया संकट नहीं है। कविता ऐसे संकट अनेक पिछले युगों में झेलती आयी है। कई बार छोटे-छोटे आत्मीय क्रिस्म के सपने देखना भी ज़रूरी होता है। आज की कविता यह करती भी रही है। इन सपनों को जोड़कर शायद एक अधिक समावेशी और लोकतांत्रिक बड़ा सपना गढ़ा जा सकता है।

साहित्य में पिछले कुछ दशकों से बहुत समाज-समाज चिल्लाया जाता रहा है जो समाज की बहुत इकरी धारणा से उपजा-पोसा चीत्कार ही है। कविता में समाज-बोध, सामाजिक-चेतना आदि का दुराग्रह किया गया, साहित्य को निरी अमिधा में घटाया जाता रहा जबकि सचाई दुर्भाग्य से यह है कि समाज साहित्य से इस क्रूर दूर पहले कभी नहीं हुआ था जितना इस दौरान हुआ। सच तो यह भी है कि जब समाज पर इतना जोर नहीं था, हिन्दी समाज साहित्य के अधिक करीब था। यह एक विडम्बना है। दूसरे, जिस वाम प्रतिबद्धता का इतना शोर साहित्य में है उसकी स्वयं हिन्दी पट्टी में ज़मीन पर क्या हालत और हैसियत है? वाम शक्तियाँ अपने प्रभाव में घटती गयी हैं। साहित्य में विचारधारा का आतंक और ज़मीन पर संकोच हम इस विडम्बना पर ध्यान क्यों नहीं देते।

सूर्य नारायण—लेकिन जिस व्यापक पक्षधरता की बात आप कह रहे थे, जन के प्रति, समाज के प्रति, नए निर्माण के प्रति क्या वो पक्षधरता आज भी दिखती है।

अशोक वाजपेयी—समाज से साहित्य का रिश्ता और संवाद अनेक स्तरीय होता है। जिस व्यापक पक्षधरता की बात आप कह रहे हैं वह साहित्य में पहले से है, विचारधाराओं के आने से भी बहुत पहले से। 'महाभारत' से लेकर कबीर, तुलसी आदि की पक्षधरता पर कौन प्रश्न उठा सकता है? अलबत्ता सिर्फ़ पक्षधरता से बड़ी कविता नहीं बनती ये सभी उसका भी उदाहरण हैं।

सूर्य नारायण—साहित्य और राजनीति के जो प्रश्न हैं जिसमें आपने कहा कि आप स्वयं को बाहर रखते हैं। दरअसल, जो चार महाकवियों के जन्म शताब्दी वर्ष आये थे उसमें आपके द्वारा किये गये आयोजनों की व्याख्या राजनैतिक आयाम से हुई और यह कहा गया कि आपने दो कवियों को मुख्य धारा में चुना और एक की केवल चर्चा की पर उस पर कोई कार्यक्रम नहीं हुआ और एक को (केदारनाथ अग्रवाल) उन चार में शामिल ही नहीं किया। आपने नागार्जुन का नाम लिया पर नागार्जुन पर कोई उस तरह का काम नहीं हुआ जैसा कि अज्ञेय और शमशेर पर। यानि कि, आपकी पसंद और आपकी रुचि के दायरे में अज्ञेय और शमशेर ही रहे हैं। क्या इसके पीछे साहित्य की वैचारिक राजनीति या कोई राजनीति की वैचारिक समझदारी थी?

अशोक वाजपेयी—मैं कई बार स्पष्ट कर चुका हूँ कि मेरे ऊपर कोई ज़िम्मेदारी, संगठनात्मक या दूसरे किसी क्रिस्म की नहीं थी कि मैं कुछ कवियों की जन्मशतियाँ मनाने की पहल करूँ, उसके लिए योजनाबद्ध रूप से काम करूँ। मुझे उनके प्रति यह नैतिक ज़िम्मेदारी लगी एक लेखक के रूप में, जो सार्वजनिक रूप से सक्रिय रहा है, कि उन कवियों की जन्मशती के लिए कुछ करूँ जो निरबसिया थे और हैं और जिन पर किसी संघ-संगठन का ध्यान वैसे न जायेगा। नागार्जुन की याद करनेवाले बहुत विचारधारात्मक संगठन हैं जिन्होंने वह बड़े पैमाने पर किया भी। अज्ञेय और शमशेर बहादुर सिंह नयी कविता की मेरी त्रिमूर्ति में मुक्तिबोध के साथ कई दशकों से हैं। मैं इस पर अटल रहा हूँ। जिन नामवरों ने जन्मशती पर अज्ञेय का अपना आकलन रेडिकली बदला उनसे कारण पूछा जाना चाहिए कि यह विलांबित वस्तुनिष्ठता कैसे जागी। मुझे इस सिलसिले में कोई जवाब देने की ज़रूरत नहीं।

दूसरे, मैंने जनकविता की एक और त्रयी भी हाल ही में प्रस्तावित की : नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र और त्रिलोचन। 1936 में जब 'गोदान' निकला, 'राम की शक्तिपूजा' और 'कामनायनी', जैसे गौरवग्रन्थ निकले उसी वर्ष भवानीप्रसाद मिश्र ने 'सन्नाटा' नाम की कविता लिखी। वह एक बलिकुल अलग ढंग की कविता है। छायावाद और छायोवादोत्तर संवेदनाओं से बिलकुल अलग। 1936 में शमशेर और भवानी प्रसाद मिश्र को छोड़कर अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि ऐसी आधुनिक कविता नहीं लिख रहे थे। उनकी जन्मशती निकल गयी और भवानी प्रसाद मिश्र को हिन्दी समाज ने कितना याद किया।

सूर्य नारायण—लेखक संगठनों पर आपसे एक सवाल है। आपने लेखक-संगठनों के उस स्वर्णकाल को भी देखा है जब वे अपनी पूरी ऊर्जा से लैस थे। आज ज्यों-ज्यों राजनीतिक परिस्थितियाँ बदली हैं, समाज में परिवर्तन आया है तो वे अप्रासंगिक भले ही न हुए हों पर उनकी चमक में कमी जरूर आयी है। लेखक संगठन गतिहीन हुए हैं। उनमें जड़ता आयी है। इधर यह देखने में आया है कि लेखक संगठनों के प्रति आपकी दृष्टि बदली है और खुद लेखक संगठनों की भी आपके प्रति कट्टरता में कमी आयी है। इसके बहुत सारे उदाहरण हैं। अभी हाल ही में रज़ा फाउंडेशन के साथ मिलकर हैदराबाद विश्वविद्यालय ने मैनेजर पांडेय पर कार्यक्रम किया। तो क्या आप इसे एक नए ढंग की पहल कह सकते हैं?

अशोक वाजपेयी—देखिये मैं बहुत पहले से संगठनों को सन्देह की दृष्टि से देखता रहा हूँ और मेरी इस दुष्टदृष्टि में कोई खास अन्तर नहीं आया है। उनकी भूमिका, मेरी नज़र में, हिन्दी साहित्य और लेखक समाज में बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रही है। शुरू से ही उन्होंने ऐसे विभाजन और विद्वेष पैदा किये कि अनेक अच्छी प्रतिभाएँ, अच्छे लेखक हाशिये पर फेंक दिये गये। भवानी प्रसाद मिश्र की जन्मशती इसका ताज़ा उदाहरण है। यों हर संगठन या संघ में प्रतिभाशाली लेखक भी रहे हैं। अपने विरोध के बावजूद, उनको मान्यता देने या उनके अवदान को स्वीकार

करने में मुझे कभी कोई संकोच नहीं हुआ। एक बार ऐसे ही एक संघ के पदाधिकारी कमला प्रसाद के आरोप के उत्तर में मैंने ऐसे पुरस्कारों की सूची दी थी जिनकी जूरी में मेरे रहते प्रगतिशील-जनवादी लेखका पुरस्कृत हुए। मैंने यह भी कहा था कि नामवर सिंह और उन जैसे जो संघ-संगठन के पदाधिकारी लेखक रहे हैं वे बतायें कि उनके रहते किसी गैर प्रगतिशील या गैरजनवादी को एक भी पुरस्कार मिला हो। इसका उत्तर आज तक नहीं दिया गया।

सारी वैचारिक असहमति के बावजूद मुझे यह मानने में कोई दिक्कत या हिचक नहीं है कि वैचारिक प्रतिबद्धता के बावजूद प्रतिभा और सृजन संभव है जबकि संघ-संगठनवादी यही कहते और प्रचारित करते रहे हैं कि बिना प्रतिबद्धता के न प्रतिभा हो सकती है, न सार्थक सृजन संभव है। इसलिए उनसे समझौता कैसे हो सकता है? उनकी कट्टरता में कोई कमी आयी हो तो इसका मुझे पता नहीं। व्यवहार में शायद इतना परिवर्तन आया हो कि चलो, बहुत लड़ लिए अब थोड़ी सहिष्णुता दिखाने में कोई नुकसान नहीं। मैं यह भी कहता रहा हूँ कि इन संगठनों ने लेखकों के हित और कल्याण के लिए क्या किया? रायल्टी, लेखकों के स्वास्थ्य, नयी प्रतिभाओं के लिए प्रकाशन आदि की सुविधाएँ जुटाने के लिए क्या किया या कब कोई अभियान चलाया? साहित्य और संस्कृति के प्रति जो सरकारी उदासीनता है उस बारे में क्या किया?

अगर आपको याद हो कि, जब गुजरात में नरसंहार हुआ था तब हमने पहल की थी और इन्हें भी बुलाया था और ये लोग आये भी थे। हम लोग राष्ट्रपति भवन गये थे और हमने मोदी सरकार को भंग करने की माँग की थी। इधर उनके रुख में परिवर्तन की जो बात आप कह रहे हैं उसके सिलसिले में कहा जा सकता है कि इनको लगा होगा कि जब सारी दुनिया में वैचारिक कट्टरता कम हो गयी है तो हिन्दी में उसे बचाये रखने और पोसने का क्या औचित्य है। दूसरा, शायद यह समझ में आ रहा होगा कि साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद फैलाने-वाली शक्तियों से जूझने के लिए ज़रूरी है कि लोकतांत्रिक स्पेस बचाया और बढ़ाया जाये।

लोगों को, खासकर आप जैसे युवाओं को यह याद नहीं है कि हिन्दी के कई लेखकों के कैनाडाइज़ेशन में कितने व्यक्तियों, संस्थाओं और पत्रिकाओं की भूमिका रही है। 'पूर्वग्रह' ने मुक्ताबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, धूमिल, मलयज आदि पर विशेषांक निकाले थे जो इन लेखकों पर निकलने वाले किसी भी पत्रिका के लगभग पहले विशेषांक थे। अपनी गाँठ के पैसे से मैंने उससे पहले 'पहचान' सीरीज़ संपादित-प्रकाशित की थी जिसमें पंद्रह युवा कवियों के सबसे पहले संग्रह शामिल किये थे जिनमें विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे, ज्ञानेन्द्र पति, सोमदत्त, आग्नेय, विष्णु नागर आदि शामिल थे। बल्कि उसी समय मैं अकविता पर आलोचनात्मक प्रहार कर रहा था पर तबके दो अकवितावादियों चन्द्रकांत देवातले और सौमित्र मोहन को भी इस सीरीज़ में शामिल किया था। मेरे साथ सहयोगियों के रूप में कई प्रतिभासंपन्न लेखक जुड़े रहे हैं जो प्रतिबद्ध नहीं थे उन्हें इन्हीं संगठनों की दुरभिसंधि और इनके द्वारा संचालित सेंसरस के कारण वैसी मान्यता नहीं मिली जिसकी कि वे सुपात्रता रखते हैं।

विवेक निराला—पाठक, रचनाकार और आलोचक जैसे एक त्रिभुज की तीन विमाएँ हैं परन्तु इधर आलोचना इतनी प्रश्नांकित और इतनी अविश्वसनीय हुई है कि इन तीनों का सम्मिलन बिंदु अस्पष्ट और धूमिल होता जा रहा है। एक आलोचक के नजरिए से आलोचना की इस स्थिति को आप कैसे देखते हैं?

अशोक वाजपेयी—आलोचक प्रथमतः और अन्ततः पाठक है। उसका काम आँख खोलकर, जिम्मेदारी और तैयारी, संवेदनशीलता और रसिकता के साथ पढ़ना और दूसरों तक अपना आस्वाद पहुँचाना है। उसका दूसरा काम किसी रचना या कृतित्व में उभरने वाले प्रश्न और आशय से उन्हें स्पष्ट करना है। अगर आलोचना यह करती है तो उसकी विश्वसनीयता और पाठक दोनों होंगे। लेकिन अगर आप यही कर रहे हैं कि किसी को किस खाने या कोटि में रखना है और आपकी आलोचना में आस्वाद का सुख नहीं है तो कोई क्यों पढ़ेगा आलोचना? आलोचना मूलतः विचार के लिए नहीं पढ़ी जाती। वह तभी पढ़ी जायेगी जब उसमें विचार उसके रचनात्मक आस्वाद से निकलते हों।

जैसे हमने समाज-समाज चिल्लाकर समाज से साहित्य को दूर कर दिया वैसे ही आलोचना ने रचना को उसके विचार में घटाकर साहित्य से विचार को ही अपदस्थ कर दिया है। हम ज्यादातर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि साहित्य की अपनी वैचारिक सत्ता है, कि साहित्य भी मानवीय स्थिति, विडम्बना और संभावना पर अपने ढंग से विचार सकता है, उसकी यह ऐन्द्रिय विचारशीलता उसे अनिवार्य रूप से साहित्य के बाहर किसी विचार का न सिर्फ उपनिवेश बनाने से रोकती है बल्कि ऐसे उपनिवेश का प्रतिरोध करती है। मैं कई दशकों से जिस साहित्य की स्वायत्तता का आग्रह करता रहा हूँ वह साहित्य को समाज-निरपेक्ष बनाने का आग्रह कर्तई नहीं रहा है। वह इस पर इस्सारा करना है कि साहित्य अनेक दृष्टियों, अनुशासनों, विचारों में संवाद, संघर्ष आदि करता है पर वह किसी और का उपनिवेश नहीं है। साहित्य की अपनी विचारशीलता समाज में ही जन्मती बढ़ती है और ऐसे अनेक विचार हैं जो सिर्फ साहित्य में ही उपजते हैं। कोई बड़ा कवि या लेखक गहरी और बड़ी वैचारिकता के बिना संभव नहीं है : कबीर, तुलसी, प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि सभी इसका उजला कालजयी उदाहरण हैं। पर कई महान् विचार टुच्चे साहित्य को भी जन्म दे सकते हैं।

खेद की बात यह है कि हिन्दी साहित्य में भाषा, आलोचना और विचार सभी का तरह-तरह से अवमूल्यन हो रहा है।

विवेक निराला—आप साहित्य को अन्य कला रूपों के साथ देखने के भी आग्रही रहे हैं। खुद आपके कई बड़े चित्रकारों, संगीतकारों से अच्छे संबंध रहे हैं। तो साहित्य का अन्य कला रूपों से क्या रिश्ता हो सकता है और क्या होना चाहिये जो कि हमारे दौर में लगातार कम होता गया है।

अशोक वाजपेयी—साहित्य अपनी निजी ज़मीन नहीं छोड़ सकता। अगर वह विचार का उपनिवेश नहीं हो सकता तो कलाओं का भी उपनिवेश नहीं हो सकता। हमारे समय में साहित्य पर काबिज़ होने की कई नयी-पुरानी जुगतें हैं, कई उपक्रम, प्रयत्न, संस्थाएँ हैं। उनके अपने दबाव भी होते हैं। कलाओं ने सौभाग्य से ऐसा दबाव नहीं बनाया है। दूसरी ओर, भले उनमें कितनी ही साझेदारी और पारस्परिकता हो, साहित्य और कलाओं के अपने-अपने सच हैं और उनमें अदला-बदली नहीं हो सकती। संगीत का सच साहित्य का सच नहीं हो सकता, साहित्य का सच चित्रकला का सच नहीं हो सकता। लेकिन ये सभी सच संवाद करते रहे हैं, कर सकते हैं। इसके नतीजे अच्छे हो सकते हैं और ख़राब भी। इस पर विचार नहीं हुआ है कि जयशंकर प्रसाद की शास्त्रीय संगीत में गहरी रुचि थी। राय कृष्ण दास ने अपने संस्मरण में इसका जिक्र किया है कि उन्हें कौन-कौन से राग पसन्द थे। इस गहरी रुचि का उनकी साहित्यक सर्जनात्मकता पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। यों, कामायनी से बड़ा हिन्दी में कोई प्रकृति-काव्य नहीं है। प्रकृति का विशद वर्णन उसका एक पक्ष है। दूसरी ओर कितने ही मनोभावों को प्रगट करने के लिए

प्राकृतिक बिम्बों, छवियों आदि का सहारा लिया गया है। प्रसाद के काव्य की संगीतात्मकता पर कम विचार हुआ है। निराला तो बहुत अच्छा गाते भी थे। उनके यहाँ संगीत की शब्दावली तक का सीधा उपयोग है। उनकी एक कविता है : ताक कमसिन वारि। एक भी सार्थक शब्द उसमें नहीं है। मैंने उसे ध्रुपद गायकों को दिया और वे उसे गाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक साहित्य और कलाओं के बीच साझा था। चित्रकला, मूर्तिकला, कविता, संगीत, नृत्य, रंगमंच सभी एक दूसरे के निकट थे। वे अभिप्रायों, प्रतीक व्यवस्थाओं, बिम्ब मालाओं में साझा करते थे। बीसवीं शताब्दी में दुर्भाग्य से, जिस आधुनिकता ने आकार लिया और जिसका वर्चस्व हो गया उसके चलते हमारे संगीत और नृत्य तो शास्त्रीय हो गये और साहित्य, ललित कलाएँ और रंगमंच आधुनिक। इस विभाजन की वजह से आधुनिकता के दौर में इष्टा को छोड़कर कोई साझा आन्दोलन ही नहीं हुआ जबकि पश्चिम में आधुनिकता के दौरान प्रभाववाद, अतिथथार्थवाद जैसे कई आन्दोलन हुए जो एक साथ साहित्य और कलाओं में समवर्ती आन्दोलन थे।

विवेक निराला—हम देख रहे हैं कि कविताओं पर संकट की बात की जा रही है लेकिन फिर भी ढेर सारी कविताएँ लिखी जा रही हैं। पत्रिकाओं के पन्नों से लेकर सोशल मीडिया तक कविताओं से अटे पडे हैं। मुझे याद आता है कि, आपने एक बार कहा था कि हिंदी में इतने खराब कवि आ गए हैं कि जी में आता है उन ससुरों की चाय में जहर घोल दूँ। कविता का यह जो दौर है जहाँ मात्रात्मक तौर पर साहित्य में कविताएँ बुरी तरह से दाखिल हो रही हैं और दूसरी ओर हम लोग कविता के संकट पर आए दिन बात करते हैं इस स्थिति को एक पाठक, एक कवि और एक आलोचक तीनों के तौर पर आप कैसे देखेंगे।

अशोक वाजपेयी—सोशल मीडिया को लेकर में आश्वस्त नहीं हूँ। उदाहरण के लिए, उनके लिए कविता के लिए कौशल जरूरी नहीं है। आपके सिर्फ़ कुछ कहने की इच्छा भर से कविता हो सकती है। कविता के लिए आपको परम्परा, लय-छन्द की समझ होना चाहिए, कौशल और क्षमता अर्जित किये जाते हैं यह सब अनावश्यक हो गया है। दूसरे, कविता और भाषा की जो अनेक शक्तियाँ मानी जाती रही हैं वे सब अनुपयोग्य हो गयीं। सारा जोर अभिधा पर हो गया। तीसरे, नितान्त समसामयिक विषय ही अब एकमात्र विषय हो गये। कोई बलात्कार हो गया तो उस पर सत्रह कविताएँ। जैसे टेलीविजन वाले आपसे किसी घटना पर बाइट लेते हैं वैसे ही कविताएँ भी बाइट्स हुई जा रही है। इनको कविता मानना कठिन है भले ये बड़ी ईमानदार प्रतिक्रियाएँ हैं। अगर ये कविताएँ हैं तो फिर कबीर, तुलसी, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर ने जो लिखा वह कविता नहीं है।

अलबत्ता एक विधेयात्मक पक्ष भी शायद है। कविता अब किसी वर्ग या रुचि विशेष की बपौती नहीं है—कोई भी कवि हो सकता है। यह कविता का लोकतंत्रीकरण है। छोटे कस्बों-शहरों के लोग कविता लिखने की हिम्मत कर रहे हैं, यह अच्छा है। सोशल मीडिया पर निहायत गैरजिम्मेदार फ़तवेबाज़ी का बोलबाला है। कोई किसी के बारे में कुछ भी कह रहा है। इसे आलोचना मानना कठिन है। यही कीचड़उछाल या अतिरेकी निन्दा-प्रशंसा है जिससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, सिवाय कुछ सनसनी फैलने के। धीरे-धीरे कविता में स्थानीयता घट रही है। हो सकता है यह नयी वृत्ति स्थानीयता का पुनर्वास करने का उद्यम करे।

विवेक निराला—अभी आपने हिन्दी पट्टी की चर्चा की। रामविलास जी की जन्मशताब्दी अभी बीती है। रामविलास जी की मुख्य चिंता में एक चिंता हिन्दी प्रदेश की रही है और ये

हिन्दी प्रदेश आपकी चिन्ता में भी बार-बार जगह पाता रहा है, तो हिंदी प्रदेश की अवधारणा और जो उसकी वर्तमान स्थिति है इस पर आप कैसे विचार करते हैं?

अशोक वाजपेयी—हिन्दी जाति की अवधारणा पहले पहल रामविलास जी ने ही प्रतिपादित की थी। हालत अब यह है कि हिन्दी अंचल में भाषा राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एजेण्डा से लगभग बाहर हो चुकी है। भाषा की स्थिति को लेकर कोई व्यापक या गहरी चिन्ता अब दृश्य में नहीं है। हिन्दी में 46 बोलियाँ समाहित हैं। यह अटकल नहीं जनगणना आयुक्त की रपट में कहा गया है। हिन्दी यानी खड़ी बोली अपनी अनेक बोलियों के बीच संपर्क भाषा है। वज्जिका बोलनेवाले छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों से बात नहीं कर सकते, इस संपर्क भाषा के बिना। इधर इनमें से कई ने जैसे भोजपुरी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि ने अपनी अलग अस्मिता पर इसरार करना शुरू कर दिया है। हिन्दी ने बीसवीं शताब्दी में, दुर्भाग्य से, अपनी बोलियों के साथ ठीक व्यवहार नहीं किया है जबकि उसका महान साहित्य तो अधिकतर इन्हीं बोलियों में है।

हिन्दी पट्टी में इस समय स्मृतिहीनता और दायवंचन दो बड़े पहलू हैं जिन पर ध्यान जाना चाहिए। जातीय स्मृति जन में तो है पर जो तथाकथित जनपक्षधर लेखक हैं उनमें वह नज़र नहीं आती। बहुत सारा समकालीन साहित्य इस विचित्र और न समझ में आनेवाली स्मृतिहीनता की चपेट में है। इसी का एक पक्ष है हिन्दी अंचल में तेज़ सांस्कृतिक क्षरण। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के प्रायः सभी घराने हिन्दी अंचल में ही रहे हैं—उनके नाम तक उस शहरों पर हैं जो इस अंचल में हैं—ग्वालियर, आगरा, जयपुर, अतरौली, किराना, दरभंगा, बेतिया, पटियाला आदि। अब ये सभी इन शहरों से लगभग ग़ायब हैं। वे अब बचे हैं तो महाराष्ट्र, मारवाड़ या बंगाल में। पिछले कई दशकों से कोई अखिल भारतीय स्तर के शास्त्रीय संगीतकार हिन्दी पट्टी से नहीं आये हैं। कथक के दो-तीन विख्यात घराने लखनऊ, जयपुर, बनारस आदि वहाँ से ग़ायब हो चुके हैं और अन्यत्र बचे हैं। चित्रकला में भारतीय स्तर के कुल चार-एक नाम होंगे : हुसैन, रज़ा, रामकुमार, सुबोध गुप्त। आधुनिक हिन्दी रंगमंच तो बहुत थोड़े अपवाद जैसे सत्यदेव दुबे को छोड़ दें तो अधिकांशतः इब्राहीम अलकाज़ी, हबीब तनवीर, ब.व. कारन्त, बंसी कौल, एम. के. रैना आदि ग़ैर हिन्दी भाषियों द्वारा विकसित हुआ है।

हिन्दी की इन दिनों वैचारिक दरिद्रता पर अब तो कोई विलाप भी नहीं करता। पहले वासुदेव शरण अग्रवाल, राय कृष्ण दास, मोती चन्द्र, काशी प्रसाद जायसवाल जैसे संस्कृतिविद् थे। एकाध रामशरण शर्मा का अपवाद छोड़ दें तो इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि में न तो उच्च कोटि का साहित्य हिन्दी में लिखा गया, न जो थोड़ा-बहुत प्रयत्न मुकुन्द लाठ जैसे चिन्तकों ने किया उसकी कोई मान्यता या प्रतिष्ठा हिन्दी के बौद्धिक जगत में हुई। यह कहने का मन होता है कि हिन्दी में साहित्यजगत तो है, बौद्धिक जगत नहीं। इस पर भी विचार करना चाहिए कि विचारधारात्मक माहौल ने इस पतन में क्या भूमिका निभायी है। आखिर हिन्दी अंचल में दो-चार को छोड़ दें तो बाक़ी विश्वविद्यालयों का लगभग ध्वस्त हो जाना किस कारण है?

विवेक निराला—इसी से जुड़ा हुआ एक प्रश्न है कि खासकर हिंदी क्षेत्र में ही एक समय में जो हमारे राजनेता थे उनके रचनाकारों से बहुत निजी रिश्ते भी हुआ करते थे। नेहरू, गाँधीजी, लोहिया, नरेंद्र देव तक लेकिन इसके बाद ये सत्ता का कैसा—कौन-सी वैचारिकी है कि अब सत्तासीन और रचनाकार के बीच असंवाद और लगभग अपरिचय की स्थिति है और इसका खामियाजा यह हुआ है कि जो संस्कृति और साहित्य के प्रतिष्ठान हैं उनमें लगभग अज्ञात

किस्म के, नालायक किस्म के अयोग्य लोगों को बैठाया जा रहा है। ऐसे में जिन संस्थाओं की गरिमा, उनका स्वर्णिम अतीत रहा है उन सबका भयावह पतन हुआ है। आप के दौर में संस्थाओं के निर्माण का स्वप्न देखा गया और भी लोगों ने यह कार्य किया, चाहे वो वामपंथी हों या जिस धारा से जुड़े हों सबने अपने-अपने ढंग से संस्थान बनाए, उन संस्थानों को सक्रिय किया और उस पर समाज का एक सकारात्मक प्रभाव देखा गया। क्या यह ठहराव का दौर है या उनके क्षरण का दौर है।

अशोक वाजपेयी—हिन्दी की सिकुड़ती मानसिकता का एक और पक्ष यह है कि उसके क्षेत्र में साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी जो भी संस्थाएँ बनीं, चाहे सरकार के द्वारा या निजी पहल पर, वे एक-एक करके नष्ट होती गयी हैं और हिन्दी संसार कुल मिलाकर पैसा होते हाथ धरे देखता रहा है। इसकी एक वजह यह है कि राजनेताओं और लेखकों-संस्कृतिकर्मियों के बीच पहले जो संवाद था वह धीरे-धीरे मन्द पड़ गया। इक्के-दुक्के उदाहरण हैं जब किसी अवांछनीय संस्थागत कार्रवाई या निर्णय का संगठित विद्रोह विरोध हुआ हो। ऐसा विरोध जब होता भी है तो लेखकों आदि का समाज के अन्य सजग वर्ग साथ तक नहीं देते। अधिक से अधिक हम एक वक्तव्य दे देते हैं या निन्दा-प्रस्ताव पारित कर देते हैं। जब कृष्ण बलदेव वैद को जूरी द्वारा किसी पुरस्कार के लिए चुना और दिल्ली की हिन्दी अकादेमी ने वह पुरस्कार न देने का निर्णय लिया तो अन्य पुरस्कार-प्राप्त कई लेखकों ने पुरस्कार लौटा दिये। जब उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान ने मुझे भारत-भारती पुरस्कार दिया लेकिन सत्तर से अधिक लेखकों को विधिवत नियुक्त जूरी द्वारा सिफ़ारिश किये गये पुरस्कार एक स्वेच्छाचारी राजनैतिक निर्णय द्वारा न देने का निर्णय किया मैंने आरंभिक स्वीकृति के बाद उसे लेने से इनकार कर दिया। लेकिन व्यापक हिन्दी समाज में अपने इतने लेखकों के सत्ता द्वारा अपमान पर कोई उद्वेलन नहीं होता।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी अकादेमी, भारत भवन आदि सब संस्थाएँ नाश के कगार पर हैं अगर ध्वस्त न हो गयी हों। लेकिन इन्हें लेकर कोई व्यापक विरोध हिन्दी समाज क्या हिन्दी लेखकों तक ने नहीं किया है। हिन्दी की रोटी खानेवाले हिन्दी अध्यापक कितना विरोध या प्रतिरोध करते हैं? यह सोचकर दहशत होती है कि हिन्दी के बौद्धिक समाज का बहुत बड़ा हिस्सा अपने को सत्ता और बाज़ार से अनुकूलित कर रहा है।

(लिप्यंतरण—डॉ. तरुण)

लाजिम नहीं कि खिन्न की हम पैरवी करें...

रवि श्रीवास्तव

डॉ. प्रदीप सक्सेना को बहस में असाधारण एवं उच्च कोटि की निष्ठा है। पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने युगान्तरकारी लेखन किया है। उन्होंने बहस की अप्रतिम शैली विकसित की है। रामविलास शर्मा पर बहस के लिए उन्होंने जो आरोप-पत्र तैयार किया है, उसमें यह कहकर हल्ला बोल दिया है कि :

“...रामविलास शर्मा का वही कार्य उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है जो सकारात्मक आलोचना का उदाहरण है। भारतेंदु, निराला, प्रेमचंद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या द्विवेदी जी (महावीर प्रसाद द्विवेदी-संकेत मेरा) पर लिखी गई उनकी पुस्तकें गंभीर सिद्ध हुईं।...इसके विपरीत उनकी जितनी भी विध्वंसात्मक आलोचना है, पूर्वग्रहपूर्ण, संकीर्ण और घोर आत्मपरक आलोचना है..उससे कोई भला आज तक नहीं हुआ।...राहुल, यशपाल, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान और मुक्तिबोध, अमृतराय की जो आलोचना है, वह ग्रंथिजन्य है। मूलतः विकृत है। दुराग्रहपूर्ण है। इस आलोचना का तीन चौथाई तो डिस्टार्शन कला का उदाहरण है। उसका उद्देश्य ही निम्न है। उसमें वस्तुनिष्ठता का लेश मात्र भी नहीं है...राहुल के संदर्भ में मैंने रामविलासजी को बहुत संकीर्ण पाया। मुक्तिबोध के संदर्भ में वे हद तक अनुदार रहे। हजारी प्रसाद द्विवेदी पर उन्होंने ऐसे लिखा, जैसे वह निरे पंडित जी हैं। यशपाल, रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय से माना जा सकता है, उनकी प्रतिद्वन्द्विता थी...लेकिन द्विवेदी जी, धीरेन्द्र वर्मा वगैरह से उन्हें क्या चिढ़ थी? रामविलास जी ने...समकालीन प्रतिभाओं को रौंद कर स्थापित होना बेहतर समझा...इससे मार्क्सवादी आलोचना में न्याय चेतना के अभाव की नींव पड़ी..कहीं अपना प्रिय कवि सबसे बड़ा है यानि विश्वकवि है। (संकेत निराला और मुक्तिबोध पर रामविलास जी की आलोचना की ओर है)...आत्मगत तत्त्व वस्तुनिष्ठता पर हावी है।...कहीं अपने ज्ञान से पीड़ित होकर कसौटियाँ गढ़ी जा रही हैं और कहीं अपनी भाषा और साहित्य सारी चेतना को ग्रस ले रहा है। ज्ञान के नायक जीवित नायकों की तुलना में सौ गुण नुकसान या

फायदा पहुँचाते हैं।...ऐसी ही अवधारणा है यह नवजागरण।...उनका (रामविलासजी का) लेखन आग्रहों से परिपूर्ण है।...सज्जाद जहीर, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चंद्र गुप्त, यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृत राय, मुक्तिबोध और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में उनकी आलोचनाएँ आग्रहों का समुच्चय हैं।...हिन्दी में बहस को अनादर का दर्जा प्राप्त है।...यहाँ मतभेद कभी विकास का लक्षण नहीं माना जाता, निरादर और शत्रुता को आधार बनाया जाता रहा है।...शायद मतभेद करने का गुण हममें नहीं है। दाखिल-खारिज का है। यह गुण आरम्भिक रामविलास शर्मा से ही चला आ रहा है...यह तो जमीनी रंजिश और पटवारी आलोचना हुई।” अगर उनके विचारों को मार्क्सवाद की कसौटी पर कसें तो कसौटी के ही दूषित हो जाने पर पूरा खतरा है। इसलिए ‘सिविल नाफरमानी’ का सर्टिफिकेट जारी करते हुए प्रदीप जी फरमाते हैं।

“...उनकी मान्यताएँ और निष्कर्ष व्यक्तिवादी और रुझान तो एकदम शौर्यवादी लगते हैं।...यह बात सूरज की रोशनी की तरह साफ है कि अगर हमारे प्रश्न तुच्छ हैं, तथ्यों से संदर्भित नहीं हैं, या उनके पीछे सिर्फ उठा-पटक की भावना है, या निषेध के लिए निषेध ही हमारा उद्देश्य है तो हमारा ‘योगदान’ उतना भी टिकाऊ नहीं होगा, जितना कि आलोच्य व्यक्ति का है।” यह तो हुई सर्वोदयी आलोचना। ‘सर्वे भवन्तु सुखिनाः सर्वे भवन्तु निरामयः।’ इस आलोचना का कोलाज और भी बड़ा हो सकता है।

इससे पहले दिल्ली से प्रकाशित ‘आलोचना’ अप्रैल-जून, 2001 में प्रकाशित ‘मार्क्सवादी आलोचना और रामविलास शर्मा के मूल्यांकन की समस्याएँ, अप्रैल-जून 2010 की ‘आलोचना’ में प्रकाशित ‘1857 : रस्मी अध्ययनों और कथनों से परे’ तथा ‘पहल’ अप्रैल-जून 2000 में प्रकाशित ‘अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है?’ आदि अपने लेखों में श्री प्रदीप सक्सेना ने डॉ. रामविलास शर्मा और उनके तथाकथित ‘स्कूल’ के ‘पूजकों’ को बिना नाम लिए ‘चोर नारि जिमि प्रकट न रोई’ वाली मुद्रा में पानी पी-पी कर कोस चुके थे। इसी तरह ‘उद्भावना’ नवम्बर-दिसम्बर 2012 के रामविलास शर्मा महाविशेषांक के अपने ‘संपादकीय’ में भी उन्होंने रामविलास शर्मा पर केन्द्रित बहस की जड़ों में मार्क्सवाद का काफी मद्दा डाला है। यहाँ भी उन्होंने पुराने आरोपों को दोहराया है। ‘वरिमा’ शोध पत्रिका के दिसम्बर 2012 के अंक में प्रकाशित उनका आलेख ‘तुलसीदास, रामविलास शर्मा और मार्क्सवादी आलोचना’ भी पुनरुक्ति अलंकार ही है। इन आरोपों में धुआँ अधिक है, तत्त्व कम। मजे की बात यह है कि प्रदीप जी वहाँ उन रास्तों पर भी फर्राटा दौड़ लगाते दिखायी देंगे जहाँ समझदार पाँव रखते घबराते हैं। मसलन उनका दावा है कि ‘रामविलास शर्मा ने कितने ही मामलों में मार्क्सवाद का अत्यन्त सरलीकृत रूप प्रस्तुत किया है।...फिर चाहे 1857 हो, हिन्दी जाति, भाषा और समाज, संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, अंग्रेजीराज और मार्क्सवाद, स्त्री-मुक्ति, दलित-मुक्ति, संगीत या कलाएँ।...उनकी आलोचना इकहरी और घोर असंतोषजनक हैं।’ इतने असंतोष के बावजूद उन्हें यह लगता है कि रामविलास शर्मा हमारे शिखर आलोचक हैं और कोई शिखर पर यों ही नहीं पहुँच जाता। इसके पीछे उनकी साधना, पारदर्शी दृष्टि, सूचना-सामग्री, विश्लेषण क्षमता और वामनिष्ठा जैसे कितने ही आयाम होते हैं।’ इतने जघन्य अपराध और लामुहाला प्रशंसा के ये शब्द! किसी बलिदानी से कहीं बड़ा बलिदान!

हिन्दी के पाठक अनपढ़ हैं। वे बिना पढ़े प्रशंसा-आलोचना करते हैं। उनमें अस्वीकार का साहस नहीं है। उनमें व्यक्तिगत राग द्वेष प्रबल है। यह प्रदीप जी का अपना झूठा-सच है। यह सब पढ़कर प्रदीप सक्सेना की हेकड़ी समझ में आती है। ‘उद्भावना’ के रामविलास

शर्मा महाविशेषांक के संपादकीय में संपादक श्री प्रदीप सक्सेना ने जिस चतुराई से रामविलास जी को उद्धृत कर मनोनुकूल निष्कर्ष निकाला है, वह उद्धरण की सामान्य नैतिकता के विरुद्ध है। पृष्ठ आठ के दूसरे अनुच्छेद में रामविलास जी के दो उद्धरण हैं। पहले का संदर्भ अंग्रेजी सरकार और जिन्ना, गाँधी और नेहरू की समझौतापरस्त नीति से है। उसका एक पक्ष स्पष्ट साम्राज्यवादविरोध है। दूसरे का सम्बन्ध मुगलकाल में अरबी-फारसी के सांस्कृतिक प्रभुत्व के समानान्तर देशी भाषाओं—हिन्दी की प्रतिष्ठा है जिसकी पताका तुलसी ने ऊपर रखी है। यह भाषा—संस्कृति के क्षेत्र में सामंतवादविरोध है। इसलिए विदेशी साम्राज्यवाद को मध्यकाल-पन्द्रहवीं सदी के मुगल शासनकाल से जोड़कर तुलसी से जबरन नत्थी कर देना परले दर्जे की बौद्धिक बेईमानी तो है ही, वह तार्किक त्रुटि 'लॉजिकल फैलेसी' भी है। संपादक महोदय अपने संपादकीय में जो कुछ कहते हैं रामविलास जी ने उससे ठीक उल्टी बात कही है। तुलसी ने लोकभाषा में अरबी-फारसी की सत्ता को चुनौती दी। इस तरह उन्होंने अपने राष्ट्रप्रेम का ही परिचय दिया है। कारण कि, "जो भारत की जलवायु में पला है, उसे भारत की भाषा और संस्कृति अपनाती होगी, उसे भारत की ही महत्ता का स्वप्न देखना पड़ेगा। जिस तरह हम भारत की भूमि से अन्न-जल ग्रहण करते हैं, उसी तरह उसकी भाषा भी। जब हम देश से प्रेम करना सीखेंगे, तब उसकी भाषा से भी प्रेम करेंगे। देश-प्रेम और भाषा-प्रेम दो अलग वस्तुएँ नहीं, एक हैं।" (भारत की भाषा समस्या, पृष्ठ 25) तुलसी के संदर्भ में राष्ट्रीय चेतना और देशप्रेम से आशय इतना भर है।

ऊपर के उद्धरण में रामविलास जी ने राष्ट्रवाद का कहीं उल्लेख नहीं किया है। देश-प्रेम का उल्लेख है। उस देशप्रेम को राष्ट्रवाद से जोड़कर संपादक महोदय ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। उनकी होनहार आलोचना की विशेषता है, उनका अखंड आत्मविश्वास। ऐसा अडिग आत्मविश्वास इस कलियुग में दुर्लभ है। जिस विस्मयकारी कौशल से उन्होंने देशप्रेम को राष्ट्रवाद में घटाया है उससे यही पता चलता है कि उनका इतिहासबोध उनके अंधे आत्मविश्वास का सगा भाई है। उन्हें कहो खेत की तो सुनेंगे खलिहान की। देशप्रेम और राष्ट्रवाद एक ही प्रपंच नहीं है। देशप्रेम-राष्ट्रप्रेम एक स्वतःस्फूर्त अनुभव है जो अचेत-अनायास रूप से भी प्रकट हो सकता है। उसके पीछे कोई मतवाद या सुचिंत्य दर्शन हो, जरूरी नहीं है। राष्ट्रवाद एक सुचिंत्य राजनीतिक विचारधारा है। राष्ट्रभक्ति-देशभक्ति सापेक्षतः देशकालबद्ध जरूर होता है लेकिन वह राष्ट्रवाद की तरह इतिहासबद्ध भी हो यह कतई जरूरी नहीं है। वह इतिहास के किसी भी काल, किसी भी क्षण पर समर्पित हो सकता है। कौन कह सकता है कि कालिदास, भवभूति, तुलसी, कबीर और उनके दूसरे समानधर्मा देशभक्त नहीं थे? लेकिन राष्ट्रवाद एक सर्वथा भिन्न प्रपंच है जो योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आने के कारण पूरी तरह से इतिहास के विशिष्ट कालखंड से बंधी हुई एक सचेत संज्ञा है। राष्ट्रवाद निज राष्ट्र को सर्वोत्तम, दूसरों से विशिष्ट एवं विलक्षण, नस्ली एवं प्रजातिगत श्रेष्ठता को हवा देने वाला एक आधुनिक मनोविज्ञान एवं सचेत विचारधारात्मक निर्मिति है जो पूँजीवादी विस्तारवाद के लिए खाना-पानी का इंतजाम करने वाले इतिहास के एक विशिष्ट काल-खंड से बँधा हुआ भी है। उसका श्रेष्ठतम रूप राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन में दिखायी देता है, विकृततम रूप फॉसिज्म में। मार्क्सवाद की किताब में स्वस्थ राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद के विरुद्ध गुलाम राष्ट्रों के पुनरुद्धार एवं सर्वांगीण विकास के लिए राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के राजनीति-आर्थिक स्वनिर्भरता के लिए लड़ी जाने वाली संघर्षगाथा भी है। इसलिए वह न्यायपूर्ण एवं तर्कसंगत भी है; बतर्श कि बिना एक पल के लिए भी इस बात को नजरअन्दाज किए कि उसका उपयोग वर्चस्वशाली शक्तियाँ

पूरे राष्ट्र के सामान्य हितों को ही प्रतिबिंबित करने के उद्देश्य लिए कर रही हैं। सवाल यह है कि क्या तुलसीदास मुगलशासन को विदेशी साम्राज्यवाद' मानकर देशी जनता की खुशहाली के लिए उसकी विदाई के पैरोकर हैं और रामविलास शर्मा ने तुलसी की राष्ट्रीय चेतना और उनके देशप्रेम में राष्ट्रवाद की उन्हीं विकृत छवियों को देखा है जो फासिस्ट हिन्दू राष्ट्रवादियों की खोज है? अगर नहीं और निश्चय ही नहीं तो 'तुलसीदास के समय में विदेशी साम्राज्यवाद का अर्थ मुगलशासन लगाना' निश्चय ही एक वितंडावादी सवाल है।

इस बात से कौन इंकार करेगा कि विचारों की दुनिया में कुछ भी फाइनल नहीं होता। इसलिए रामविलास जी भी फाइनल नहीं हैं। धर्म में सब कुछ फाइनल होता है। किन्तु यह बहस किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ही हो सकती है, झूठे और भ्रमात्मक प्रचारों पर नहीं। स्वयं रामविलास शर्मा साहित्यिक बहस और विवाद के बारे में सोचते थे कि, "कुछ लोगों का विचार है कि प्रगतिशील लेखकों में जो वाद-विवाद चले हैं वे व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण चले हैं। इस वाद-विवाद का संबंध सिद्धान्तों से नहीं, सम्बन्ध है व्यक्तिगत ईर्ष्या, कलह और द्वेष भाव से।" (यशपाल जी और अश्लीलता, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य) कम-से-कम प्रदीप जी ऐसा ही सोचते हैं। किन्तु चौहान-रामविलास शर्मा का विवाद किन नुक्तों पर था, यह अन्तर्धान बना रहता है। 'रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि' के परिचय में श्री रघुनाथ विनायक तावसे ने लिखा है कि 'हिन्दी आलोचना' जगत में समाजवादी सिद्धान्तों की स्थापना करने वालों में दो नाम प्रमुख हैं—श्री शिवदान सिंह चौहान और श्री रामविलास शर्मा।' रामविलास जी को जो प्रसिद्धि मिली उतनी शिवदान सिंह चौहान को नहीं। मार्क्सवादी आलोचना का प्रवर्तक और प्रतिपक्ष होने के बावजूद! वह अंदर से पीड़ित और बाहर से उपेक्षित रहे।' नामवर जी ने नोट किया है कि, "चौहान जी के लेखों में साहित्यालोचन के अन्तर्गत सौंदर्य-तत्त्व की ओर विशेष झुकाव है जबकि रामविलास जी के आरंभिक लेखन में सामाजिक पक्ष पर अधिक बल हुआ करता है।" (हिन्दी का गद्य पर्व, पृष्ठ 189) 'कुत्सित समाजशास्त्रीय आलोचना' को लेकर डॉ. शर्मा और चौहान जी में जो विवाद है, उसका मर्म यही है।

प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान कलावादी और मार्क्सवादी चिंतन में ही टकराव नहीं था, स्वयं मार्क्सवादी साहित्य-चिंतकों के बीच कला की कलात्मक गुणवत्ता को सुरक्षित रखते हुए उसकी सामाजिकता की रक्षा को लेकर खासा विवाद हुआ था। उस विवाद में 'व्यक्तिगत रंजिश' जैसी किसी चीज का खंडन तो स्वयं चौहान जी ने अपने निष्प्रात आत्मवक्तव्य में कर दिया है : "एक बार 'रामविलास-चौहान विवाद' की पूरी अन्तरंग तस्वीर सामने आनी ही चाहिए, अन्यथा यही प्रचारित किया जाता रहेगा कि 'दो दिग्गजों' की आपसी लड़ाई के कारण प्रगतिशील लेखक संघ विघटित हो गया। पार्टी में ऊपर से नीचे तक यही समझा जाता है। और काफी हद तक लेखकों की भी यही धारणा है। लेकिन यह गलत है। इस विवाद में कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है—कम-से-कम मेरी ओर से। रामविलास अगर वैचारिक मतभेद को व्यक्तिगत विरोध समझते हों तो वे जानें। यह दो प्रवृत्तियों, सौन्दर्य-दृष्टियों, इतिहास-चेतना और विश्वबोध का फर्क है, जो परस्पर विरोधी हैं।" (प्रगतिशील आन्दोलन और मैं, निबंध से) रामविलास जी की तरह शिवदान जी भी दोनों के आपसी मतभेद को वैचारिक ही मानते हैं। किन्तु 'सहृदय आलोचक' ने इस वैचारिक मतभेद को रामविलास जी का व्यक्तिगत राग-द्वेष सिद्ध करने में आसमान-जमीन के कुलावे एक कर दिए हैं। सचमुच, मीडियाकर होना भी एक अभिशाप ही है। महापुरुषों को उनके अनुयायियों ने ही डुबोया है। आगे मैं इस मतभेद की नब्ज पर उँगली रखना चाहूँगा।

प्रगतिशील आन्दोलन : वैचारिक मतभेद के सीमांत

जनपदीय आन्दोलन और मातृभाषा

यहाँ थोड़ा ठहर कर उस विवाद के मर्म को समझना जरूरी है। 1934 में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी प्रदेश की विभिन्न बोलियों के आधार पर प्रांतों के विभाजन एवं गठन का प्रश्न उठाया था। इसके लिए उन्होंने जनपद आन्दोलन का सुझाव दिया था। इस प्रस्ताव से अमरनाथ झा, के.एम. मुंशी, राहुल जी, शिवदान सिंह चौहान सहमत थे। शिवदान सिंह चौहान ने 'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न' (1945) पर साठ पृष्ठ लंबा लेख लिखा। सोवियत रूस के अनुभवों को आधार बनाकर राहुल जी ने 'मातृभाषाओं का प्रश्न' नामक निबन्ध लिखा। राहुल जी ने बताया कि जार के शासनकाल में रूसी भाषा का बोलबाला रहा। किन्तु सोवियत शासन के तुर्कमान, उजबेक, किर्गिज और कजाक जातियों की मातृभाषाओं को भी शिक्षा का माध्यम बनाया जिससे इन भाषाओं की अभूतपूर्व प्रगति हुई। इन लेखों में चौहान जी और राहुल जी ने छोटे-छोटे जनपदों की बोलियों को भी स्वतंत्र भाषाएँ मानकर हिन्दी प्रदेश को विभाजित करने की सिफारिश की। उनका तर्क था कि जनपदीय बोलियों—मातृभाषाओं की क्षेत्रीय सीमाओं का निर्धारण करके वहाँ का सारा काम उन्हीं बोलियों ने संपादित किया जाए। हिन्दी उन जनपदों से बाहर अथवा अन्तर्जनपदीय संपर्क की भाषा होगी। इससे 'हिन्दी साम्राज्यवाद' का खतरा टलेगा, मातृभाषाओं को विकसित होने का मौका मिलेगा और संस्कृति और भाषा के जनतन्त्रीकरण की प्रक्रिया तेज होगी।

डॉ. शर्मा के लिए चौहान-राहुल का यह अशरीरी प्रस्ताव अत्यन्त विनाशकारी था। उन्होंने प्रत्युत्तर में 'सोवियत संघ में भाषाओं की समस्या' नामक लंबा लेख लिखा। उस लेख में उन्होंने राहुल-चौहान का नाम लिए बिना भाषा के मामले में उनकी मार्क्सवादी यान्त्रिक समझ से पर्दा उठाया है। उन्होंने तर्क दिया कि बेलोरूसियन, उक्रेनी, लेत, एस्टोनियन, काकेशन, लिथुआनियन, जार्जियन, उजबेकियन, किर्गिज आदि रूसी जाति और जारशाही शासन ने मिलकर अन्य जातीय भाषाओं को दबाया। इसलिए रूसी भाषा-भाषी जाति के साथ जार के शासन में अन्य भाषा-भाषी जातियों का सम्बन्ध वैमनस्यपूर्ण रहा। इसके विपरीत हिन्दी के साथ जनपदीय बोलियों का सम्बन्ध वही नहीं रहा है जो रूसी भाषा और दूसरी जातीय भाषाओं का था। यहाँ तो जनपदीय बोलियों में लिखा गया साहित्य हिन्दी साहित्य में शुमार है। इसका कारण यह है कि जनपदीय बोलियाँ हिन्दी भाषीजाति के अंग हैं। वे स्वतन्त्र जातियाँ नहीं हैं। उन्हें स्वतन्त्र मानकर हिन्दी प्रदेश का विभाजन करना अन्ततः पूँजीवादी राष्ट्रवाद और साम्राज्यवादी फूटपरस्त नीतियों को ही फायदा पहुँचायेगा। दूसरा कि, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, बंगला, उड़िया, असमिया आदि हिन्दी भाषी जाति की तरह स्वतन्त्र जातियाँ हैं। उनके बीच वही सम्बन्ध नहीं है जो हिन्दी के साथ ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही, बाँगरू आदि बोलियों का है। इसलिए रामविलास जी की दृष्टि में जनपदीय आन्दोलन एक अलगाववादी माँग थी जो जन एकता को कमजोर करने वाली थी।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने मातृभाषा और जनपदीय बोलियों की स्वतन्त्र इकाइयों के पक्ष में तर्क दिया, "मैं मध्यदेश की जनपदी बोलियों तथा संस्कृति का विरोधी नहीं हूँ बल्कि पक्षपाती हूँ। मेरा अपना भी एक जनपद है और मेरी मातृभाषा भी तो एक जनपदीय बोली है, अतः मैं इस सिद्धान्त का विरोधी कैसे हो सकता हूँ? मैं यहाँ तक जाने को तैयार हूँ कि आवेश में आकर नहीं बल्कि सोच-समझकर यदि कोई जनपद अपने को मध्यदेश के इस साहित्यिक

सम्बन्ध से अपने को पृथक करना चाहे तो उसकी इस महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने का यह अवसर उसे अवश्य मिलना चाहिए। संयुक्त परिवार का सच्चा बंधन प्रेम और त्याग है, स्वार्थ और हठ नहीं।” (उद्धृत, शिवदान सिंह चौहान, साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 221-22)

यही सोच पं. अमरनाथ झा की थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने जनपद आन्दोलन और मातृभाषा के सवाल पर डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की आलोचना उनके इस विघटनकारी सोच के कारण की थी। इससे निश्चय ही रामविलास जी का कुछ बिगड़ने वाला नहीं था। हाँ, उससे जातीय संस्कृति में दरार जरूर पड़ता था; क्योंकि हिन्दी प्रदेश के जनपद अलग-अलग जातियों के प्रदेश हैं, यह समझ सिरे से उस समय साठ-सत्तर साल पहले भी गलत थी, आज भी गलत है। इसी तर्क से तेलगू भाषी जाति-आन्ध्रप्रदेश को तोड़कर तेलंगाना राज्य बनाना गलत है।

चौहान जी की दृष्टि में चन्दरदायी, कबीर, तुलसी, सूर, विद्यापति, मीरा, भूषण मतिराम, बिहारी, देव आदि वर्तमान साहित्यिक हिन्दी के कवि नहीं थे वे अपनी जनपदीय भाषाओं के ही कवि थे क्योंकि वह भी सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार मानते हैं कि ‘हिन्दी का अर्थ है साहित्यिक खड़ी बोली।’ अपने इसी मत से उन्होंने ‘हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष’ पुस्तक लिखी और हिन्दी साहित्य के एक हजार साल के इतिहास को महज अस्सी-सौ सालों में निपटा दिया। रामविलास-शिवदान की इतिहास दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए नामवर जी ने एक बड़े मार्के की बात कही है, “शिवदान सिंह चौहान कहते हैं कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अस्सी साल का है।...इसलिए जितना बड़ा उनका इतिहास था उतना ही बड़ा उनका मार्क्सवाद था और उतनी ही बड़ी आलोचना-दृष्टि थी। रामविलास शर्मा के लिए हिन्दी साहित्य का इतिहास एक हजार साल का है और...हिन्दी साहित्य उस भारतीय इतिहास से जुड़ा हुआ है जो पाँच हजार साल पुराना है।” (हिन्दुस्तान, 22 जुलाई 2001, उद्धृत अजय तिवारी, रामविलास शर्मा ‘प्रगतिशीलता के विवाद, वसुधा, जुलाई-सितम्बर 2001, पृष्ठ 170) अब अगर हिन्दी साहित्य का इतिहास ही अस्सी-सौ सालों का हो तो ब्रज, अवधी आदि में लिखा गया साहित्य हिन्दी साहित्य के इतिहास में कैसे शामिल हो सकता है? ‘चन्द छन्द बरनन की महिमा’ के तर्क से चौहान जी ने आगे समझाया, ‘हिन्दीवादी संकीर्ण राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से प्रेरित हैं।’ (आलोचना के मान, पृष्ठ 98) ‘उन्हें एक सीमा तक सम्प्रदायवादी भी कह सकते हैं।’ (पूर्वोक्त पृष्ठ 105) “हिन्दी केवल मेरठ-सहारनपुर निवासियों की मातृभाषा है, जिनकी संख्या लगभग साठ लाख है। आज स्थिति है कि लगभग तेरह-चौदह प्रादेशिक भाषाओं को अपने अधिकारों से वंचित करके हिन्दी चार-पाँच राज्यों की राजभाषा बनी हुई है, अर्थात् वह इन राज्यों में बोली जाने वाली भाषाओं का स्थानापन्न बन गई है। इस अन्याय का निराकरण जरूरी है...अवधी, ब्रज, मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी, मालवी, गोरखली, कुमाऊँनी आदि भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में शिक्षा का माध्यम न बनाकर हिन्दी को माध्यम बनाना वैसा ही है, जैसे केरल में मलयालम को हटाकर हिन्दी को मातृभाषा के पद पर आसीन करना।” (पूर्वोक्त, पृष्ठ 112-3) लेकिन चौहान जी के हिन्दी-प्रदेश का आक्षांश और देशान्तर बदलता रहता है। अब वह मेरठ और सहारनपुर से हट कर इलाहाबाद और बनारस हो गया है, “जब से खड़ी बोली में हिन्दी साहित्य की रचना शुरू हुई है, तब से इलाहाबाद और बनारस उसके प्रमुख केन्द्र रहे हैं, यद्यपि इन नगरों की प्रादेशिक भाषा खड़ी बोली नहीं है।” (पूर्वोक्त, पृष्ठ 128-9) चौहान जी के लेख मध्यदेश में हिन्दी की वही उत्पीड़नकारी भूमिका थी जो भारत में अंग्रेजी की। दूसरी प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी की गुलाम हैं। उनकी मुक्ति के लिए जनपदीय भाषा-आन्दोलन चलाना चाहिए। भाषायी उत्पीड़न की समाप्ति तथा सच्चे जनतन्त्र की स्थापना के लिए हिन्दी

से प्रादेशिक भाषाओं-मातृभाषाओं की मुक्ति आवश्यक है, यह चौहान जी की समझ थी। हिन्दी और मलयाली दो भिन्न जातियों की भाषाएँ हैं। चौहान जी ने यह परीक्षण नहीं किया कि ब्रज, अवधी आदि अलग जातियों की भाषाएँ हैं या एक जातीय प्रदेश की बोलियाँ हैं। इसका कारण यह है कि चौहान जी भाषा और बोली के अन्तर को स्वीकार नहीं करते। (पूर्वोक्त, पृष्ठ 109)

डॉ. नित्यानंद तिवारी ने ठीक लिखा है कि चौहान जी इतिहास के ढाँचे से टकराने के बजाय हड़बड़ाहट में इतिहास से ही टकरा गए। उन्होंने अटकलपंथी तरीके से 'हिन्दी साम्राज्य' की कल्पना भर कर ली और उससे 'भाषा उपनिवेशों' की मुक्ति के लिए कमर कस ली। उन्होंने रामविलास जी पर आक्रमण करते हुए लिखा, "इधर सात-आठ वर्षों से, स्टालिन से अधिक बड़े स्टालिनवादी हमारे डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी के अखंडतावादियों के कुतर्कों को सैद्धान्तिक आधार देने के लिए 'एक वृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति या राष्ट्र' की कल्पना करते आए हैं। उनका कहना है कि मातृभाषाएँ मिट रही हैं और हिन्दी उसका स्थान ग्रहण कर रही है और इस प्रकार एक वृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति का जन्म हो रहा है, वृहत्तर रूसी जाति की तरह। निश्चय ही आजादी मिलने के बाद भी मूढ़ कल्पनाओं का युग नहीं बीता।" (पूर्वोक्त, 235)

मातृभाषाओं को मिटाकर हिन्दी पदस्थापित हो रही है, रामविलास जी ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दी जाति की अवधारणा 'मूढ़ कल्पना' कैसे है, चौहान जी ने इसका भी रहस्योद्घाटन नहीं किया है। बजाय इसके, उन्होंने आगे बढ़कर लिखा, "हिन्दी का वर्तमान साम्राज्य 'ताश के घर' से अधिक मजबूत नहीं है, क्योंकि जिस आधार पर वह टिका है वह आधार समानता, स्वतंत्रता और न्याय का नहीं है वरन् राजकीय प्रोत्साहन, पक्षपात और अन्यान्य भाषाओं के असमान विकास और पिछड़ेपन के कारण ही 'ताश का घर' खड़ा हुआ है।...भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी के साम्राज्य को ढहते देर नहीं लगेगी।" (साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 254-5) 'हिन्दी साम्राज्य ध्वस्त नहीं हुआ क्योंकि वह वास्तव में था ही नहीं। हाँ, उसकी धूल-धक्कड़ राहुल-चौहान और उनके पूजकों के हाथ जरूर लग गया।

यहाँ देखना चाहिए कि गुलाम भारत में भाषा और संस्कृति के स्तर पर मुख्य अन्तर्विरोध किनके बीच था? एक ओर मध्यकालीन रीतिवाद था, दूसरी ओर स्वाधीनता की चेतना से आप्लावित भारतेंदु और उनके मंडल का साहित्य। भारतेंदु और उनके मंडल के लेखकों पर रीतिवाद का प्रभाव कम नहीं है लेकिन उससे मुक्ति की कोशिशें भी वहीं हैं। दूसरे, एक ओर हिन्दुस्तान की सभी जातीय भाषाएँ, बोलियाँ और संस्कृतियाँ थीं, दूसरी ओर इंगलिस्तानी संस्कृति और अंग्रेजी भाषा। अब इनमें कौन-सा अन्तर्विरोध महत्वपूर्ण है? देशी भाषा बनाम अंग्रेजी या हिन्दी बनाम जनपदीय मातृभाषाएँ? जो मुख्य अन्तर्विरोध है उसे पीछे ठेलकर, गौण अन्तर्विरोधों को केन्द्र में प्रतिष्ठित कर, हिन्दी और उर्दू को दो स्वतन्त्र भाषाएँ मानकर दोनों को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाने के पक्ष में दलीलें देकर राहुल-चौहान किसकी सेवा कर रहे थे? अंग्रेजों की फूटपरस्त नीति का। उस फूट को राहुल-चौहान 'जनपदों का प्रजातंत्र' बतला रहे थे। जिस तरह भारतीय पूँजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद दोनों को समान रूप से भारतीय जनता का शत्रु बताकर यशपाल जी दोनों के अन्तर्विरोधी की अवहेलना कर रहे थे उसी तरह राहुल-चौहान कभी हिन्दी को जनपदीय भाषाओं-मातृभाषाओं का शत्रु बताकर अंग्रेजी के साथ उनके अन्तर्विरोधों से मुँह चुरा रहे थे।

1946 में चौहान जी का लेख 'राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान' प्रकाशित हुआ। उसमें चौहान जी ने जोर देकर लिखा, "प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिक्षा, प्राथमिक से लेकर उच्चतम तक, अपनी मातृभाषा में प्राप्त करने का अधिकार है। (यही राहुल जी की भी मान्यता थी—संकेत

मेरा) ऐसी दशा में पूरे देश का भाषागत प्रान्तों में पुनर्विभाजन करने की आवश्यकता होगी, और भाषा-क्षेत्रों का निर्णय जरूरी होगा। इस आधार पर हिन्दी प्रान्तों का भी पुनर्विभाजन होगा, क्योंकि इन क्षेत्रों में लगभग बीस भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। साहित्यिक हिन्दी सर्वत्र मातृभाषा के रूप में नहीं बोली जाती।” (पूर्वोक्त, पृष्ठ 309) राहुल जी की मातृभाषाओं की सूची में तीस जनपद शामिल थे। (साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 315-16) वह हिन्दी भाषी क्षेत्र का विभाजन इसी तर्क से तीस प्रान्तों में करना चाहते थे।

1949 में रामविलास जी का लेख ‘भारत की भाषा-समस्या’ (संकलित, भारत की भाषा-समस्या) प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने भाषा और प्रजातन्त्र के सवाल का विशद विश्लेषण करते हुए लिखा, “श्री राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य लोगों की यह माँग कि अवधी, ब्रज, बुंदेलखंडी आदि को विभिन्न जातियों की टकसाली भाषा माना जाए, प्रतिक्रियावादी माँग है। यह माँग केवल सामंती वर्गों के हितों में है जो इस तरह एक पतनशील व्यवस्था की रक्षा करना चाहते हैं। इस माँग से हिन्दुस्तानी प्रदेश के मजदूरों की एकता में बाधा पड़ती है।

हर बोली के लिए एक प्रजातन्त्र या प्रान्त बनाने का सवाल नहीं है। सोवियत संघ में 60 से ऊपर भाषाएँ हैं; प्रजातन्त्र इनसे बहुत कम हैं। अवधी, ब्रज आदि विभिन्न जातियों की भाषाएँ होतीं, तो भी उनके लिए हर जगह प्रजातन्त्र कायम न किए जाते। वे बोलियाँ हैं, इसलिए उनमें से हरेक के लिए प्रजातन्त्र बनाने की माँग विशेष रूप से हास्यास्पद है। ओरछा के महाराज जनपद आन्दोलन में खास दिलचस्पी ले रहे हैं, यह बात आकस्मिक नहीं है।” (83)

इस दृष्टि से विचार करें तो प. राहुल सांकृत्यायन, शिवदान सिंह चौहान, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री व्योहार राजेन्द्र सिंह आदि द्वारा जनपद—आन्दोलनों में योग और हिन्दी भाषी क्षेत्र की विभिन्न जनपदीय भाषाओं को टकसाली भाषा मानकर अलग सूबों की माँग करना एक प्रतिक्रियावादी कदम था जो केवल सामन्ती प्रभुओं की सेवा ही नहीं, ‘फूट डालो और राज करो’ की घोषित ब्रिटिश नीति के पक्ष में भी था।

इसे इस तरह से समझें। मेरी, डॉ. केदारनाथ सिंह, प्रो. नामवर सिंह, प्रो. मैनेजर पांडे, प्रो. नित्यानंद तिवारी की मातृभाषा भोजपुरी है। प्रो. विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी प्रो. अजय तिवारी की मादरेजुबान अवधी है। इसी तरह से अन्य भी। अब क्लास में हिन्दी पढ़ाते समय हमें किस भाषा में बोलना चाहिए? राहुल-चौहान के तर्क से उस भाषा से पढ़ाईये जो उस क्षेत्र विशेष की मातृभाषा-जनपदीय भाषा हो। चौहान की नेक सलाह है, न आती हो तो सीखिए। यानि मुझे अगर कक्षा में हिन्दी पढ़ानी है तो मैं राजस्थानी में पढ़ाऊँ। लेकिन राजस्थानी भाषा में भी कई उपभेद हैं। मसलन, मेवाती, ढूँढारी, मालवी, बागड़ी, मारवाड़ी, शेखावटी आदि। अब अगर इनमें से एक को चुनें तो दूसरे का प्रजातान्त्रिक हक मरेगा या नहीं? फिर जनपदीय भाषाओं के प्रजातन्त्र का क्या होगा? यह भी तो एक तरह का आरोपण ही है। राहुल-चौहान को एक बोली पर दूसरी बोली के जबरन आरोपण में जनतन्त्र दिखायी देता था किन्तु हिन्दी को हिन्दी प्रदेश में सामान्य सम्पर्क की भाषा, राजकीय व्यवहार, सांस्कृतिक आयोजनों-रेडियों, फिल्म, थियेटर, शिक्षा आदि के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग से जनतन्त्र का विनाश दिखायी देता था। अब ईश्वर से ज्यादा उनके भक्त ही परेशान हैं। राहुल-चौहान के अबूझ चले जितना उनका नाम जपते हैं, उनके विचारों से उनका दिमाग उतना ही खाली भी है। यानि बच्चा मर गया, बंदरिया उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। वे मुद्दों पर कभी बहस नहीं करते, यद्यपि वे बहस-बौराये लोग हैं। बहस के उनके तौर-तरीके भी वही हैं जो उनके पूर्वजों के थे।

जातियों के आत्मनिर्णय का सिद्धान्त :

विवाद का दूसरा मुद्दा था, जातियों के आत्मनिर्णय का मार्क्सवादी सिद्धान्त। राहुल-चौहान ने जनपदीय भाषाओं के सम्बन्ध में अपना अलग मार्क्सवाद चलाया। हिन्दी 'भाषाओं का विशाल कारागार है।' उस कारागार से मातृभाषाओं की मुक्ति के लिए जरूरत के हिसाब से राहुल-चौहान ने मार्क्सवाद की किताब से जातियों के आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता के अधिकार का सिद्धान्त भी ढूँढ़ निकाला जिसके आधार पर उन्होंने 'भाषामूलक' जनपदों में मध्यदेश के पुनर्विभाजन को प्रस्तावित किया। तब प्रश्न उठता है कि 'मध्यदेश के ये पृथक भाषा-जनपद अलग-अलग राज्य होंगे, अथवा एक विशाल मध्यदेशीय संयुक्त राज्य की विभिन्न स्वायत्त शासन प्राप्त इकाइयों के रूप में रहेंगे? उत्तर है, 'यह एक राजनीतिक प्रश्न है और उस पर कोई मत प्रकट करना हम अनपेक्षित समझते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से हम इतना ही प्रस्ताव कर सकते हैं कि भाषागत आधार पर मध्यदेश का प्रादेशिक विभाजन किया जाए।' (पूर्वो पृष्ठ 238)

चौहान जी को राजनीति से कहाँ परहेज है जिसके सामने हाथ बाँध कर खड़े होने की विवशता हो? कमीशन बनाकर उसका हल खोजने की सलाह तो और भी हास्यास्पद है। दरअसल यहाँ सोच और व्यवहार के बीच इतना फासला है कि 'कमीशन' की मिट्टी उसे भर पायेगी, संदेहास्पद है। चौहान जी को विश्वास था कि जातियों के आत्मनिर्णय का मार्क्सवादी सिद्धान्त उसमें चमत्कारी भूमिका निभा सकता है। लेकिन यहाँ भी यह सवाल धोखा दे जाता है कि ये जो जनपदीय मातृभाषाएँ हैं उनका सम्बन्ध एक जाति से है या अलग-अलग जातियों से? दूसरा सवाल है, क्या हिन्दी के साथ हिन्दी प्रदेश की जनपदीय मातृभाषाओं का वही सम्बन्ध है, जो जारशाही के जमाने में उत्पीड़नकारी रूसी भाषा के साथ अन्य जातीय भाषाओं का था? जारशाही रूस में जाति सबसे बड़ी जाती थी। लेनिन ने रूसी जाति को उत्पीड़क जाति कहा था। लेकिन जातीय शोषण एवं उत्पीड़न से मुक्ति के लिए लेनिन ने जातियों को ही विघटित कर देने की युक्ति नहीं सुझायी थी। इसके विपरीत जातियों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को हमेशा वर्ग-संघर्ष के अधीन रखा, उसके ऊपर नहीं। उनका तर्क था कि जब तक शोषक और शोषित जाति के किसान और मजदूर मिलकर नहीं लड़ेंगे तब तक जातीय शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति सम्भव नहीं है, जातीय भाषा-साहित्य और संस्कृति का उत्थान सम्भव नहीं है, जारशाही की पराजय और साम्राज्यवाद को हराना असम्भव है। 'राइट ऑफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन' में लेनिन ने लिखा, "कोई जाति अलग होगी कि नहीं, इसका उत्तर 'हाँ' 'ना' में देना बहुत कठिन है यद्यपि उसे बहुत व्यावहारिक समझा जाता है। पूँजीपति अपनी जातीय माँगों को सोच-समणकर आगे रखता है। सर्वहारा के लिए यह माँग वर्ग-संघर्ष के नीचे है।" चूँकी पूँजीपति राष्ट्रवाद की पहली शिक्षा बाजार में ही पाता है, इसलिए वह उपनिवेशों में ही नहीं अपने देश में भी दूसरी प्रतियोगी जातियों के विकास को निरन्तर निरुत्साहित करता है। वह अन्य जातियों के किसानों-मजदूरों-श्रमजीवियों में बराबर फूट भी डालेगा। अतः रामविलास जी की यह स्थापना कि भाषा और संस्कृति के सवाल जातियों की एकता के सवाल से जुड़े हुए हैं, बिल्कुल सही है। उसमें फूट कौन डाल रहा था? रामविलास जी की दृष्टि में, राहुल और चौहान। अपने तमाम पुनीत-पावन मन्तव्यों के बावजूद। अगर रामविलास जी ने अपने इस बुनियादी स्थापना को ताउम्र नहीं बदला तो उसमें आश्चर्य भी नहीं है। राहुल-चौहान ने 'आत्मनिर्णय के सिद्धान्त' की जो व्याख्या की वह एक तरह का 'सोशल रिडक्शनिज्म' है जिसका शिकार चूड़ामणि मार्क्सवादी संस्कार वाले आलोचक और विद्वान भी होते देखे गए हैं। रामविलास

जी ने इसी 'रिडक्शनिज्म' का खंडन किया है, चाहे वह परम्परा के मूल्यांकन के संदर्भ में हो चाहे भाषा-विज्ञान के संदर्भ में। उन सब पर पोंछा फेर कर निपट निहंग हो जाना कहाँ की समझदारी है? उन सबको व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा और वैमनस्य के रूपकों में घटा देना तो और भी अनर्थकारी है।

जातियों के आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता के अधिकारों की मनमानी ब्यख्या से फासिस्ट तानाशाही का खतरा हमेशा बना रहता है। जातियों के आत्मनिर्णय के इसी तर्क से कम्युनिस्टों ने देश के विभाजन की योजना का समर्थन किया था, सिक्ख राज्य का समर्थन किया था। ब्रजप्रदेश को उत्तर प्रदेश से काटकर अलग राज्य बनाने की पं. कृष्णदत्त पालीवाल की माँग का समर्थन कम्युनिस्ट-पत्र 'जनयुग' ने किया था। हरियाणा को अलग राज्य का दर्जा देने का समर्थन कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। जातियों के आत्मनिर्णय एवं भाषावर प्रान्तों के गठन के जो आचार्य हैं उनके पास भी इस समस्या का कोई निदान नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक् जातियाँ मानकर देश का बँटवारा हो सकता है तो आत्मनिर्णय के उसी तर्क से कश्मीर की आजादी का बँटवारा हो सकता है तो आत्मनिर्णय के उसी तर्क से कश्मीर की आजादी का समर्थन क्यों नहीं किया जा सकता? जिसे भारत सरकार कश्मीर में आतंकवाद बताती है, उसे पाकिस्तान कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय का अधिकार और कश्मीरियों की आजादी की लड़ाई बताता है। फिर कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग क्यों मानते हैं?

ऐसा नहीं है कि चौहान भी 'जातियों के आत्मनिर्णय' के खतरों से अपरिचित हों। उन्होंने लिखा है, "पाकिस्तान की माँग" की जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग" का ही पर्याय सिद्ध करने की भ्रमपूर्णा एवं गलत चेष्टा उन दिनों भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने की थी। इस भ्रामक नीति का ही परिणाम था कि हिन्दी के अधिकांश प्रगतिवादियों ने भी इसी गलत तर्क को ज्यों का त्यों अपना लिया।' (साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 218) लेकिन इसके तुरन्त बाद यह लिखने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है कि 'इससे मातृभाषाओं के प्रश्न' का रूप नहीं बदलता (वही)।

हिन्दी ने जिन भाषाओं को दबाया है, उसमें एक नाम उर्दू भी है। जो लोग हिन्दी को जनपदी मातृभाषाओं को दबाकर 'भाषाओं का कारागार', बनाने, 'हिन्दी साम्राज्य' बनाने, 'हिन्दी सम्प्रदायवादी-संकीर्ण राष्ट्रवादी' होने, उर्दू को दूसरी राष्ट्रभाषा बनाने आदि का तर्क देते हैं, वे स्वयं जम्मू-कश्मीर में उर्दू की भूमिका के बारे में चुप रहते हैं। उन्हें यह भी देखना चाहिए के कश्मीर में उर्दू राजभाषा है और वह कश्मीरी एवं शारदा लिपि का हक मार कर राजभाषा बनी हुई है। मध्यकाल में फारसी राजभाषा थी। वह जातीय-सांस्कृतिक उत्पीड़न का औजार बनी। ठीक यही भूमिका जम्मू-कश्मीर में उर्दू की है यानि सांस्कृतिक उत्पीड़न की। अब अगर कश्मीरी और डोगरी भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा मिला तो मुसलमान नाखुश होंगे। यह अवसरवाद जाने-अनजाने राहुल-चौहान की समझ में थी, उनके जमाने की कम्युनिस्ट पार्टी की थी और आज भी है। यह भाषा को धर्म से जोड़ने की अपरिहार्य परिणति है जबकि भाषा का धर्म से कोई इकबाली रिश्ता नहीं होता।

जातियों के आत्मनिर्णय और भाषावर राज्यों के गठन को यान्त्रिक तरीके से मार्क्सवाद का एक सिद्धान्त बना देने के तर्क से बंगाल और असम को तोड़कर अलग गोरखाराज्य-गोरखालैंड बनाने के अलगाववादी आन्दोलन और गोरखों की आजादी को भी स्वीकृति देनी पड़ेगी। उनके पास भाषावैज्ञानिक आधार भी है। गोरखाओं की भाषा असमी और बंगला से अलग नेपाली भाषा के निकट है और नेपाली एक स्वतन्त्र राष्ट्र की भाषा भी है। अरुणाचल के जिन प्रदेशों

को भारत सरकार ने फौजी ताकत के बल पर भारतीय संघ में मिला (जैसाकि वहाँ दावा है) रखा है, और जिसके खिलाफ वहाँ भी अलगाववादी आन्दोलन चल रहे हैं, उन्हें भी आत्मनिर्णय का अधिकार देकर अपनी नियति को स्वतन्त्र रूप से चुनने की आजादी दीजिए जबकि उनके पास तो अपनी भाषा-साहित्य और संस्कृति की समृद्ध परम्परा भी है और पूर्वोत्तर की अधिकांश भाषाएँ चीनी-तिब्बती परिवार की हैं। इसी तरह सिक्खी के आधार पर खालिस्तान का समर्थन कीजिए और साम्प्रदायिकता के जिस आधार पर पाकिस्तान बना था, उसी आधार पर खालिस्तान बनाइये। इसमें क्या बुराई है? कर्नाटक के जिन क्षेत्रों में कोंकणी बोली जाती है, उसे भी तोड़िए। मुम्बई में पारसियों का एक तबका है। उनकी भी अपनी भाषा है। अतः उसे भी तोड़कर एक अलग प्रान्त बनाइये। दिल्ली राजनीतिक नगरी है। वहाँ पंजाबी, हरियाणवी और हिन्दी भाषी लोग रहते हैं। उनके भी अलग-अलग क्षेत्र बनाइये। एक क्षेत्र से चुन-चुन कर दूसरे क्षेत्र के लोगों को मार भगाइये। 'आमच्या महाराष्ट्र' के नाम पर बम्बई से पहले गुजरातियों को खदेड़ने का अभियान चला। तब सभी वामपंथी दलों ने जनसंघ के साथ मिलकर संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के लिए संयुक्त मोर्चा कायम किया था। अब शिवसेना यू.पी.—बिहार के लोगों का बम्बई से चालान काट रही है। इसलिए शिवसेना और कम्युनिस्ट पार्टी का संयुक्त मोर्चा बनाकर जातियों के आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता के अधिकार की रंगरूटी लीला का समर्थन कीजिए!! ऐसे में जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की रक्षा और भाषाओं पर फासिस्ट बाँटने की कोशिश है। अगर हर कोई अपनी पुँगी इसी तरह बजाएगा तो इससे राष्ट्रीय एकता कायम होगी या राष्ट्रीय विघटन? ऊपर से न्यूरोसिस की हद तक सोवियत संघ के व्यावहारिक अनुभवों में मार्क्सवाद की छैंक लगाकर राहुल-चौहान और रांगेय राघव के पक्ष में दलीलें जुटाकर लाडो की बुआ बने रहिए। यानि, 'हंसब ठठाय फुलाउब गालू'। लेकिन इस ठिठोली से किसे फायदा होगा?

हिन्दी जाति और जातीय साहित्य एवं भाषा के रूप में हिन्दी के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को अनदेखा करने के कारण की शिवदान सिंह चौहान और राहुल सांकृत्यायन की रामविलास जी ने कड़ी आलोचना की थी। रामविलास जी की समझ यह रही है कि जिस तरह भारत की जातीय संस्कृति से अलग भारतीय संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं है वैसे ही हिन्दी जाति से अलग जातीय भाषा और साहित्य जैसी भी कोई चीज नहीं होगी। उन्होंने लिखा "भारतीय संस्कृति यहाँ जातीय संस्कृतियों से अलग हटकर कोई चीज नहीं है। जैसे यहाँ बंगाल है, जहाँ बंगाली भाषी लोग रहते हैं, बंगाली जाति रहती है।...ऐसे ही तमिलनाडु है जहाँ तमिलभाषी जनता रहती है।...हम लोग हिन्दी जो बोलते हैं, उसमें जातीय चेतना कम है। बंगाल, महाराष्ट्र या तमिलनाडु की अपेक्षा हमारे हिन्दी भाषी क्षेत्र में जातीय चेतना कम है।...जब तक जातीय चेतना की कड़ी को नहीं पकड़ा जाएगा, हिन्दी जाति को संगठित नहीं किया जाएगा, हिन्दी भाषा के सारे जनपदों को मिलाकर एक बड़ा राज्य नहीं बनाया जाएगा, तब तक यहाँ जातीय विकास नहीं हो सकता।" (मेरे साक्षात्कार, हिन्दी जाति की एकता के लिए आन्दोलन चलाना चाहिए, संजीव दीक्षित का रा.वि. जी से साक्षात्कार) इसके विपरीत राहुलजी और शिवदान सिंह चौहान जातियों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर हिन्दी प्रदेश के भीतर बोली जाने वाली जनपदीय मातृभाषाओं को केंद्र बनाकर हिन्दी प्रदेश का भाषावार बँटवारे के पक्ष में थे। स्वयं भोजपुरी भाषी इलाके में भोजपुरी का एक रूप नहीं, तीन-तीन रूप-बज्जिका, मल्लिका और शशिका हैं। तब क्या उनके आधार पर भोजपुर क्षेत्र को तोड़कर तीन अलग-अलग राज्य बना दिए जाएँ?

राहुल-शिवदान का पक्ष जातियों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की मार्क्सवादी स्थापना की

भौंडी व्याख्या तो करता ही था, साथ ही वह जातीय निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का अवमूल्यन भी करता था। जब अपने ही प्रदेश-जातीय प्रदेश में हिन्दी विभाजित होगी तो उसे अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा-राष्ट्रभाषा का दजा दिलवाने के आग्रह के पीछे क्या तर्क हो सकता है? और इससे किसकी सेवा होगी? उसका लाभ किसे मिलेगा? इस सन्दर्भ में रामविलास जी द्वारा पूछा गया प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि “अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी आदि बोलियाँ हैं या भाषाएँ, उनके बोलने वाले हिन्दुस्तानी जाति के अन्तर्गत हैं या भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र जातियों के रूप में विकसित होंगे। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इनमें से हरेक के लिए प्रजातंत्र या प्रान्त बनाना चाहिए।” (भारत की भाषा-समस्या, पृष्ठ 80)

इस मामले में डॉ. शर्मा ने विलक्षण दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा, “एक दूसरी समस्या है, जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की। यह अधिकार किन परिस्थितियों में किससे माँगा जाएगा, इसकी तरफ लोग कम ध्यान देते हैं। मिसाल के लिए कश्मीर में आत्मनिर्णय के अधिकार की बात। चाऊ-एन-लाई से लेकर अयूब खॉँ और शेख अब्दुल्ला तक बड़े-बड़े सिद्धान्तकार कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय की बात करते हैं। क्या इस माँग से साम्राज्यवाद कमजोर होगा और क्या भारत की एकता मजबूत होगी? अंग्रेजी ने साम्प्रदायिकता के आधार पर देश का जो बँटवारा किया था, क्या वह खत्म होगा?

“लोग इस बात को भी जानते हैं कि जम्मू और कश्मीर में, पाकिस्तान के अधिकृत प्रदेश समेत, अनेक भाषाएँ बोलने वाली एक से अधिक जातियाँ रहती हैं। कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय का क्या मतलब है? किन जातियों का आत्मनिर्णय? मुसलमानों के लिए आत्मनिर्णय की माँग जातीय आत्मनिर्णय की माँग नहीं बन सकती। अगर जातीय आत्मनिर्णय की बात उठायी जाए तो पाकिस्तान का सारा आधार ही खत्म हो जाए।...

“जाति का आत्मनिर्णय तभी होगा जब जाति एक होगी। जब जाति साम्प्रदायिकता के आधार पर बँटी हुई है तब आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ क्या है?...स्पष्ट है कि इस तरह के आत्मनिर्णय से मजदूर वर्ग की एकता टूटेगी, राष्ट्रीय विघटन और बढ़ेगा, जिसे लाभ होगा, वह कश्मीरी जनता न होगी वरन साम्राज्यवाद होगा।” (स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ 180)

अंग्रेजों ने इसी आत्मनिर्णय के आधार पर साम्प्रदायिक राजनीति को उकसाया था, 1905 में धर्म के आधार पर बंगाल का विभाजन किया। व्यापक जनप्रतिक्रिया हुई। उसे वापस लेना पड़ा। 1905 में अंग्रेज असफल हुए। 1947 में उन्हें सफलता मिली। इस सफलता से किसे फायदा पहुँचा? सम्प्रदायवाद, अलगाववाद, साम्राज्यवाद एवं फूटपरस्तों को। उसकी खेती आज का भारत काट रहा है। इन सबको बढ़ाने में ‘हिन्दी साम्राज्यवाद’, ‘संकीर्णतावादी हिन्दी राष्ट्रवादियों’ ने कितनी मदद की? रामविलास शर्मा ने लिखा है, “1905 से 1965 तक का इतिहास देख जाइए। असम में बंगाली-असमिया दंगे क्यों हुए? बम्बई (आज का मुंबई-जोर मेरा) में गुजराती-महाराष्ट्रीय टक्कर क्यों हुई? मैसूर-महाराष्ट्र का सीमा-विवाद विकराल रूप क्यों धारण करता गया? 1965 के बाद शिवसेना का संगठन कहाँ हुआ? किसके विरुद्ध हुआ? इच्छा हो तो इनके साथ नागा-मिजो-कश्मीर संघर्ष भी जोड़ दीजिए। इस देशव्यापी विघटन से कहीं हिन्दी (‘हिन्दी साम्राज्य’, ‘भाषाओं का कारागार’, ‘हिन्दी सम्प्रदायवादी-राष्ट्रवादी’ भी जोड़ लें—जोर मेरा) का सम्बन्ध दिखायी देता है?” (स्वाधीनता संग्राम...पृष्ठ 173)

मैंने पूर्व में बताया कि जिस प्रकार राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद विरोध से विमुख होकर जातीय अहंकार और अन्धराष्ट्रवादी घृणा में बदल सकता है उसी तरह आत्मनिर्णय का सिद्धान्त अपने

वर्ग विचारधारात्मक जातीय आधार को छोड़कर फासीवाद में विसर्जित हो सकता है। यह व्यक्ति की अच्छी और बुरी नीयत नहीं, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तय करती हैं। ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बुंदलेखंडी, राजस्थानी आदि में जो साहित्य लिखा गया है, उसका महत्त्व प्रश्नातीत है। किन्तु उसके आधार पर जनपदीय भाषावार प्रान्तों के गठन की माँग गलत है क्योंकि उससे जातीय चेतना खंडित होती है। रामविलास जी ने न तो इन बोलियों में रचे गए साहित्य की कभी अवमानना की और न उन्हें हिन्दी का उपजीव्य बनाकर रखने की पैरवी की। उल्टे उनका कहना है कि “यह निर्विवाद सत्य है कि जनपदीय बोलियों से स्वयं हिन्दी को अपने विकास के लिए बहुत बड़ी शक्ति मिलेगी। इस परस्पर सम्बन्ध को समझकर हम हिन्दी और जनपदीय बोलियों के आन्दोलन को एक ही सूत्र में बाँध सकेंगे” रामविलास जी जनपदीय बोलियों के आन्दोलन को हिन्दी से जोड़कर रखना चाहते थे। राहुल-चौहान उसे हिन्दी के समानान्तर चलाना चाहते थे। फूट कौन पैदा कर रहा था? प्रगतिशील आन्दोलन के भीतर और बाहर यह विवाद का जबर्दस्त मुद्दा था, जो सैद्धान्तिक था और पूरी तरह ‘विचारधारात्मक’ भी। अतीत के प्रेत उसे आज व्यक्तिगत राग-द्वेष बता रहे हैं।

हिन्दी-उर्दू विवाद :

उर्दू के बारे में चौहान जी का मत है कि वह मुगल लश्कर-छावनी की भाषा थी। कालान्तर में राजकाज, व्यापार और दैनंदिन व्यवहार के चलते यहाँ की देशी भाषा में अरबी-फारसी-तुर्की के शब्द घुलमिल गए। उनके योग से जो सम्मिलित भाषा का रूप विकसित हुआ वही आगे चलकर उर्दू कहलायी। (पूर्वो, पृष्ठ 281) अब ‘हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं, इस तथ्य को स्वीकार करना हमारे लिए आवश्यक है; क्योंकि वास्तव में, चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय, सत्य नहीं है।’ (साहित्य की समस्याएँ पृष्ठ 297) ये दोनों भाषाएँ अलग-अलग हैं क्योंकि “उर्दू की भावभूमि हिन्दी से सर्वथा भिन्न है। उसकी विचारधारा, दृष्टिकोण, भावधारा मुस्लिम संस्कृति से निरूपित हैं। उर्दू काव्य में इस्लामी पुराण के उपाख्यानों के दृष्टान्त रहते हैं, उनकी अन्वोक्तियाँ, रूपक और उपमाएँ अरबी-फारसी की काव्य-पद्धति से प्रभावित हैं। हिन्दी और उर्दू की शैली में भी मौलिक भेद है जो गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से व्यक्त हैं। विशेषकर उर्दू का पिंगल (अरूज) फारसी से लिए जाने के कारण हिन्दी के पिंगल से बहुत भिन्न है। मसनवी, कसीदा, रुबाई, गजल-सभी फारसी से लिए गए हैं। फारसी ने ये असनाफे सखुन (कविता के रूप-विधान) अरबी से लिए थे। फलतः उर्दू की कविता को उत्कर्ष अवश्य मिला, परन्तु वह हिन्दी की काव्य-परम्परा से सदैव को अलग हो गई।...उत्तरोत्तर हिन्दी उत्तर भारत और मध्य भारत के हिन्दुओं की भाषा बनती जाती है और उर्दू मुसलमानों की। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इस सत्य की प्रियता-अप्रियता उसके अस्तित्व को नकारने का औचित्य नहीं प्रदान सकती।” (पूर्वो, पृष्ठ 302) “जो लोग हिन्दी और उर्दू के पृथक् भाषा अस्तित्व से ही इंकार करते हैं वे लोग कठमुल्ला हिन्दू सभावादियों अथवा मुस्लिम लीगियों के समान हैं—जो हिन्दुस्तान को हिन्दुओं अथवा मुसलमानों का ही देश बताते हैं।...हिन्दी और उर्दू वालों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये दोनों अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाएँ हैं...क्योंकि जनवाद का सिद्धान्त सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (संकेत ‘हिन्दी का साम्राज्य’—जोर मेरा) का उतना ही विरोधी है जितना आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्यवाद का।” (पूर्वोक्त, पृष्ठ 306-7) सचमुच यह सब बहुत ऐतिहासिक है किन्तु उसमें इतिहास कितना है और कल्पना कितनी, उसका विश्लेषण मैं पूर्व में कर चुका हूँ।

चौहान जी की तरह राहुल जी भी हिन्दी-उर्दू को दो भिन्न भाषा मानते थे। उन्होंने दो

कदम आगे बढ़कर हिन्दी का हिन्दुओं और उर्दू को मुसलमानों से जोड़कर हिन्दी-उर्दू भेद को हिन्दू धर्म और इस्लामा का भेद बना दिया है अन्यथा हिन्दू-उर्दू की समस्या को हल करने के लिए धर्म का प्रश्न उठता ही क्यों? दरअसल चौहान जी से पहले सेठ गोविन्ददास, राहुल जी, डॉ. सम्पूर्णानन्द, पुरुषोत्तमदास टंडन आदि हिन्दी-उर्दू की अलग काव्य-परम्परा को स्वीकार कर चुके थे। चौहान जी ने उसी परम्परा का अनुगमन कर किसी मौलिकता का परिचय नहीं दिया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पैतीसवें अधिवेशन में पुरुषोत्तमदास टंडन जी ने कहा “उर्दू कवियों की जो कविताएँ हुईं, वे अरब और ईरान के तहजीब की प्रतीक थीं। उर्दू कविताएँ हमें अपने नगर, अपने देश, गली-कूचों की ओर ले जाने की बजाय, ईरान और अरब के नगर की ओर ले जाती हैं। उसकी सांस्कृतिक परम्परा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो संस्कृति है, उसके विपरीत है।”

“उर्दू कवियों के रूपकों में उर्दू कविता का सांस्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनकी कविताओं में यदि वीर रस की उपमा दी जाती है तो रूस्तम, सोहराब, अफरासियाब को याद किया जाता है, कहीं पर आपको भीम, अर्जुन आदि की उपमा नहीं मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हें अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती हैं। पर्वत की बात होती है तो उन्हें ईरान के पहाड़ों की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नहीं आती। फूलों में उन्हें ‘नर्गिस’ की याद आती है। पक्षियों में उनको बुलबुल दिखायी पड़ती है, अपने देश में जो सुन्दर अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नहीं करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ ‘अश्व’ बन जाएँ।...कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सांस्कृतिक क्रम पृथक्वाद है और उसका परिणाम यह हुआ कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ, वैसे-वैसे सांस्कृतिक पृथक्ता बढ़ती गई। जहाँ-जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ-वहाँ पृथक्वाद का विशेष बल था, जैसे उत्तरप्रदेश और पंजाब में।...” (उद्धृत, रामविलास शर्मा, भाषा, साहित्य और संस्कृति, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ 171)

आप जरा राहुल-चौहान जी से पुरुषोत्तमदास टंडन के विचारों को मिलाकर पढ़ें। स्पष्ट हो जाएगा कि यहाँ वामपंथी अवसरवाद और दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद साथ-साथ चल रहे हैं। विदित हो कि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन साम्प्रदायिक संकीर्णता और दक्षिणपंथी रुझान के कारण कांग्रेस के बाहर-भीतर होते रहे हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग कौमों की भाषा है, यह साम्प्रदायिक हिन्दू और साम्प्रदायिक मुसलमानों की सोच है। हिन्दी का संस्कृतकरण होना चाहिए, अरबी-फारसी के बहुप्रचलित शब्दों को निकाल कर उसका शुद्धिकरण होना चाहिए और उर्दू का फारसीकरण; रामविलास शर्म की सोच इसके ठीक उलट है। इसलिए जो हिन्दी-उर्दू को दो पृथक भाषाएँ मानकर उनका सम्बन्ध हिन्दू-मुसलमान से जोड़ते हैं, राहुल-चौहान जी और पुरुषोत्तमदास टंडन की तरह—वे हिन्दूमहासभाइयों और मुस्लिम लीगियों की गोद में जा बैठे हैं या रामविलास शर्मा? इस सन्दर्भ में रामविलास जी का लेख ‘उर्दू साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा’ (1949) का उल्लेख प्रासंगिक होगा। इस लेख में रामविलास जी ने टंडन जी की आपत्तियों का (और बिना नाम लिए चौहान जी के विचारों का-संकेत मेरा) माकूल जवाब दिया है और हिन्दी-उर्दू की उस सामान्य काव्य-परम्परा की विस्तृत सोदाहरण खोज की है जिसे आगे विकसित किया जा सकता है। उन्होंने जौक, दाग, मोमिन, हाली, गालिब, मीर, नजीर, इकबाल, अकबर इलाहाबादी, जोश, मजाज, अली सरदार जाफरी, मख्दूम और तो और प्रेमचंद की संयुक्त साहित्य-विरासत का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए चौहान, पुरुषोत्तमदास टंडन के अलगाववादी विचारों का सप्रमाण खंडन किया है। अपने एक अन्य लेख ‘हिन्दी साहित्य

सम्मेलन किसकी सेवा करेगा?’ में रामविलास जी ने राहुल सांकृत्यायन, के.एम. मुंशी, गोस्वामी गणेशदत्त, टंडन जी, पं. अमरनाथ झा आदि के विचारों का कच्चा चिट्ठा पेश किया है। उन सबका उल्लेख फिलहाल आवश्यक नहीं है। उन सबका मूल अभिप्राय यह है कि “हिन्दू और उर्दू का मौलिक धरातल एक है। दोनों के अस्सी फीसदी शब्द साधारण बोलचाल के हैं। जब हम हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे की विरोधी भाषा मान लेते हैं तब हम उसकी अस्सी फीसदी समानता पर ही आघात करते हैं। इस विरोध को बढ़ाने का मतलब है, हिन्दी और उर्दू को क्लिष्ट बनाना, ऊपर से उन्हें जनता की भाषा कहना लेकिन वास्तव में उन्हें जनता से दूर ले जाना।” (भाषा-साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 155)

साहित्य का मूल्यांकन : मतभेद एवं असहमतियाँ

लेकिन यहाँ भी प्रदीप जी ने काफी दीदा दिलेरी दिखायी है। वे उपरोक्त सभी मुद्दों पर चुप हैं जिनकी ऊपर मैंने चर्चा की है। उन्हें लगता है कि प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, राहुल, यशपाल तथा एकाध और नाम जो छूट गए हैं, सभी मादाम तुसाद के अजायबघर की मोमी मूर्तियाँ हैं जिन्हें रामविलास शर्मा ने अपनी आलोचना की गर्म सलाख से जहाँ-तहाँ दाग कर पिघलाया और विकृत कर दिया है। अब समय आ गया है कि इन मोमी मूर्तियों में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर इस ईश्वरविहीन दुनिया में उन्हें ईश्वर बनाकर अपने निपट अकेलेपन में पूजा जा सके। यह एक ऐसे ‘विशुद्ध मन’ का ‘मेटोबोलिज्म’ है जो यह मानने के लिए तैयार ही नहीं है कि जिन लोगों ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी को सामन्तों का चारण कवि कहा, उन्हें ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था का प्रचारक बताया तथा छायावाद को “झिल्ली-झिंगुरों की इनकार” कहा, प्रेमचंद को दोगम दर्जे का कथाकार माना, आचार्य शुक्ल को ब्राह्मणवादी सिद्ध करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, उन पर जो आरोप लगाये, आक्रमण किए, उन्हें भी ध्यान से पढ़ना चाहिए। इस मामले में भी प्रदीप जी की स्थिति रूसी नाटककार फौनविसिन के नाटक ‘द ब्रिगेडियर’ के नायक इवानूस्का जैसी है जिनका आदर्श फ्रेंच कल्चर है चाहे उसके प्रतिनिधि दर्जी या नाई ही क्यों न हों।

शिवदान-राहुल सांकृत्यायन-रामविलास विवाद का मैंने पूर्व में उल्लेख किया है। क्या यह सच नहीं है शिवदान जी इस मत के थे और उन्होंने लिखा भी है कि छायावाद ने हिन्दी साहित्य का हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग से ज्यादा अहित किया है। ‘भारत-भारती’ उनकी दृष्टि में हिन्दू फासिस्टों की बाइबिल का दर्जा पाने के योग्य थी। भक्ति साहित्य वैराग्य में और रीति साहित्य व्यभिचार में डूबा हुआ है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा कि उसे ‘डोडो’ और ‘मैमथ’ की तरह अजायबघर के कूड़ेदान में फेंक देना चाहिए। उनके शब्द हैं...वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास ने रघुकुल की प्रशस्तियाँ गायीं और राज्यसत्ता को भारी सहारा दिया।’ इस सूची में उन्होंने चंदवरदायी और भूषण का नाम और जोड़ते हुए लगभग अफसोस की मुद्रा में लिखा है कि ‘सामंती काल में इसके अतिरिक्त और कुछ भी सम्भव नहीं था।’ बिना इस बात की परवाह किए के साहित्य में विचारधारा नहीं भावधारा प्रधान होती है, उन्होंने लिखा ‘हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचारदर्शन को आज नहीं अपना सकते; उसे इतिहास ने ‘मैमथ’ और ‘डोडो’ के समासन अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध, उनके काव्य का जन-सुलभ रूप आदि अनेक तत्त्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।’ जो कवि सामंतों का प्रशस्ति गायक हो उसे निश्चय ही अब तक अजायबघर में पहुँच जाना चाहिए था। फिर भी एक प्रश्न अनुत्तरित है। सूर और

तुलसी सामन्तों के प्रशस्ति गायक होकर भी जनप्रेमी कैसे हो सकते हैं?

मैं दो उद्धरणों को आपके सामने रखूँगा। दोनों उद्धरण 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में हैं। रामगोपाल सिंह चौहान ने रामविलास जी का नाम लिए बिना लिखा "हमारी आलोचना की एकमात्र कसौटी थी—अमुक रचना अथवा अमुक लेखक आँख मूँद कर सौ फीसदी मजदूर वर्ग, खेतिहर मजदूर वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति तथा कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा जनता के अन्य अंगों-निम्न मध्यवर्ग, राष्ट्रपति पूँजीपति तथा अन्य संस्थाओं का सर्वहारा में इनके प्रति घृणोत्पादक ढंग से भंडाफोड़ न करता हो, उनका मखौल न उड़ाता हो, सशस्त्र क्रान्ति का नारा न देता हो, तो वह लेखक और रचना प्रतिक्रियावादी है, दुश्मनपक्षी है।" संकेत स्पष्टतः रामविलास जी की ओर है। अमृतराय का निम्न उद्धरण पढ़ते ही इसमें शक-शुबहे की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' पुस्तक में अमृतराय ने लिखा "सब कम्युनिस्ट लेखक जो कुछ भी लिखें, उसकी एक कटिंग श्री रामविलास शर्मा के पास भेजें जिसका और कोई मकसद समझ में नहीं आता सिवाय इसके कि रामविलास जी को यह डर था कि हम सभी सुधारवाद के रंग में बुरी तरह डूबे हुए हैं, इसलिए हम जो कुछ लिखते हैं उस पर कड़ी निगाह रखना जरूरी है। मैं नहीं जानता कि और भी कहीं ऐसा होता है या नहीं लेकिन इतना जरूर है कि नेतृत्व के काम को अंजाम देने के लिए ऐसा करना जरूरी नहीं है। यकीनी तौर पर यह काम करने का नौकरशाही ढंग था और उसका नतीजा भी वैसा ही बुरा हुआ—लेखकों ने सहानुभूति शून्य आलोचना और सुधारवाद के जुर्म में अनुशासन की कारवाई के डर से लिखना ही बन्द कर दिया।

"...पार्टी के भीतर और प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर जनवाद का नाश हो गया। लोग डरे-सहमे मुँह पर ताला जड़े घूमते थे कि कहीं धोखे से मुँह से ऐसी कोई बात न निकल जाए कि मैं कायर या सुधारवादी या क्रान्ति का दुश्मन न करार दिया जाऊँ।"

इतनी लम्बी कैफियत देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि जो आरोप रामविलास जी पर आज आज लगाए जा रहे हैं, वे पहले भी लगे हैं। रामविलास जी ने उनका सबका उत्तर भी दिया है। दरअसल प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े लेखकों-बुद्धिजीवियों के बीच वैचारिक मतभेद कई मुद्दों पर थे। स्वयं प्रगतिशील लेखक संघ उन मुद्दों को लेकर आपस में विभाजित हो चुका था। उस वैचारिक संघर्ष में रामविलास अकेले थे और उन पर चैतरफा हमले हो रहे थे। शिवदान सिंह चौहान, रामगोपाल चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, यशपाल, गोपालकृष्ण कौल, अमृतराय, राहुल जी सभी एक तरफ थे। बहस के मुद्दे थे : साहित्य का उद्देश्य, प्रगतिशील साहित्य की पहचान, समसामयिक एवं शाश्वत साहित्य, परम्परा का मूल्यांकन, साहित्य और राजनीति, कम्युनिस्ट पार्टी एवं लेखक का सम्बन्ध, साहित्य और जनता, साहित्य और जनसंघर्ष, साहित्य की सौंदर्यबोधी सत्ता और विचारधारा, साहित्य और जनक्रान्ति, लेखक और जनता, संस्कृति और परम्परा, संस्कृति और फासीवाद आदि। ये सभी मुद्दे सैद्धान्तिक हैं।

जब रामविलास शर्मा सैद्धान्तिक मुद्दों पर वैचारिक संघर्ष पर चला रहे थे तब उनके विरोधियों ने उससे बचकर आरोपों की बहती गंगा में हाथ-पाँव ही नहीं धोये, आँख-कान बन्द करके खूब डुबकियाँ भी लगायीं जो प्रगतिशील लेखक-संघ और प्रगतिशील साहित्यलोचन में स्पष्ट गुटबंदी के रूप में सामने आयीं। ये विरोधी 'सत्यकथा लेखक' थे जिन्होंने रामविलास शर्मा के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाया। उन्होंने रामविलास शर्मा को संकीर्णतावादी, कुत्सित समाजशास्त्री तथा चरित्र हनन करने वाला बताया। रांगेय राघव ने लिखा "हमारे साहित्य में द्राष्टकीवाद पूरी तरह उतर आया था। उसका मुख्य श्रेय मैं डॉ. रामविलास शर्मा को देता हूँ।" (उद्धृत,

माक्सवाद और...59) प्रभाकर माचवे रातोंरात नाम बदलकर 'प्रज्ञाचक्षु' बन गए। उन्होंने लिखा, "उन्हें (रामविलास को) गुप्त आदेश मिला है—डैम राहुल" (उप. 63) यशपाल जी ने काफी देर से कहा, 'रामविलास को मेरी आलोचना करने का कोई बहाना चाहिए।' (उप. पृष्ठ 364) रामगोपाल सिंह चौहान ने आत्मज्ञान के पलों में सन् 52 के फरवरी 'हंस' में 'साहित्य की नयी दिशा' लेख लिखा जिसमें रामविलास पर जबर्दस्त हमला है। 'हंस' के मार्च 1951 के अंक में रामगोपाल सिंह चौहान और रांगेय राघव के संवाद के केन्द्र में रामविलास शर्मा हैं। उसी समय 'नयी चेतना' में शिवदान जी और 'नवयुग' में रांगेय राघव का धारावाहिक प्रकाशित होता है। अमृतराय की पुस्तक के केन्द्र में तो खैर रामविलास शर्मा हैं ही। 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' में इन सारे विवादों के समाहार में उन्होंने रामविलास द्वारा सेंसर और लेखकों के मुँह पर ताले की बात जोर देकर कही है। इन सबमें रामविलास जी पर संकीर्णतावादी, ट्राटस्कीपंथी, टीटोवादी होने के जबर्दस्त आरोप हैं। उन सबका माकूल जवाब 'माक्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में संकलित है। यह सब ऐतिहासिक दस्तावेज हैं जिन्हें झुठलाना असम्भव है।

चौहान जी, रांगेय राघव, अमृतराय, यशपाल और राहुल आदि ने सद्यः स्वतन्त्र भारत में कांग्रेस की दमन नीति और उसके जनविरोधी रवैये का पर्दाफाश करने की बजाय रामविलास के विरुद्ध गुटबंदी को प्राथमिकता पर रखा जिसका सीधा मायने था, घृणित दुष्प्रचार। उनकी हालत उस शुतुर्मुख जैसी थी जो हर हालत में समस्या का एक ही निदान जानता था, रेत में गर्दन घुसाकर पड़े रहो यद्यपि पुराने उस्तादों की तुलना में आज उनके दहिनवारों ने यथेष्ट उन्नति कर ली है। उल्लेखनीय है कि विवाद के इन सारे प्रसंगों ने निजी राग-द्वेष का रूप कभी नहीं लिया। विश्वास न हो तो 'अपनी धरती अपने लोग' के दोनों खंडों में रामविलास जी द्वारा जहाँ-तहाँ चौहान जी, रांगेय राघव, यशपाल जी पर लिखे अत्यन्त मार्मिक प्रसंगों को जरूर पढ़ना चाहिए।

सर्वविसर्जन और रामविलास शर्मा की 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' आलोचना-पद्धति से हिन्दी की माक्सवादी आलोचना की छुट्टी के लिए कुछ भूतपूर्व एवं कुछ अभूतपूर्व माक्सवादी बुद्धिजीवियों ने एक बार फिर अपना अलग 'पोलित ब्यूरो' खोल रखा है। पहले उसकी अगुआई अमृतराय, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव आदि ने की थी। आज रामविलास शर्मा की भ्रष्ट पद्धति एवं प्रवृत्ति से मुकाबले से लिए नामवर जी की अगुआई में वागीश शुक्ल, वीर भारत तलवार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रदीप सक्सेना आदि की नयी संयुक्त मोर्चा सरकार ने बड़े-बड़े प्रस्ताव पारित किए हैं। दिल्ली से प्रकाशित त्रैमासिक 'आलोचना' उनके विचारों का साझा मंच है। यानी शेख-बरहमन साथ-साथ। लेकिन जिन मुद्दों पर प्रगतिशील लेखक संघ में रामविलास एवं अन्यो के बीच बहस थी उन्हें वह सामने नहीं लाते। यही हाल अमृतराय आदि का था। रामविलासजी ने साफ तौर पर आलोचना को गलत साबित करना चाहते हैं लेकिन कोई दलील न पाकर वह उस स्तर पर उतर आते हैं जो किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए शर्मनाक है। अगर हम आलोचना के तर्कों का खंडन न करके यह आरोप लगाने लगे कि जो कम्युनिस्ट पार्टी की सारी बातें नहीं मानते उसे तुम प्रतिक्रियावादी कहते हो तो सैद्धान्तिक बहस कैसे चलेगी? (माक्सवाद और...पृष्ठ 63)

रामविलास जी ने आगे लिखा "पंत जी में माक्सवाद और गाँधीवाद के समन्वय का, उनके रहस्यवाद और वर्ग-सहयोग का मैंने खंडन किया है। (मैंने) रांगे राघव के साहित्य में इतिहास की पुनरुत्थानवादी धारणाओं, रहस्यवाद, पराजयवाद, इन्कलाबवाद, कला के प्रति लापरवाही वगैरह का विरोध किया है। मैं अपने इन तमाम लेखों की स्थापनाओं को सही मानता

हूँ और अपने मित्रों से आग्रह करता हूँ कि आप चौहान, रांगेय राघव, राहुलजी आदि की रचनाओं की खुद आलोचना कीजिए जो बातें मुझ से छूट गई हों उन्हें प्रकाश में लाइये और जो बातें मैंने गलत कही हों उनका युक्तिपूर्ण खंडन कीजिए। यह रास्ता प्रगतिशील आलोचना के विकास का रास्ता है और रिमार्क पास करने वाला रास्ता आपके पतन का रास्ता है।” (उपरोक्त, पृष्ठ 64)

अमृतराय और उनकी मंडली के लेखकों की दृष्टि में तो वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी आदि सामन्तों के चाटुकार प्रशस्ति गायक थे ही, स्वयं ‘प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कुत्सित समाजशास्त्र ने प्रभावित रहा है।’ शिवदान जी ने ‘साहित्य में संयुक्त मोर्चा’ लेख में लिखा, “...डॉ. रामविलास शर्मा की सिद्धान्तहीन, रुचिवैचित्र्यवादी और केवल एक निम्न कोटि का आनन्द पाने के लिए चटखरे ले-लेकर पढ़ी जाने योग्य आलोचनाएँ भी ‘हंस’ में प्रकाशित होती रहीं, और इस प्रकार ‘कुत्सित समाजशास्त्रीयता’ का बीज बोया जाता रहा—यद्यपि दूसरी तरफ मैं इस हीन अमावस्यवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध उस समय से ही चेतावनी भी देता रहा।” (साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 186) शिवदान जी ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि इस मामले में ‘हंस’ के सम्पादक की हैसियत से उन्हें जितनी सतर्कता बरतनी चाहिए थी, उतनी वह नहीं बरत सके। यह प्रभाव (कुत्सित समाजशास्त्र का) इतना संक्रामक रहा है कि उसकी चपेट में वाल्मियर, गोर्की और शेली भी कोरा समसामयिक भर बन कर रह गए। ‘साहित्य की परख’ में एक जगह शिवदान जी ने लिखा है, “...रूसो और वाल्मियर ने अथवा आधुनिक काल में ही गोर्की ने फ्रांस और रूस की क्रान्तिकारियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयरलैंड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपवा कर बाँटी, आज उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा है।” ‘क्या साहित्य प्रौपर्गेडा है’ लेख में चौहान जी ने लिखा, “रूसी क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि साहित्य वर्गयुद्ध का एक हथियार है। यह एक गलत नारा था।”

होगा। असली बात यह है कि क्या तात्कालिक प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ की जाती हैं उनका कोई साहित्यिक मूल्य होता है या नहीं? अगर नहीं तो मानना पड़ेगा कि भारतेंदु की बहुत सारी रचनाएँ जो तात्कालिक यथार्थ की चुनौतियों से रू-ब-रू हैं, वे भी निरर्थक हैं। फिर जनान्दोलनों को केंद्र बनाकर नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर और स्वयं रामविलास जी ने जो रचनाएँ की हैं, वे भी अजायबघर में सजने लायक चीजें होंगी। इकबाल, साहिर, फैज, जोश, मजाज आदि शायरों ने राजनीतिक आन्दोलनों को केन्द्र में रखकर जो रचनाएँ कीं, उनका भी कोई साहित्यिक मूल्य नहीं होगा। इंग्लैंड के शेली, बायरन, एडमंड बर्क और क्रामवेल जैसे कवियों ने अपने ही देश की औपनिवेशिक लूट और शोषण को केंद्र बनाकर जो कविताएँ लिखीं उनकी भी साहित्यिक महत्ता संदिग्ध होगी। 1811 में बायरन ने ‘कर्स ऑफ मिनर्वा’ लिखी जिसमें उन्होंने अंग्रेजों को चेताया कि देवी पैलास ने तुम्हें स्वतन्त्रता के अधिकार दिए थे, दूसरों को गुलाम बनाने का अधिकार नहीं। सँभल जाओ। पूरब में गंगा के किनारे खड़े काले लोग तुम्हारे अत्याचारी सभ्यता और साम्राज्य को नष्ट कर देंगे। यह इंग्लैंड की जनता के पक्ष में ही नहीं, आजादी के दीवाने भारत की संघर्षशील जनता की मुक्ति के पक्ष में भी लिखी हुई कविता है। कोलरजि ने ‘फीयर्स ऑफ सॉलीट्यूड’ कविता लिखी। इसमें उन्होंने मिस्र की आजादी का समर्थन किया। उन्होंने 1798 में ‘फ्रांस एन ओड’ लिखा। इसमें उन्होंने फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के उसूलों का न केवल समर्थन किया बल्कि फ्रांस की आजादी को कुचलने वाले ब्रिटिश प्रतिक्रियावादी सामन्तों की करतूतों पर लिखा—“And hung my head and

wept at Britain's Name." 'मैं इंग्लैंड के नाम पर शर्म से सिर झुकाकर आँसू बहाता हूँ।' शैली ने ग्रीक त्रासदी से प्रभावित होकर 'प्रोमैथ्यूस अनबाउंड' लिखा। स्वतन्त्रता का जो अर्थ प्रोमैथ्यूस के लिए था, वही उपनिवेशों की जनता के लिए था। उपनिवेशों का स्वाधीनता संग्राम गुलामी की उन्हीं जंजीरों को खोलने का उपक्रम नहीं था तो और क्या था जिससे स्वयं प्रमथ्यु मुक्त होना चाहता था और जिसके लिए उसने स्वयं मृत्यु का वरण किया था। यह कविता मानवता की मुक्ति और संघर्ष की कविता है। यद्यपि उसका तात्कालिक राजनीतिक सन्दर्भ है। लुई अरागाँ फ्रांस के गुरिल्ला कवि हैं। फ्रांस की जमीन पर फासिस्टों ने जब पैर रखा था, तब उन्होंने उसे केन्द्र बनाकर बेहतरीन कविताएँ लिखी हैं। ब्रेख्त की अधिकांश कविताओं और नाटकों का स्वर तत्कालीन फासिस्टविरोधी राजनीति है। उनका 'अलगाव-प्रभाव' और 'नवरंगमंच' की अवधारणा के मूल में भी राजनीति है। उन सबको उठाकर अजायबघर में पहुँचा देना चाहिए क्योंकि वे तत्कालीन राजनीति से प्रेरित होने के कारण एक खास समय की जरूरतों से बँधे हुए हैं, कहाँ की समझदारी होगी? कुत्सित समाजशास्त्रीय आलोचना के तर्क से ये सारी रचनाएँ कुत्सित राजनीतिक रचनाएँ कही जाएँगी। कुछ लोग जो ज्यादा जानते हैं इंसान को कम पहचानते हैं। इतिहास को तो और भी नहीं। चौहान-रामविलास मतभेद एवं विवाद साहित्य में शाश्वत बनाम समसामयिक के प्रश्न को लेकर था। चौहान जी की दृष्टि में समसामयिक साहित्य का सौन्दर्यमूल्य नगण्य है। रामविलास जी की दृष्टि में शाश्वत सौन्दर्य बोधी साहित्य शासक-वर्ग की सेवा है।

रामविलास शर्मा ने इसे विसर्जनवाद कहा। उन्होंने लिखा, "असली बात यह है कि चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं...चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटाकर शाश्वत तथा अर्द्ध-शाश्वत प्रश्नों की ओर मोड़ा जाए।...मेरे मित्र न तो खुलकर कह सकते हैं कि चौहान ने जो लिखा है, ठीक लिखा है और न मेरे तर्कों का जवाब दे सकते हैं। इसलिए 'कला कला के लिए' की तरह 'विरोध विरोध करने के लिए' के उसूल पर ये सज्जन आलोचना की जगह रिमार्क पास करते हैं, शायद यह समझ कर कि आस्तिक हिन्दू की तरह मैं उन्हें आर्ष वाक्यों को चुपचाप स्वीकार कर लूँगा।" (मार्क्सवाद और...64) इस भाषा में तेजाबी कसैलापन जरूर है, लेकिन उसमें एक सुचिंत्य विचारों की तर्कयोजना भी है।

परिस्थितियाँ कमोबेश आज भी वही हैं। रामविलास जी के आलोचक खुल कर नहीं कहते और अपनी बातों के प्रमाण में तथ्यपरक विश्लेषण नहीं करते कि जिन नुक्तों पर प्रगतिशील लेखका संघ में बहस थी वे नुक्ते क्या थे? उन नुक्तों पर डॉ. शर्मा की स्थापनाएँ क्या हैं? वे सही हैं या गलत? उन स्थापनाओं के समानान्तर जो दूसरी स्थापनाएँ आ रही थीं, वे कितनी तर्कसंगत थीं? 'चलहिं जोंक जल वक्र गति जदपि सलिल समान' की प्रकृति क्यों? दरअसल साहित्य में विसर्जनवाद और संकीर्णतावाद अनैतिहासिक सोच से जन्म लेता है। अपने विरोधियों से इसी मुद्दे पर रामविलासजी का विरोध सबसे प्रबल था। उन्होंने स्वयं लिखा है "विसर्जनवाद साहित्य और राजनीति में एक मध्यमवर्गीय विचारधारा है। इसका सारतत्त्व है, संघर्ष का विसर्जन। यह विसर्जन साम्राज्यवाद, सामन्तवाद के खिलाफ जन-संघर्षों का विसर्जन ही नहीं, यह उनकी समर्थक विचारधाराओं के खिलाफ संघर्ष का विसर्जन भी है। इसका सबसे स्पष्ट और पुराना रूप शिवदान सिंह चौहान में मिलता है जिन्होंने मार्च की "नई चेतना" में अमरीकी जंगबाजों के दलाल अज्ञेय का अभिनन्दन किया है "न पहले कभी और न आज ही मैं मानने के लिए तैयार हूँ कि अज्ञेय एक जनविरोधी लेखक हैं।" (मार्क्सवाद और...पृष्ठ 210)

‘साहित्य और विसर्जनावाद’ लेखक में रामविलासजी ने एक महाझूठ से भी पर्दा उठाया है कि उनके या पार्टी की तरफ से ऐसा कोई फरमान जारी हुआ था कि लेखक अपनी रचना की पड़ताल रामविलास से करा लें। अगर अनुशासन का डर इतना ही कड़ा था और काम करने वाली नौकरशाहियत इतनी नागवार थी कि लेखक लिखना ही बन्द कर दे तो रामविलास जी ने चुनौतिपूर्ण तरीके से लिखा था कि उस निर्देश को सप्रमाण ‘हंस’ में छाप देना चाहिए। उल्टे रामविलासजी ने तो अमृतराय द्वारा उन्हें लिखे तमाम पत्रों के उन अंशों को उद्धृत किया है जिसमें अमृतराय जी ने स्वयं रामविलास जी से सुझाव माँगे थे, ‘हंस’ के लिए लेख भेजने का आग्रह किया था, सहयोग की माँग की थी। न तो रामविलास जी को और न पार्टी को अमृतराय की उतनी जरूरत थी जितनी और जैसी जरूरत अमृतराय जी को दोनों की थी। इन सबका सप्रमाण उल्लेख रामविलास जी ने ‘मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य’ पुस्तक में संकलित प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े विवादों पर लिखे अपने लेखों में किया है। अमृतराय जी के इस कृत्य से रामविलासजी इतने उद्विग्न हुए कि उन्होंने उसी लेख में लिखा “दलीलों के बदले अमृतराय से मैं कीचड़ की उम्मीद तो करता था लेकिन इतने गन्दे कीचड़ की नहीं। इस सिद्धान्तहीन विसर्जनवादी प्रवृत्ति से कोई समझौता नहीं हो सकता। एकता सिद्धान्तों की बुनियाद पर ही हो सकती है।”

झूठ और प्रचार का सहारा यहाँ कौन ले रहा है? अमृतराय जी या रामविलास शर्मा? अगर इस आलोचना में तीन चौथाई डिस्टार्शन है तो सही सन्दर्भों को सामने रखकर उस ‘डिस्टार्शन कला’ का जवाब देना चाहिए? केवल ‘रिमार्क’ पास करने से काम चलने वाला नहीं है। क्या यह भी डिस्टार्शन है कि अमृतराय ने श्री इलाचंद जोशी को ‘मलाहारी यथार्थवादी’ लेखक ठहराया और यशपाल जी के बारे में कहा “उसको ‘धर्मरक्षा’ और ‘प्रतिष्ठा का बोझ’ जैसी घासलेटी, रंडी के दलालों की सी- कहानी लिखते देखकर मन एकदम गुस्से और तकलीफ से भर जाता है।” अगर रामविलासजी ने इसे ‘जलील’ आलोचना कहा तो इसमें डिस्टार्शन कहाँ है? रामविलासजी ने खंडन में लिखा ‘इलाचन्द जी की विचारधारा से मेरा तीव्र मतभेद है लेकिन मैं यह जानता हूँ, उस विचारधारा के असर में बहुत-से साम्राज्यविरोधी लेखक भी हैं। इसलिए शिष्टता के नातेन सही, नीति के लिहाज से भी ऐसे वक्य लिखना प्रगतिशील आलोचना के लिए घातक है।...यह शैली न आवेशपूर्ण है, न हास्यपूर्ण, न ओजपूर्ण है; यह एकदम जलील है। अगर इस सतह पर ‘हंस’ बहस चलाएगा तो उसमें कितने आदमी हिस्सा ले सकेंगे?” आलोचकों को रामविलास जी का ‘किया’ याद आता है किन्तु स्वयं अमृतराय ने सहयात्री लेखकों से जो सलूक किया है, वह उनके ध्यान में नहीं आता। यह देखकर गालिब की पंक्ति याद आती है, ‘हुए तुम दोस्त जिसके दुश्मन उसका आस्मां क्यों हो।’ अगर ‘रामविलास जी में वामपंथी संकीर्णतावादी प्रवृत्ति सबसे अधिक स्पष्ट, प्रबल और मुखर है और उन्होंने इस गलत समझ के वश सबसे अधिक आलोचनात्मक कार्य किया’, अमृतराय (उद्धृत, मार्क्सवाद और...209) तो उसका प्रभाव भी उतना असरकारी नहीं होता। तब उन्हें घेरने के लिए बड़े-बड़े सूरमाओं की भी जरूरत नहीं थी। भर्ती के नए रंगरुटों की तो और भी जरूरत नहीं थी।

अजय तिवारी ने बड़े तार्किक ढंग से शिवदान और रामविलास के बीच सैद्धान्तिक असहमतियों को समझाते हुए लिखा है कि ‘वे (शिवदानजी) भारतेंदु युग के शैशव काल के बाद सारे साहित्य को फासिस्ट करार देते थे। भाकपा के एक नेता...भवानी सेन ने रवीन्द्र गुप्त नाम से लिखा था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों का हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से कोई पार्थक्य नहीं है।...राहुलजी ने वाल्मीकि को शृंग वंश का और कालिदास को गुप्त

सम्राटों का चाटुकार घोषित किया। तुलसीदास तो खैर ब्राह्मणवादी प्रतिक्रियावादी थे ही।' हद तो तब हो गई जब महापंडित राहुल ने अपने एक लेख 'आज की राजनीति' (1950) में लिखा, "इस्लाम ने जो भी कहा, किन्तु मुसलमानों ने अपने आपको देश की धारा अंग का बनाने से सदा इंकार किया।" (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृष्ठ 209)। विडम्बना देखिये, 1947 में राहुलजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने। उन्होंने कांग्रेस के महाप्रतिक्रियावादी गुट पुरुषोत्तमदास टंडन और उनकी मंडली के सहयोग से वह काम कर दिखाया जो हिन्दू महासभाई भी नहीं कर पाये थे। क्या यह सच नहीं है कि इस्लाम के राष्ट्रीयकरण की माँग पर 1947 में ही राहुल जी को कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया था। रामविलासजी ने राहुलजी के बारे में जो लिखा है वह तो आलाचकों के ध्यान में रहता है लेकिन स्वयं राहुल जी ने इस्लाम के विरुद्ध-मुसलमानों के विरुद्ध क्या-क्या लिखा है यह अन्तर्धान बना रहता है। अभय कुमार दुबे ने इन सारे प्रसंगों में अपनी तरफ से एक सुना हुआ जोरदार फिकरा जोड़ा है जो शिवदान जी की आलोचना के बारे में उस समय प्रायः दुहराया जाता था कि अगर उनकी चलती तो वे 16वीं सदी में तुलसीदास को ब्राह्मण-सभा का और कबीरदास को सीपीएम का सेक्रेटरी बना कर दम लेते। (पूर्वोद्धृत)

हिन्दी साहित्य का अदना सा विद्यार्थी भी यह जानता है कि हिन्दी का जन्म ही संघर्ष और प्रतिरोध से हुआ है, और हिन्दी आलोचना का वाद-विवाद और संवाद से। ज्ञान-वृद्ध मित्रों को इतना तो पता ही होगा कि प्रगतिशील आन्दोलन और उसके बाद नयी कविता से लेकर 1970 के दशक तक आधुनिकतावाद को लेकर जो बहस चली उसमें सिर्फ मार्क्सवादियों के बीच चलने वाले बहस ही नहीं, गैर मार्क्सवादियों से मार्क्सवादियों की चलने वाली बहस भी शामिल है। परवर्ती दौर में भी नामवर सिंह, रामविलास शर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल को लेकर चलने वाली साहित्यिक-सैद्धान्तिक बहसों को पढ़कर कौन कह सकता है कि हिन्दी में बहस को अनादर का दर्जा प्राप्त है या उसका आधार निजी रंजिश, निरादर और शत्रुता है? अभी हाल के दस वर्षों से सबसे विचारोत्तेजक बहस की मिसाल है रामस्वरूप चतुर्वेदी को नामवर जी के द्वारा कबीर के मसले पर दिया गया करारा जवाब, 'कबीर को भगवा' और 'कबीर को अगवा।' इस मामले में मार्क्सवादी आलोचक परिमल परिवार के साही, भारती, अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि की तुलना में कहीं अधिक वैचारिक ऊर्जा के धनी थे। एक ओर उनके बीच मुद्दों और सिद्धान्तों को लेकर आपसी मतभेद तो थे ही, दूसरी ओर कलावादियों से उनका मतभेद तो और भी गहरा था। इसी मतभेद से हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना परवान चढ़ी है।

अगर एक पल के लिए यह मान लें कि हिन्दी का विकास संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश की समानंतरता में हुआ, तो भी यह पूरी प्रक्रिया विद्रोह की अवस्थाएँ ही तो हैं। हिन्दी आलोचना उससे अछूती कैसे रह सकती हैं? विकास की इस बारीक प्रक्रिया पर रामविलास जी की टिप्पणी है, 'हमारे साहित्य का विकास हमेशा विचारधारा के संघर्ष द्वारा हुआ है।' (मार्क्सवाद और...58) न तो हिन्दी-साहित्य का और न हिन्दी-आलोचना का विकास 'सूधो पायँ न धरि सकै शोभा ही के भार' के नक्शे-कदम पर हुआ है, इसे स्वीकार करने में नाक नीची नहीं हो जाती।

यशपाल जी और रामविलास शर्मा :

यशपाल जी ने 'गाँधीवाद की शव-परीक्षा' (1941) लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद और उसकी प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस दोनों को भारतीय जनता

का समान रूप से शत्रु बताया। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। दोनों मिलकर जनता का शोषण करते हैं। इसलिए दोनों के खिलाफ एक मुश्त समाजवादी क्रान्ति होनी चाहिए।

यशपाल जी ने लिखा “ब्रिटिश साम्राज्यशाही इस देश की मालिक श्रेणी के हाथ से सब अधिकार छीन कर अकेले यहाँ शासन नहीं कर सकती। इस देश की सम्पत्ति की मालिक श्रेणी के लिए भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नियन्त्रण को सहासा तोड़कर अपना एकछत्र अधिकार कायम कर लेना सम्भव नहीं। इन दोनों ही अवस्थाओं में व्यवस्था को पलट देने वाली क्रान्ति का भय है। इस देश की आम जनता के शोषण करने के अधिकार को यह दोनों ही शक्तियाँ अपने हाथ में रखना चाहती हैं, इसलिए इन दोनों में होड़ और मुकाबिला है। इस मुकाबिले के बावजूद वे एक दूसरे की सहायता से ही अपना अस्तित्व कामय रखे हुए हैं। अकेले दोनों में से कोई भी इस व्यवस्था को कायम रखने में सफल नहीं हो सकता। इनमें से एक हिस्सेदार के मिटने का अर्थ होगा, इस व्यवस्था का अन्त और नयी व्यवस्था का आ जाना। इस नयी व्यवस्था में इस देश की जनता पैदावार के साधनों को अपने हाथ में कर आत्मनिर्णय का अधिकार अपने हाथ में रखेगी आत्मरक्षा और स्वार्थ के विचार से ब्रिटिश साम्राज्यशाही और इस देश की शोषक श्रेणी एक-दूसरे के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए मजबूर हैं। यह दोनों शक्तियाँ अपने स्वार्थों को जिस प्रकार सटा सकें वही वैधानिक आन्दोलन और समझौते का मार्ग है जिसका दरवाजा गाँधीवाद सदा खुला रखता है।” (उद्धृत, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृष्ठ 313)

यही बात दूसरे तरीके से फरवरी 51 के ‘हंस’ में श्री रामगोपाल सिंह चौहान लिख रहे थे, “हम समझते थे कि देश में पूँजीवादी ढाँचा विकास कर रहा है और हम अब सशस्त्र समाजवादी क्रान्ति के दौर में हैं।” रामविलास जी के लेखे समाजवादी क्रान्ति के प्रति इस सर्वविसर्जनवादी दृष्टि का मेल मार्क्सवाद से नहीं, ट्राट्स्कीवाद से बनता था। यानि अपने रूप में अतिशय क्रान्तिकारी, किन्तु अन्तर्वस्तु में उतना ही प्रतिक्रान्तिकारी। (साहित्य में संयुक्त मोर्चे को लेकर भी अमृतराय से रामविलास जी का मतभेद इन्हीं मुद्दों पर था।) इस पुस्तक में यशपाल जी ने गाँधीवाद की तुलना नाजीवाद और फासीवाद से की। उन्होंने लिखा “नयी व्यवस्था (पूँजीवाद की गुलामी का अन्त और समाजवाद की स्थापना-संकेत मेरा) की रोक पर शोषका और मालिक श्रेणी के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न नाजीवाद और फॉसिस्टवाद के रूप में प्रकट हो रहा है। भारतवर्ष में यह प्रयत्न अहिंसा का चोला पहनकर गाँधीवाद के रूप में चल रहा है। गाँधीवाद समाज की जिस व्यवस्था और पद्धति में पैदा हुआ, उसकी रक्षा का प्रयत्न वह कर रहा है। इस व्यवस्था के कारण जिस श्रेणी का पीड़न और शोषण हो रहा है, जो श्रेणी इस व्यवस्था को बदलना चाहती है, उसका गाँधीवाद से सहयोग नहीं हो सकता।” (उद्धृत, उप. पृष्ठ 314)

अगर गाँधीवाद, नाजीवाद और फासीवाद के समतुल्य है तो वह निश्चय ही एक प्रतिक्रान्तिकारी-प्रतिक्रियावादी विचारधारा होगी। दक्षिणपंथी बुर्जुआ प्रतिक्रियावाद और फासिस्ट तानाशाही एक ही चीज नहीं है। दोनों के भेद को बरोज डुनहम ने बारीकी से समझाया है : “बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी वे लोग होते हैं जो एक निश्चित राजनीतिक जनतन्त्र के दायरे के भीतर उसके कायदे-कानून की मदद से अपने आर्थिक विशेषाधिकारों को बनाए रखने के लिए उस राजनीतिक जनतन्त्रा को ही समाप्त कर देते हैं।” (मैन अगेंस्ट मिथ, हिल एंड वांग, न्यूयार्क, 1966, पृष्ठ 22) क्या ऐसी ही भूमिका स्वाधीनता-आन्दोलन के दौरान गाँधीवाद की थी?

यशपाल जी सर्वहारा क्रान्ति की अलग-अलग मंजिलों को नहीं मानते। वह निरपेक्ष तरीके से पूँजीवाद और गाँधीवाद के विरोध में खड़े हैं। देखने-सुनने में यह सब बड़ा मनोहारी, बड़ा क्रान्तिकारी लगता है। वास्तव में यह मजदूर वर्ग को किसानों से ही नहीं बल्कि आम जनता से भी अलग-थलग करता है। गुलाम एवं नवस्वाधीन देशों में पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा साम्राज्यवाद की खुले-छिपे ढंग से तरफदारी करता है। यशपाल जी और उनकी मंडली के लेखकों ने उसे बढ़ा-चढ़ाकर पूरे पूँजीपति वर्ग की औपनिवेशिक सत्ता पर पूरी तरह आश्रित और गाँधीवाद को उसका सहयोगी सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे पर पूँजीवाद के साथ जो अस्थायी तालमेल बन सकता है, उसे भी वे अनदेखा करते हैं। यशपाल जी के विचारों से सहमति और सहानुभूति रखने वाले महानुभावों के पास भी इन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं है कि भारत जैसे देशों में जहाँ सामन्ती अवशेष आज भी गहराई से जड़ें जमाए हुए हैं, जहाँ पूँजीवाद ने सामंतवाद के सफाये का काम पूरा नहीं किया है, वहाँ भावी क्रान्ति का स्वरूप क्या होगा? वह समाजवादी क्रान्ति होगी, सर्वहारा क्रान्ति होगी अथवा जनवादी क्रान्ति? साम्राज्यवाद और उसकी सहायक पूँजीवादी-सामन्ती शक्तियों से निपटने के दाव-पेंच क्या होंगे? यह सब प्रश्न उन्हें आन्दोलित नहीं करते। रामविलास जी के रूप में यशपाल-राहुल-चौहान-रांगेय राघव का एक काल्पनिक शत्रु उनकी आत्मा को घुन की तरह खाये जा रहा है जिसके विरुद्ध उन्होंने कागजी लड़ाई का तीसरा मोर्चा खोल रखा है। यह सारा गोरखधन्धा किसी अँधेरे बन्द कमरे में ऐसी काली बिल्ली की खोज है, जो वस्तुतः वहाँ मौजूद ही नहीं है।

गाँधीवाद को नाजीवाद और फासीवाद से जोड़ना निश्चित रूप से एक गलत राजनीतिक दृष्टि थी। यह रजनी पामदत्त के 'इंडिया टुडे' वाली 1940 की पुरानी समझ थी जिसमें गाँधी जी को पूँजीपति वर्ग का शुभंकर 'मॉस्कोट ऑफ द बुर्जुआजी' तथा क्रान्ति का अपशगुन 'जोनाह ऑफ रेवोल्यूशन' कहा गया था। बावजूद इसके, रजनी पामदत्त ने लिखा, 'गाँधी जी अकेले व्यक्ति थे जो भारतीय जनता के हृदय में जगह बना सके।' इरफान हबीब ने अपने व्याख्यान 'गाँधी और राष्ट्रीय आन्दोलन' में गाँधी जी के चिंतन के साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी प्रबल पक्ष का व्यवस्थित उद्घाटन करते हुए गाँधी के साथ बुर्जुआ शब्द जोड़ने का विरोध किया है और उसके स्थान पर क्लासिकल आधुनिक व्यक्तित्व कहने की सिफारिश की है; क्योंकि 'बुर्जुआ कोई व्यक्तिगत श्रेणी नहीं बल्कि एक सामाजिक, राजनीतिक श्रेणी है। (सोशल साइंटिस्ट, अंक 23, संख्या 4-6, अप्रैल-जून, 1995)।

गाँधीवाद की आलोचना गलत नहीं है। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीवाद दोनों को समान रूप से शत्रु मानकर उनके साथ एक संघर्ष छेड़ देना निश्चय ही एक गलत कदम होगा। रामविलास जी ने इस संकीर्णतावाद का खंडन किया। उनकी दृष्टि में "भारतीय पूँजीवाद के अनेक स्तर थे। उनमें एक स्तर अंग्रेजों के साथ मिलकर व्यवसाय करता था, दूसरा स्वतंत्र ढंग से अपना विकास करना चाहता था। इसलिए जहाँ एक ओर साम्राज्यवाद से उसका अन्तर्विरोध बना हुआ था वहीं दूसरी ओर वह बराबर बढ़ता भी जा रहा था। पूँजीवादी नेतृत्व सुधारवादी था। जनता को नियन्त्रित रखने और जनसंघर्षों को रोकने का वह जितना ही प्रयत्न करता था उतना ही वह संप्रदायवाद के सामने झुकने के लिए विवश भी होता था।"

रामविलास जी का आकलन था, "भारत का पूँजीपति अगर अंग्रेजों से पूरी तरह मिल गया होता, उसका दलाल या माउथपीस बन गया होता तो साम्राज्यवाद से उसका अन्तर्विरोध बढ़ने का प्रश्न ही नहीं था। दलाल पूँजीपति वर्ग में न तो साम्राज्यवादी मालिकों पर दबाव डालने की क्षमता होती है और न जनसंघर्षों को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है। इसके

लिए वह पूरी तरह अपने आकाओं पर ही निर्भर करता है। 45-46 के व्यापक क्रान्तिकारी जनउभार को रोकने में देशी रियासतों के सामन्ती तत्त्व सक्षम न थे। वे पूरी तरह अंग्रेजों पर निर्भर थे। किन्तु गाँधी, नेहरू, पटेल, आजाद आदि नेता उस जन-उभार को प्रभावित करने में सक्षम थे। नाविकों के विद्रोह को रोक कर उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया।

“अगर पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि संगठन कांग्रेस दलाल पूँजीपतियों की संस्था होती तो उसका सामाजिक अस्तित्व भी उन नवाबों और ताल्लुकेदारों जैसा होता जो पूरी तरह ब्रिटिश अनुकम्पा पर निर्भर थे। कांग्रेस ने जो आन्दोलन चलाए उन्हें लोकप्रिय सामाजिक आधार प्राप्त था। इसी आधार के कारण वह जन असंतोष एवं जनक्रोध दोनों को नियन्त्रित एवं अपने तरीके से दिशा देने में समर्थ भी हुआ। जिस हद तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद जनता के अनेक स्तरों की तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग को दबाता था उस हद तक साम्राज्यवाद से उसका अन्तर्विरोध बरकरार था और आज भी बना हुआ है।”

दरअसल साम्राज्यवाद से भारतीय पूँजीवाद के अन्तर्विरोध का सवाल भारत में वाम राजनीति के भविष्य और उसके व्यावहारिक क्रियान्वयन के सवाल से जुड़ा हुआ था। यानि बहस के जो नुक्ते सैद्धान्तिक समझ पर आधारित थे उन्हें ‘डिस्टार्शन’ मान कर ‘घोर आत्मपरक’ बताना दूसरी तरह का दुराग्रह और आत्मपरकता है।

यशपाल के चिन्तन की कमजोरियाँ मुख्यतः कम्युनिस्ट आन्दोलन के चिन्तन की अपरिपक्ववावस्था की ही कमजोरियाँ थी। ‘प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन, मार्क्सवाद और मेरी किताबें’ लेख में रामविलास जी ने उसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है, “1926 से लेकर (जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ) 1934 तक यहाँ मार्क्सवादियों की मुख्य विचारधारा सर्वहारा क्रान्ति को लक्ष्य रूप में मानने वाली रही। यानि हम साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को एक साथ परास्त करेंगे—यह धारणा यहाँ प्रचलित थी। इस धारणा के अनुरूप वे मानते थे कि भारत में पूँजीपति वर्ग की कोई प्रगतिशील भूमिका नहीं है, इस वर्ग की सीमित प्रगतिशील भूमिका भी नहीं है, अभी मार्क्सवाद का प्रसार नहीं हुआ है, इसलिए मार्क्सवादी लेखन ही नहीं सकता। इसलिए जितने भी गैरमार्क्सवादी लेखक हैं, वे या तो घोर प्रतिक्रियावादी हैं (इनमें वे छायावादियों को सबसे आगे रखते थे), या अर्द्धप्रतिक्रियावादी हैं—सुधारवादी हैं। भारतीय क्रान्ति के लिए या भारतीय प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं है। मार्क्सवादियों द्वारा लिखे गए ऐसे लेख प्रकाशित हुए। जिसमें कहा गया कि प्रेमचंद विश्वसाहित्य के बड़े और अग्रणी लेखकों से बहुत दूर हैं, विश्वसाहित्य में इनका कोई स्थान नहीं है, भारतीय साहित्यमें इनका कोई स्थान नहीं है।” (मार्क्सवाद और...पृष्ठ 322)

यह एक किस्म का सर्वहारावाद था जो संभवतः रूसी क्रान्ति से उत्पन्न भविष्योन्मुखी आशावादी दृष्टि के अतिरेक से उपजा था। उसकी त्रुटियाँ और सीमाएँ 1936 के प्रगतिशील आन्दोलन के घोषणापत्र में अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हुई हैं। भारतीय समाज में होने वाले जिन बड़े-बड़े क्रान्तिकारों परिवर्तनों का उसमें संकेत किया गया है, तथ्य-विरुद्ध होने के कारण वे मनोगत एवं अतिरंजित हैं। उस समय तक के पूरे भारतीय साहित्य को रूप और अर्थ में निष्प्राण और निस्तेज, पलायनवादी तथा जीवन की यथार्थताओं से भागकर भक्ति, वैराग्य और उपासना की शरण में जा छिने वाला भावुक बताकर विचार और बुद्धि का तिरस्कार करने वाला, हमारे साहित्य का सबसे लज्जास्पद काल कहना सम्पूर्ण परम्परा के प्रति उसके निषेधात्मक दृष्टिकोण को सूचित करता है। इस लज्जास्पद काल में भक्ति साहित्य शामिल है, रीति साहित्य अन्तर्धान है। आश्चर्यजनक रूप से प्रगतिशीलों की यह उच्छेदवादी दृष्टि डेढ़ दशक तक बनी

रही। 1953 के प्रगतिशील लेखक संघ के दिल्ली अधिवेशन के घोषणापत्र में कहा गया “जीवन उद्देश्य का अभाव, निराशावाद, छायावाद और भाग्यवाद हमारे सांस्कृतिक विकास में बाधक हैं। हम जासूसी, हत्या, छायावाद और अश्लीलता के साहित्य का विरोध करते हैं।” (रेखा अवस्थी, प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य, पृष्ठ 326)

यहाँ छायावाद न केवल सांस्कृतिक विकास में बाधक है बल्कि वह जासूसी, हत्या और अश्लीलता के साहित्य से होड़ भी ले रहा है। यह समझ उस समय कम्युनिस्ट पार्टी की थी, प्रगतिशील लेखक संघ की थी, चौहान जी और उनके समानाधर्मी चिन्तकों की थी। चौहान जी, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, यशपाल और राहुल जी आदि ने प्राचीन साहित्य के बारे में खास कर भक्ति साहित्य और छायावाद के बारे में जो तिरस्कारपूर्ण लेखन किया है, वह इसी प्रभाव में लिखा गया है, और ‘गाँधीवाद की शवपरीक्षा’ भी है। रामविलास जी ने इसे संकीर्णतावाद और विजर्सनवाद कहा।

दिसम्बर 1948 के अन्तिम सप्ताह में पार्टी लेखकों की बैठक लखनऊ में हुई। उसमें यशपाल जी, अमृतराय, शिवदान जी, नागार्जुन आदि कुल मिलाकर 18 लेखकों ने भाग लिया। इस बैठक के प्रतिवेदन से पता चलता है कि रामविलास जी के अलावा दूसरे लेखक भी यशपाल जी के उपन्यासों में अश्लीलता को लेकर आशंकित थे। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने अपनी आशंका व्यक्त करते हुए कहा, “अश्लील चित्रण की प्रवृत्तियों से लोगों को प्रगतिशील लेखक आन्दोलन का विरोध करने के लिए अस्त्र मिल जाता है, ऐसी प्रवृत्तियों को समाप्त करना चाहिए। एहतेशाम हुसैन ने यह समस्या पेश की कि जो लेखक 25 फीसदी प्रगतिशील हैं और 75 फीसदी अश्लीलतापंथी हैं, उन्हें हम कहाँ तक अपने साथ लायें।...तय हुआ कि यशपाल की मार्क्सवाद पुस्तक और यौन-सम्बन्धों के अश्लील चित्रण पर रिपोर्ट विचार-विमर्श के लिए घुमाई जाएँ।” (मार्क्सवाद और...364-65) इसी बैठक में रामविलास जी ने श्री अमृतराय की साहित्यिक आलोचना में सुधारवादी दृष्टिकोण पर अपनी रपट प्रस्तुत की जिसे श्री अमृतराय ने गलतियाँ मानकर स्वीकारा और रिपोर्ट के सहानुभूतिपूर्ण स्वर को सराहा (appreciated the sympathetic tone of the report) और कहा कि जो ‘शक-सुबहे बहुत दिनों से उन्हें परेशान कर रहे थे, वे दूर हो गए हैं।’ (उप. 366)

रामविलास जी ने यशपाल की आलोचना अश्लीलता के कारण नहीं, वरन उनके औपन्यासिक पात्रों के कमजोर अनैतिक आचरण के लिए की है। यही आचरण ‘पार्टी कामरेड’, ‘मनुष्य के रूप’, ‘देशद्रोही’ और ‘दादा कामरेड’ में भी प्रकट हुआ है। यशपाल जी ने मार्क्सवाद से पानी के गिलास का सिद्धान्त उसी तरह खोज निकाला जैसे कि राहुल-चौहान ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को ढूँढ निकाला था। लेनिन ने पानी के गिलास वाले सिद्धान्त—साफ गिलास से साफ पानी और स्वस्थ नारी से यौन-सम्बन्ध को सड़ियल पूँजीवादी सिद्धान्त बताकर खारिज किया था। क्लारा जेटकिन से बातचीत में लेनिन ने स्वच्छ जल वाले सिद्धान्त को ‘पूँजीवादी चकलों का प्रसार’ कहा था। उनका विचार था कि “यह पानी के गिलास का सिद्धान्त पूरी तरह गैरमार्क्सवादी है और इसके अलावा समाजविरोधी भी है।” लेनिन ने उसे समाजविरोधी क्यों कहा? उन्होंने समझाया, “पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिंदगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नयी जिन्दगी पैदा होती है। इससे उनमें सामाजिकता का सवाल उठता है जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है। एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के गिलास के सिद्धान्त से जरा भी सहानुभूति नहीं है यद्यपि उस पर प्रेम की तृप्ति का सुंदर लेबल लगा हुआ है। (उद्धृत, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृष्ठ 246-7)

लेनिन को अगर उससे कोई सहानुभूति नहीं थी तो इसलिए कि उसमें दायित्वबोध का अभाव है। हद तो तब हो गई जब यशपाल जी ने उसे उलट कर समाजवादी समाज में बंधनहीन उन्मुक्त प्रेम के कबीलाई सिद्धान्त में बदल दिया। रामविलास जी ने उसकी सतर्क आलोचना की। इसी आधार पर उन्होंने जैनेन्द्र कुमार के 'चोली-जंफर उतारवाद' और 'भाभीवाद' की आलोचना की थी। अज्ञेय के शेखर की आलोचना उसके घोर व्यक्तिवाद के लिए की। रांगेय राघव की आलोचना उनकी इतिहास की पुनरुत्थानवादी धारणा के लिए की। वे सारे लेख, विवाद और बहसों 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में संकलित हैं। कुछ 'विराम चिह्न' में हैं। उनका सबका सप्रमाण सत्यापन किया जा सकता है।

रामविलास जी पर अक्सर दोहराया जाने वाला एक आरोप यह है कि उन्होंने दोहरे मानदण्ड अपनाये, खासकर यशपाल जी के मूल्यांकन को लेकर। वाल्मीकि के 'आदिकाव्य' के बारे में जो रामविलास जी कहते हैं उसे यशपाल के प्रसंग में भूल जाते हैं। यह आरोप प्रदीप जी का भी है। उनका कहना है कि रामायण में जिस पार्थिव सौंदर्य, शृंगार एवं विलासिता में रामविलास जी सत्य और कला के सहज दर्शन करते हैं वहीं यशपाल-जोशी आदि के शृंगार चित्रण को साड़ी-जम्फर उतारवाद से जोड़कर दोहरे मानदण्ड अपनाते हैं।

यह तर्क सही नहीं है। इस तर्क में देशकालगत भिन्नता की उपेक्षा तो हुई ही है, दो अलग ऐतिहासिक कालखंडों की भिन्न सामाजिक नैतिकता, आचार-पद्धति एवं मूल्य-प्रणाली से अनभिज्ञता भी प्रकट होती है। 'रामायण' की रचना का काल क्या है? ईसा पूर्व तीसरी सदी। समाज-व्यवस्था कैसी थी? सामन्तवाद उदित हो रहा था। लेकिन कबीलाई अवशेष बने हुए थे। डॉ. रामशरण शर्मा ने 'पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश' में अपनी पुत्री के प्रति प्रजापति की अनुरक्ति के पौराणिक सन्दर्भों का उल्लेख किया है। उन्होंने पूषण नामक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया है जिसने अपनी माता से प्रणय-याचना की थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक प्राचीन गाथा से पता चलता है कि पुत्र प्राप्ति के लिए अपनी माता एवं बहन से भी पत्नी की भाँति संगम करते थे। (पृष्ठ 16) मनु के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्हें ब्रह्मा ने अपनी पुत्री शतरूपा के गर्भ से पैदा किया था। 'महाभारत' के आदि पर्व में स्वच्छंद काम-सम्बन्ध के सिलसिले में उद्दालक और श्वेतकेतु की कथा मिलती है। रामशरण शर्मा का कहना है कि यह सम्भवतः 'समाज की उस अवस्था की ओर संकेत है...जिसमें पिता-पुत्री, भाई-बहन, माता-पिता के बीच अभी यौन-वर्जन शुरू नहीं हुआ था' (पृष्ठ 17) और विवाह एक सामाजिक संस्था के रूप में अस्तित्व में नहीं आया था। क्या आज इन सबको स्वीकार किया जा सकता है? इसलिए इतिहास के एक कालखंड में जो सहज और स्वाभाविक है वह दूसरे में असहज एवं अस्वाभाविक हो, यह विकास का द्वन्द्ववाद है। कालिदास को लें। समय तीसरी-चौथी सदी। कालिदास में शृंगार का उद्दाम चित्रण है जो दरबारी वातावरण के विशिष्ट मनोविज्ञान के अनुकूल है, साथ ही उस नैतिकता के भी जो कालप्रसूत है। वाल्मीकि और कालिदास से लेकर आज तक बारह-पन्द्रह सौ सालों में हमारे सौन्दर्यबोध और मूल्य-प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। इसलिए जो वाल्मीकि और कालिदास के यहाँ सहज मानवीय प्रतीत होता है, आज के एक भिन्न सन्दर्भ में उसकी नकल पतनशील और फूहड़ भी कहा जाएगा। हुसैन के सरस्वती के न्यूड को अश्लील कहा गया या नहीं? अतः सवाल दुहरे मानदंड का नहीं, इतिहास-विवेक का है। कुछ लोग बेपर्द यौन-चित्रण को ही मार्क्सवाद समझते हैं, और उसे ही अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समझते हैं। रामविलास जी ने यशपाल जी से अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को स्पष्ट करने के बाद उनके उपन्यास 'झूठा-सच' की प्रशंसा भी अपने

लेख 'यशपाल जी और अश्लीलता' में की है। इस आलोचना-प्रशंसा को व्यक्तिगत राग-द्वेष से जोड़ना अब्बल दर्जे की बौद्धिक काहिली तो है ही, वह ठग-विद्या भी है।

मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा :

रही बात मुक्तिबोध की। मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष एवं उनके व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों को समझने का जितना विश्वसनीय विश्लेषण रामविलास जी ने किया है, हिन्दी के किसी अन्य आलोचक ने नहीं किया। उनके शब्द हैं, "उनका (मुक्तिबोध का) आत्मसंघर्ष औरों से विकट था। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष एक विभाजित व्यक्तित्व का आन्तरिक संघर्ष था। यह संघर्ष अनेक स्तरों पर अनेक परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं, आवेगों और आस्थाओं के बीच था। मुक्तिबोध अपने जीवन में बहुत ही विनम्र, निःस्वार्थ और परदुःखकातर थे। साथ ही अहंकर की मात्रा उनमें निराला से कुछ ही कम थी। वह जानते थे कि समाज में आमूल परिवर्तन किए बिना उनके और दूसरों के व्यक्तित्व की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। वह सामाजिक परिवर्तन के तौर-तरीके पहचानते थे किन्तु उनमें कभी-कभी नजरूल इस्लाम के अतिमानववादी या अराजकतावादी स्वर भी मुखर हो उठते थे। वह समाज-व्यवस्था से विद्रोह करने के साथ अपने से भी विद्रोह कर उठे थे। उनमें जितना आत्मविश्वास था, उतना ही पराजय का भय भी। वह जीवन के उल्लास से आकृष्ट थे और मृत्यु की विभीषिका से भी। वह उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ के संगठनकर्ता थे और अन्तर्मन की गुहा में निर्वासित एकाकी कवि भी। वह मित्रों के सुख-दुःख का बहुत ख्याल रखते थे। और 'तार सप्तक' के कवियों में अकेलेपन का भाव उनमें सबसे तीव्र था। वह परिवार से टूटे हुए और उससे अटूट रूप से जुड़े हुए थे। ज्ञान की जैसी चाह थी, वैसी ही प्रबल आकांक्षा साहित्य रचने की थी।" (नयी कविता और अस्तित्ववाद, प्र.सं. पृष्ठ 22-23)

डॉ. रामविलास शर्मा स्वयं 'तार सप्तक' के कवि हैं। उन्होंने किसी अन्य कवि का नाम नहीं लिया। 'तार सप्तक' के युगान्तरकारी ऐतिहासिक महत्त्व को उन्होंने सिर्फ और सिर्फ उसमें छपी मुक्तिबोध की कविताओं के कारण बताया। (पूर्वो, पृष्ठ 24) सम्भवतः अपनी अनुदारता में ही उन्होंने मुक्तिबोध की प्रशंसा में निम्न वाक्य लिखे हों : "मुक्तिबोध तथा अन्य प्रगतिवादियों में अन्तर यह था कि उनके लिए मार्क्सवाद एक ऐसी विचारधारा न थी जिसे वह आसानी से स्वीकार कर लेते और असुविधा होने पर उतार कर फेंक देते। उनके लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। वह कविता के लिए जीते थे और उनकी कविता की एक बुनियादी समस्या मार्क्सवाद से उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध की थी। वह केवल प्रगतिशील लेखक नहीं थे, राजनीतिक रूप से कम्युनिस्ट भी थे।" (पूर्वो, पृष्ठ 154) 'तार-सप्तक' के कवि भारत भूषण अग्रवाल भी थे। अपने 'वक्तव्य' में उन्होंने मार्क्सवाद को समाज के लिए रामबाण और स्वयं को कम्युनिस्ट कहा। 'सप्तक' के दूसरे संस्करण में उन्होंने कहा, आज कम्युनिस्ट नहीं हूँ। यही नहीं, अब तो लगता है जब कहता था तब भी नहीं था।' मुक्तिबोध को मार्क्सवाद के रास्ते पर लाने और उन्हें कम्युनिस्ट बनाने वाले नेमिचंद जैन थे लेकिन स्वयं नेमि जी की परिणति मार्क्सवाद के घोर विरोधी में हुई।

रामविलास जी ने मुक्तिबोध के बारे में लिखा "मुक्तिबोध का उपचेतन जब समाज के उपचेतन से भिन्न नहीं है, तब वहाँ जो रत्न प्राप्त होते हैं, वे अपनी तुष्टि के लिए ही नहीं, लोकहित के लिए भी हैं।...मुक्तिबोध का आत्मसंवेदन समाज के व्यापकतर स्तर को छूता है।" (पूर्वो, पृष्ठ 125) "मुक्तिबोध साहित्य और राजनीति की प्रगतिशील परम्परा के प्रति अत्यन्त

जागरूक रहने वाले कवि थे।” (पूर्वोक्त, पृष्ठ 129) “दुख और वेदना पर पिछले बीस साल में हिन्दी कवियों ने बहुत लिखा है किन्तु वे या तो कल्पना की गिरह लगाते हैं या भावुकता के फेन पर उतराते हैं। उनकी अनुभूति चाहे जितनी सच्ची हो, उनके लिखने में वह गहराई नहीं है, जो मुक्तिबोध की कविता में है।” (पूर्वो, पृष्ठ 137) ‘एक और मन रहा राम का जो न था’—‘यह मन निराला के पास था, मुक्तिबोध के पास भी।’ उनकी वेदना के स्रोत बहुत गहरे हैं।’ (पूर्वो, पृष्ठ 138) ‘इसलिए भी उनकी (मुक्तिबोध की) कविता में सीखने और समझने के लिए बहुत कुछ है—खासतौर से कवियों के लिए।’ (पूर्वो पृष्ठ 137-9) यह सब लिखा है, रामविलास जी ने मुक्तिबोध के बारे में। एतदर्थ, इतनी लम्बी कैफियत देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि मुक्तिबोध पर रामविलास जी की स्थापनाओं को लेकर प्रबुद्ध आलोचकों ने टनों कागज पर दर्जनों बोतल स्याही फेरी हैं। लेकिन उनके पंचाट से उपरोक्त स्थापनाएँ अन्तर्धान हैं। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि मुक्तिबोध की रचनात्मक ईमानदारी को जितनी निर्मम तटस्थता और बंकिम सहृदयता से रामविलास जी ने विश्लेषित किया है, उसके शतांश का परिचय भी मुक्तिबोध के आलिम फाजिल प्रशंसकों ने रामविलास को पढ़ते हुए नहीं दिया है।

हिन्दी आलोचना में अखंड आत्मविश्वासी लहना सिंह की कमी नहीं है। किन्तु हिन्दी के किसी भी गम्भीर आलोचक ने जो रामविलास शर्मा को हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का कुलपति स्वीकार नहीं करते, ऐसे बेबुनियाद आरोप नहीं लगाए। ऐसा दुस्साहस तो अकेले प्रदीप सक्सेना ही कर सकते हैं। ‘लीक छोड़ तीनों चले, शायर-सिंह-सपूत!’

हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा

उनका यही व्यवहार आचार्य द्विवेदी के प्रति भी है। आप द्विवेदी जी की आलोचना पढ़ लेते हैं। वह तो याद रहती है। लेकिन रामविलास जी ने द्विवेदी जी की आलोचना में जो सैकड़ों पृष्ठ लिखे हैं, उन पर ये चार वाक्य भारी पड़ेंगे “मैं अकेला आलोचक नहीं हूँ बल्कि बहुत से आलोचकों को जानता हूँ जो अच्छा लिखते हैं। उनसे मतभेद हो सकता है, लेकिन वह अच्छे आलोचक हैं। हिन्दी में हजारी प्रसाद द्विवेदी रहे हैं, रामचन्द्र शुक्ल रहे हैं, अजय तिवारी हैं। इस समय नामवर सिंह हैं...इन सबको हम नकार नहीं सकते। ये अलग बात है कि हमेशा ही कुछ गिने-चुने नाम ही होते हैं।” (आज के सवाल और मार्क्सवाद, पृष्ठ 309) इसके बाद उन्होंने शेक्सपीयर और बर्नाड शॉ का उदाहरण देते हुए समझाया कि ‘हर युग में बड़े-बड़े लेखक पैदा हों, ऐसा किसी देश में नहीं होता।’ शायद चिढ़ में ही उन्होंने द्विवेदी जी को याद करते हुए शेक्सपीयर और शॉ को याद किया हो और उन्हें बड़ा लेखक माना!

निस्संदेह आचार्य द्विवेदी निरपेक्ष नहीं थे, किन्तु उनके चिन्तन की कुछ स्पष्ट असंगतियाँ हैं जिन्हें डॉ. कृष्णदत्त शर्मा ने अपनी पुस्तिका ‘डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना के हक में’ में बड़े तार्किक ढंग से समझाया है। यहाँ भी मामला सैद्धान्तिक ही है। उसका सम्बन्ध अगड़ों-पिछड़ों की वर्तमान राजनीतिक से, आरक्षण की नीति से है। ‘तुलसीदास ब्राह्मणवादी, वर्णाश्रम धर्म के समर्थक, शुक्ल जी उनके समर्थक, वह भी ब्राह्मणवादी हुए।’ अब अगर कबीर वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे और तुलसीदास समर्थक—तो इस दृष्टि से कबीर प्रगतिशील हुए और तुलसीदास प्रतिक्रियावादी। इसी तर्क से हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिशील हुए और रामचन्द्र शुक्ल प्रतिक्रियावादी। इस तर्क के राजनीतिक निहितार्थ हैं। रामविलास जी ने पूछा, एक ओर द्विज और शूद्र हैं, दूसरी ओर भूस्वामी वर्ग और शेष जनता है—इनमें मुख्य अन्तर्विरोध कौन-सा है? अब अगर आप भक्ति-आन्दोलन को अपने समय के राजनीतिक-आर्थिक अन्तर्विरोधों की

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति मानते हैं तो एक ओर परजीवी सामन्तों की दरबारी संस्कृति है, दूसरी ओर किसानों-कारीगरों-दस्तकारों की श्रम-संस्कृति है। इन दोनों में अन्तर्विरोध महत्त्वपूर्ण है या सगुण और निर्गुण का अन्तर्विरोध महत्त्वपूर्ण है? अब गर पूरे मध्यकाल में सामाजिक स्तर पर मुख्य अन्तर्विरोध सामन्तों और मुख्य उत्पादक वर्गों—किसानों, कारीगरों के बीच है तो उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति दरबारी बनाम लोक संस्कृति के बीच होगी या सगुण तुलसी बनाम निर्गुण कबीर के बीच? दूसरे शब्दों में, भक्तिकाल का मूल्यांकन करने वाले शुक्ल जी और द्विवेदी जी के मतभेद अधिक महत्त्वपूर्ण होंगे या स्वयं भक्तिकाल के सामाजिक अन्तर्विरोध? इन प्रश्नों के उत्तर 'केवल पुराने साहित्य को समझने के लिए आवश्यक नहीं है, वर्तमान राजनीति को समझने के लिए भी आवश्यक है।' अगर वर्ण विघटित होगा तो उसका स्थान वर्ग लेगा। लेकिन आज के पूँजीवादी नेताओं और सामाजिक न्याय वालों के लिए 'वर्तमान भारत में वर्गभेद जरूरी है। सामाजिक न्याय और आरक्षण वाले इसी में दलितों की मुक्ति समझते हैं। ऐसे में अगर हर वर्ण दलितों का विरोधी प्रतीत हो, तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है? लेकिन है यह पूँजीवादी संसदीय राजनीतिक अवसरवाद ही जिसका शिकार अक्सर मार्क्सवादी भी होते देखे गए हैं। वर्ण और वर्ग दो शब्द हैं। 'किसी शब्द का मूल्य जितनी उसकी उपयोगिता से आँका जाता है उतनी उसकी उत्पत्ति से नहीं।' मुक्तिबोध ने भक्ति-आन्दोलन की जो व्याख्या की है उसकी कमजोरी ही यह है कि उन्होंने अनुत्पादक परजीवी वर्ग के अन्तर्विरोधों को देखने के बजाए भक्ति-आन्दोलन में सगुण मत को निर्गुण मत के विरुद्ध वर्चस्वशाली वर्ग की विचारधारात्मक प्रतिक्रिया और उसकी विजय के रूप में देखा, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे शास्त्र बनाम लोक की पहचान दी और उनके सुयोग्य शिष्य ने उसे 'दूसरी परम्परा की खोज' कहा। यही हाल शिवकुमार मिश्र जी और मैनेजर पांडे का है, 'लोकवादी तुलसीदास' में विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी का है। इन सब विवादों में एकेडमिक प्रवृत्ति मौजूद है। उससे अलग हट कर रामविलास जी ने कबीर और तुलसी को परस्पर विरोधी खेमे में बाँट कर देखने की एकेडमिक प्रवृत्ति का विरोध किया और ठोस प्रमाणों के आधार पर यह दिखाया कि कबीर जितने निर्गुण थे उतने ही सगुण और तुलसी जितने ही सगुण थे उतने ही निर्गुण। दोनों एक ही काम कर रहे थे, एक वर्ग के रूप में पंडित-मुल्ला-सामंत की परजीविता का विरोध और उत्पादक वर्गों की पक्षधरता। तर्क-पद्धति, दार्शनिक ज्ञान और आत्मविह्वल भावबोध के स्तर पर जैसी समानता कबीर और तुलसी में है वैसा न तो कबीर और अन्य निर्गुण पंथियों में है, न तुलसी और अन्य सगुण पंथियों में। यह सब आप 'हिन्दी जाति का साहित्य' में पढ़ सकते हैं।

लेकिन बहस का जाड़ा बुखार इतना संक्रामक है कि हर कोई कापका का 'नेगेटिव हीरो' प्रतीत होता है। 'इब्ने मरियम हुआ करे कोई, मेरे दुःख की दवा करे कोई'। विरोधी तो विरोधी, अपनों से भी इतनी बेवफाई! यानी घोर कलियुग!! 'कलियुग सम जुग आन नहिं, जो नर कर बिस्वास।' किसका विश्वास करें? किसकी शरण में जाएँ? ले-देकर रह गए 'लहरों से फेंकी एक मणि' की तरह अपनी निर्जन एकांतिकता से बहस करते प्रदीप जी। दरअसल चेतना का प्रवाह इतना जबर्दस्त है कि वह उन्हें देखने ही नहीं देता कि 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आचार्य द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि आर्य नस्लवाद के खतरनाक सिद्धान्त से ग्रस्त है। इस बात को नामवर जी ने भी स्वीकार किया है।

'लोक जागरण और हिन्दी साहित्य' की 'भूमिका' में रामविलास जी ने आचार्य द्विवेदी के ज्ञान के स्रोतों का जबर्दस्त विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि शुक्लजी से मतभेद रखने वाले द्विवेदी जी पग-पग पर उन्हीं पर निर्भर हैं। न केवल विचार बल्कि शब्दावली भी

शुक्ल जी के ही हैं। वृहत विश्लेषण और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर उन्होंने लिखा—“द्विवेदी जी के समस्त आलोचना-साहित्य में उनका मौलिक लेखन कितना है, उसका पता लगाना आसान नहीं है। चाहे वृत्तसंग्रह का काम हो, चाहे प्रवृत्तियों का विश्लेषण, वह अधिकतर दूसरों पर निर्भर दिखायी देते हैं।...किन्तु शुक्लजी के साथ उन्होंने जैसा व्यवहार किया है, वैसा अन्य किसी के साथ नहीं किया। शुक्लजी की सामग्री जितनी ही दोनों हाथ बटोर कर अपनी पुस्तकों में स्थानान्तरित करते हैं, उतना ही शुक्लजी के विरुद्ध—नाम लेकर कम, नाम लिए बिना ज्यादा-हल्ला मचाते हैं।...द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की स्थापनाओं को ही नहीं दोहराया, कभी-कभी उनके वाक्यों को भी दोहराया है।...शुक्लजी की धारणाओं को दोहराने में कोई नुकसान नहीं है लेकिन उनका ऋण तो स्वीकार करना चाहिए, खास तौर से जब सामग्री के अलावा वाक्य भी शुक्लजी के वाक्यों से मिलते-जुलते हों।” यह दुस्साहस नहीं है। यह अस्वीकार का साहस दिखाने वाले कबीर के सबसे बड़े और समर्थ आलोचक में स्वयं स्वीकार के साहस की कमी की ओर इंगित करता है। इस ‘भरती के माल पर’ फतवा जारी करना हो तो ‘बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल’ और जब तथ्यों का विश्लेषण करना हो तब ‘शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक’ धरा रह जाता है। यह वामपंथी अवसरवाद है। यानि खंड-खंड पाखंड। नामवर जी के शब्दों में, अपने नैतिकता बोध में विशुद्ध ब्रह्मा! रामविलास जी ने द्विवेदी जी पर जो कुछ लिखा उसे पढ़ने के पहले स्वयं द्विवेदी जी ने जो लिखा है उसे पढ़ना चाहिए।

समाजवाद, कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम और रामविलास शर्मा

‘पहल’ के मार्क्सवादी आलोचना विशेषांक 2000 में श्री प्रदीप सक्सेना ने क्रान्तिकारी सम्पादकीय लिखा। उसमें उनका महाप्रतापी लेख भी छपा है, ‘अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों में ऐसा क्या लिखा है?’ दोनों के केन्द्र में रामविलास शर्मा हैं। दोनों ‘गहन रूप से विश्वोभ’ के पलों में लिखे गए हैं। उन्हें पढ़कर तुलसीदास याद आए। ‘कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछताना।’ प्राकृत जन-भदेस यानि अनपढ़ जिनका गुणगान करते हैं, उसे सुनकर जब विद्यादेवी सरस्वती जी ही सिर धुनकर पछताने लगी हैं तो प्रदीप जी का संत-मन अज्ञानी सांसारिकों के वचन को सुनकर विश्वोभ से क्यों न भरे? अज्ञेय जी ने ठीक ही लिखा है कि ‘बोधिसत्व बहुत जल्दी बुद्ध हो जाते हैं।’ इस बुद्धत्व की परम सिद्धि है सम्पादकीय। विचारों की गिरहवाजी देखनी हो तो ‘सम्पादकीय’ की निम्न पंक्तियों को पढ़ना चाहिए : “विडम्बना यह थी कि जब यूरोप अमेरिका के नेतृत्व में सोवियत संघ और समाजवादी शक्तियों के खिलाफ सर्वाधिक व्यापक और भीतरघाती आक्रमण संगठित कर रहा था तब हम संविधान में समाजवाद दर्ज कर रहे थे। अर्थात् 1950 में जब आज के समस्त विजेता समझे जाने वाले तर्कों और दार्शनिक सूत्रों की आधारशिला “कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम” ने रखी थी, तब ही सबसे बड़ी वैचारिक चुनौती हमारे सामने रखी गई थी। लेकिन तब हमारी मार्क्सवादी आलोचना ने इसका सामना कैसे किया था?...आज के शिखर पुरुष (संकेत रामविलास, मुक्तिबोध, नामवर सिंह आदि की ओर—जोर मेरा) इसे किस तरह ले रहे थे?”

राजनीतिशास्त्र का अदना-सा विद्यार्थी भी यह जानता है कि 26 नवम्बर 1949 में जब भारतीय संविधान को लागू किया गया, उसकी प्रस्तावना ‘प्रिपम्बल’ में ‘समाजवाद’ शब्द का उल्लेख नहीं है। उसमें स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा का उल्लेख है जो समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता का संकेतक है। किन्तु स्पष्टतः उसका उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में 42वें संशोधन के द्वारा लाये गए तीन नए अवधारणात्मक शब्दों के द्वारा होता है। ये तीन नए शब्द

थे, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता एवं अखंडता। यह संशोधन आपातकाल के दौरान 1976 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा जी द्वारा कराए गए थे। सन् पचास के दशक में संविधान के एजेंडे पर 'समाजवाद' नहीं था।

मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर द्वारा लंदन में तैयार प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम घोषणा-पत्र से लेकर 1953 के दिल्ली अधिवेशन (प्रलेस से रामविलास शर्मा की विदाई तक) के घोषणापत्र में समाजवाद की सिफारिश एजेंडे में कहीं नहीं है जिसे यह कहा जा सके कि संविधान में समाजवाद को शामिल करने की इच्छा व्यक्त हुई है। मई 1949 के अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के भिवंडी अधिवेशन के घोषणापत्र में 'समाजवाद' शब्द आया है लेकिन सर्वथा भिन्न सन्दर्भ में। वे सन्दर्भ हैं :

1. आज भारतीय साहित्य के विकास में निर्णायक परिवर्तन हो रहे हैं। पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा तीक्ष्ण रूप में प्रगतिशील और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के मुकाबले पर खड़ी हैं। दूसरे इस बात का पता चलता है कि भारतीय जनता की जनतंत्र और समाजवाद की लड़ाई ने एक बड़ा मोड़ लिया है।

2. सोवियत यूनियन के नेतृत्व में जनवादी शक्तियों को फासिज्म पर जो विजय मिली है, उससे शान्ति, जनतन्त्र और समाजवाद की शक्तियाँ बहुत मजबूत हुई हैं।

3. स्वतन्त्र आदमी की जिन्दगी, पूरी आजादी और आदमी द्वारा आदमी के हर प्रकार के शोषण के अन्त के लिए लड़ने वाले साधारण जनता से अलग हटकर भारतीय साहित्य का कोई भविष्य नहीं है, उस साधारण जनता से अलग हटकर जो आज मजदूर श्रेणी के नेतृत्व में जनतन्त्र और समाजवाद के लिए लड़ रही है। (रेखा अवस्थी, प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य, पृष्ठ 321-22-25)

इन संदर्भों से स्पष्ट है कि इस घोषणापत्र में समाजवाद का उल्लेख जनसाहित्य सृजन की प्रेरणा अथवा अपील के लिए है न कि समाजवादी साहित्य रचने अथवा समाजवाद को संविधान में दर्ज करने के लिए। सोवियत संघ के नेतृत्व में फासीवाद की पराजय हुई थी। साम्राज्यवाद कमजोर पड़ा। सोवियत संघ एक विश्व शक्ति के रूप में उभरा। 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ। भारत का विभाजन हुआ। साम्प्रदायिकता अपने उफान पर थी। भारत का विभाजन राष्ट्रवादी ताकतों से सम्प्रदायिकता और साम्राज्यवाद के समझौते का परिणाम था। इन परिस्थितियों में पार्टी-लेखकों के सामने समाजवाद की चिन्ता उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितनी शान्ति, युद्ध से मानवता की रक्षा, साम्राज्यवाद के नय-पुराने चेहरे की पहचान की चिन्ता, फासिस्टविरोधी रुख, भारतीय पूँजीवाद और उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों की पुराने आकाओं पर निर्भरता, साम्प्रदायिक विद्वेष की समाप्ति आदि फौरी चुनौतियाँ महत्वपूर्ण थीं। 1947 से लेकर 1952 तक के पार्टी-लेखकों के सम्मेलन की रपट में कहीं भी समाजवाद को सांविधिक दर्जा दिलाने के लिए संघर्ष करने का उल्लेख नहीं है। पार्टी लेखकों की इन बैठकों में मोअे रूप से साम्प्रदायिक दंगों, फासिस्टी आतंकी कारवाई, साम्राज्यवाद के सामाजिक आधार-सामंती अवशेषों की सफाई, साम्राज्यवाद के दबाव में लीगियों से पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों का समझौता, पूँजीवादी पार्टियों की दुलमुल नीति, जनअसंतोष, जातीयता की समस्या, हिन्दी-उर्दू विवाद, कलावाद-रूपवाद, अस्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित प्रतिबद्ध लेखकों की सामान्य वैचारिक भावभूमि का उल्लेख है। सर्वथा अनुपयुक्त परिस्थितियों में समाजवाद की चिन्ता उन्हें सता रही थी जो साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को सामन रूप से भारतीय जनता का शत्रु मानकर दोनों की एकमुश्त विदाई की फिक्क में दुबले हुए जा रहे थे।

किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात थी कलकत्ते के पार्टी कार्यकर्ता सम्मेलन, अप्रैल 1952 में पार्टी कांग्रेस द्वारा निर्वाचित समिति की ओर से पूरनचन्द्र जोशी द्वारा प्रस्तुत रपट जिसमें सांस्कृतिक मोर्चे की देखभाल के लिए निम्नलिखित विचार-बिन्दुओं को उभारा गया था :

1. मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का मूल्यांकन।
2. हमारे सांस्कृतिक जीवन में साम्राज्यवादी घुसपैठ और उनके द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रतिगामी पक्षों का गुणगान।
3. हमारी संस्कृति को प्रतिक्रियावादी, पुनरुत्थानवादी मोड़ देने की शासक वर्ग की नीति।
4. हमारे अतीत की गौरवशाली देशभक्ति और जनवादी परम्परा के सच्चे उत्तराधिकारी के रूप में उभर रहे नए सांस्कृतिक आन्दोलन का मूल्यांकन और एक नव्य सांस्कृतिक जागरण के प्रवर्तक के रूप में पार्टी की भूमिका। (देखें, मार्क्सवाद और...पृष्ठ 381)

यहाँ भी समाजवाद की लड़ाई तत्कालीन भारतीय वाम राजनीति की फौरी जरूरत में शामिल नहीं है। उसे सांविधिक दर्जा दिलाने की बात झूठ है। यह प्रदीप सक्सेना के अन्तर्गुहावासी मन की कल्पसृष्टि है कि 'हम पचास के दशक में संविधान में समाजवाद की इंटी के लिए बेचैन थे और साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक आक्रमण से बेखबर थे।'

अज्ञेय जी के नेतृत्व में बम्बई में 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' (1951) की सभा हुई थी। रामविलास जी बहुत पहले से संस्कृति की दुनिया में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के खतरों से सचेत थे, पार्टी कार्यकर्ता, नेता और लेखक सचेत थे। उससे आगे बढ़कर जो खोज बनी हुई है, वह प्रदीप सक्सेना ने की है। उन्होंने दो और दो चार के सीधे अंकगणित से आर्थर कोएल्स्टर एवं डेविड बर्नहम को अज्ञेय और भारती से जोड़ दिया है। जो रामविलास जी के यहाँ भारती के कानों में जेम्स टी. फेरैल के नुक्ते की 'भनक' भर थी वही प्रदीप जी के कानों में डंके की अनुगूँज बन गई है।

किन्तु सोवियत संघ और समाजवाद पर साम्राज्यवादी आक्रमण से रामविलास जी बेखबर नहीं थे। 'ब्रिटिश-अमरीकी युद्ध-प्रचार का मुख्य स्वर है—सोवियत संघ में आजादी नहीं है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वहाँ जाकर सब कुछ देखा था और हमें सच्चाई बता दी थी।' प्रगतिशील लेखक संघ के अखिल भारतीय सम्मेलन, मार्च 1953 में प्रस्तुत प्रतिवेदन 'ड्राफ्ट रिपोर्ट' में रामविलास जी ने लिखा, "हम सबसे पहले ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भ्रष्ट संस्कृति के प्रभाव से उसकी (राष्ट्रीय संस्कृति) रक्षा करते हैं। इन साम्राज्यवादियों की संस्कृति धोखाधड़ी और छलकपट से पूर्ण है। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के भीतर जातियों की समानता और भाईचारे की बातें कहकर यह संस्कृति जनता को धोखा देती है। किन्तु जनवादी चीन और सोवियत संघ के विरुद्ध प्रचार करके जातियों के बीच घृणा फैलाती है..." (मार्क्सवाद और...पृष्ठ 389) प्रदीप सक्सेना ने गलती से एक सही सवाल पूछ लिया, 'लेकिन तब हमारी मार्क्सवादी आलोचना ने इसका (समाजवाद पर साम्राज्यवादी आक्रमण और 'कल्चरल फ्रीडम' का सांस्कृतिक हस्तक्षेप—संकेत मेरा) सामना कैसे किया था?' इस सवाल को कम्युनिस्ट पार्टी ने कितनी गम्भीरता से लिया था, यह मैं पूरनचन्द्र जोशी के सन्दर्भ में बता चुका हूँ। वैसे यह सवाल राहुल-चौहान, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त और यशपाल जी से पूछा जाना चाहिए था। मेरी जानकारी में ये सभी 1955 तक जीवित थे।

बहरहाल। संस्कृति के क्षेत्र में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का जवाब जातीय संस्कृति की स्वस्थ एवं जीवन्त परम्पराएँ ही हो सकती हैं, उन्हें मुर्दा बताकर फेंक देना उचित नहीं। उसकी खोज आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने की यद्यपि वे मार्क्सवादी नहीं थे, चंद्रबली

सिंह ने की, यकीनन नामवर जी ने की। उस पर सबसे सशक्त हस्ताक्षर रामविलास जी का है। जरा ध्यान से इन पंक्तियों को पढ़िये : “हमारी संस्कृति की मानवतावादी जनवादी परम्परा जहाँ मंद पड़ गई हो अथवा साम्राज्यवादियों ने जहाँ उसका दमन किया हो, वहाँ हम उसे पुनर्जीवित करना चाहते हैं। जनता की स्मृति में सुरक्षित महाकाव्यों के वीर नायकों की कथाएँ, संत कवियों की निःस्वार्थ सेवा-भावना, कबीर जैसे कवियों का तीखा व्यंग्य, सुब्रह्मण्यम भारती और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ज्वलन्त देशभक्ति—इस सबको हम पुनर्जीवित करना चाहते हैं। प्रगतिशील साहित्य के विकास में हम पुराने साहित्यिक गुरुजनों से सीखते हैं और देश की समृद्ध लोक संस्कृति से भी सीखते हैं।...अपनी संस्कृति की राष्ट्रीय जनवादी परम्परा के अनुरूप साहित्य का विकास करना, जनजीवन से उसका घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखना, लोकप्रिय और सुन्दर साहित्य का सृजन करना—यह हमारा बुनियादी कार्य है।...बड़े पूँजीपतियों के अखबारों में प्रगतिशील लेखकों के खिलाफ, साम्यवाद और सोवियत संघ के खिलाफ धुआँधार प्रचार जारी है। वे जनता को समझाना चाहते हैं कि उसके जनवादी अधिकारों को खतरा (समाजवाद से—संकेत मेरा) आज नहीं है, कल होगा। किन्तु प्रेस बिल और नजरबन्दी कानून दूसरी ही कहानी कह रहे हैं। (उप. पृष्ठ 391-92)

प्रदीप जी ने रामविलास जी के निबन्ध ‘सांस्कृतिक स्वाधीनता और साहित्य’ का सही उल्लेख किया है। यह लेख 1955 में लिखा गया था। 1948 में रामविलास जी का लेख छपा था ‘विश्व शान्ति एवं अमरीकी लेखक’। इस लेख में उन्होंने पॉल रॉब्सन, पत्रकार गारहार्ट आइलजर, संगीतकार हान्स आइलजर, हावर्ड फास्ट के उपन्यास ‘सिटिजन टॉम पैन’ की जब्ती तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद से असहमति रखने वाले सांस्कृतिकर्मियों के उत्पीड़न का पर्दाफाश करते हुए लिखा है, “अमरीकी फासिज्म आज ऐसा ही निर्लज्ज हो गया है। वह धमका कर, गुड़क कर, जेल भेज कर, जुर्माना करके कलाकारों के फासिस्ट-विरोध को खत्म कर देना चाहता है। लेकिन गला फाड़कर विचार-स्वाधीनता का राग अलापने से बाज नहीं आता!” साम्राज्यवादी सांस्कृतिक हमले के प्रति रामविलास जी कितने सचेत थे, इसे जानने के लिए ‘युग की परिधि और साहित्य की व्यापकता’ (1955) नामक निबंध की निम्न पंक्तियों को पढ़ना चाहिए, “1950 के साल बर्लिन में जो ‘कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम’ हुई थी, उसमें अमेरिकी लेखक जेम्स टी. फ़ैरेल ने कला के बारे में एक नुस्खा यह भी रखा था—“टू एक्सप्लोर द नेचर ऑफ सेल्फ” (आत्म प्रकृति का अन्वेषण)। फ़ैरेल और दूसरे ‘स्वाधीनताप्रेमी’ सज्जन युद्ध-विरोधी जन-जागरण और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई जनता से त्रस्त होकर इस मन्त्र का बराबर जाप करते रहे हैं। उसकी भनक भारती के कानों में भी पड़ी।” ‘कल्चरल फ्रीडम’ की लेखक की स्वतन्त्रता एवं रचनाकार की ईमानदारी का सम्बन्ध शीतकालीन राजनीतिक और विचारधारा से था, यह एक घोषित सत्य है और इसे आज सभी स्वीकार करते हैं। भारती एवं अन्य उसे परिजात पुष्प की तरह बटोर रहे थे। इसके दूरगामी परिणामों का उद्घाटन रामविलास जी ने इसी लेख में किया है।

‘जन आन्दोलन और बुद्धिजीवी वर्ग’ 1948 में लिखा गया। उसमें रामविलास जी ने लिखा, “पूँजीवादी व्यवस्था से छुटकारा पाने पर ईमानदार बुद्धिजीवी के सामने विकास के लिए एक बहुत बड़ा रास्ता खुल जाता है। वह बेकारी और तंगी की चिन्ता से मुक्त होकर तमाम कामकाजी जनता की सांस्कृतिक उन्नति के लिए काम कर सकता है।” इसी का विकास ‘नस्ल, भाषा और जातीयता’ (1955) ‘यथास्मै रोचते विश्वम्’ (1952), ‘मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्’ (1951) आदि निबन्धों में हुआ है। ये सारे लेख 1956 में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित

‘स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य’ पुस्तक में संकलित हैं। उनसे भी मन न भरे तो ‘विराम चिह्न’ में संकलित ‘साहित्य की जातीय परम्परा और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद’ (1952) के अन्तिम अनुच्छेद को पढ़ें। उसी से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मार्क्सवादी आलोचना साम्राज्यवादी सांस्कृतिक साजिशों का मुकाबला कैसे कर रही थी और उस मोर्चे पर डटे थे, रामविलास। “इस अन्तर्राष्ट्रीयता को निबाहते हुए प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन ने विश्व-शान्ति और स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता का साथ दिया था। इसलिए प्रगतिशील साहित्य न सिर्फ अपनी जनता के स्वाधीनता-आन्दोलन का समर्थक था, वह साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए लड़ने वाले अन्य देशों के स्वाधीनता-आन्दोलनों का भी समर्थक था। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और देशों में परस्पर समानता और भाईचारे का समर्थक साहित्य है।” (पृष्ठ 138) साम्राज्यवाद के भितरघात का सबसे अच्छा उद्घाटन ‘हिन्दी लेखक और साम्राज्यवाद’ (1949) में रामविलास जी ने किया है समाजवाद पर खुले हमले की चेतावनी देते हुए रामविलास जी ने इस लेख में ‘जनवाणी’ (मार्च 1949) के सम्पादक श्री बैजनाथ सिंह ‘विनोद’ के सम्पादकीय को उद्धृत किया है, “अमेरिकी साम्राज्यवाद लोकप्रिय समाजवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए फौजी गुटबंदी कर रहा है।...पूँजीवादी अमेरिका समाजवादी व्यवस्था को नष्ट कर देने के लिए सम्बन्धित गुटों के देशों की पूँजीवादी सरकारों को मिलाकर युद्ध का आह्वान कर रहा है।” (उप. पृष्ठ 153) नवम्बर 1948 के ‘माधुरी’ में श्री रामनारायण यादवेन्दु ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की युद्धनीति का पर्दाफाश करते हुए लिखा : ‘यूरोप में ब्रिटेन की वैदेशिक नीति का मूल मन्त्र है—सोवियत रूस के विरुद्ध पश्चिमी यूरोप का मोर्चा खड़ा करना।’ (उप. पृष्ठ 154) इन सबको उद्धृत करने के बाद रामविलास शर्मा ने लिखा, “मार्शल योजना और अमरीकी साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करने में ‘हंस’ और ‘विप्लव’ ने सबसे ज्यादा हिस्सा लिया है। इन पत्रों ने अमेरिकी पूँजीवाद के खूनी रूप को हिन्दी पाठकों के सामने पेश किया है और यह भी दिखाया है कि अमरीकी पूँजीवाद अपने घर में साहित्य और संस्कृति का गला घोट रहा है।” (उप. पृष्ठ 155-56)

रामविलास शर्मा के चिन्तन का सबसे दमदार पक्ष है, उनका सतत साम्राज्यवादविरोधी लेखन; 1950 से पहले, उसके बाद और 50-55 के बीच भी। इसलिए 50-55 के बीच जिस ‘सन्नाटे’ की बात कही गई है वह रामविलास शर्मा और अन्य हिन्दी लेखकों में उतनी नहीं है जितनी उस फेनिल बौद्धिकता में है जो ‘तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र’ ढूँढ़ने में कमाल की गहरी बौद्धिक गोताखोरी करता है लेकिन स्पष्टतः लिखित दस्तावेजों में उस विरोध को देखने-पढ़ने की कोई जहमत नहीं लेता। ‘हम व्यक्तिगत हिसाब-किताब चुकता करने में व्यस्त थे’, रामविलास जी को लक्ष्य करके लिखी गई है, उन्हें पढ़कर नहीं। वह घटिया वक्रोक्ति से अधिक कुछ नहीं है। यह उदण्ड आलोचना है। ‘नयी कविता और अस्तित्ववाद’ 1978 में प्रकाशित हुई दूसरा संस्करण 1986 में और तीसरा संस्करण 1989 में। मेरे पास तीसरा संस्करण है उसमें रामविलास जी ने नया अध्याय जोड़ा है, ‘कविता में यथार्थवाद और नयी कविता।’ उन सबको अगर पूरी तरह ताक पर न रख दें तो प्रदीप जी को पता होगा कि 50-55 से 85 तक खासकर नयी कविता के दौर के काव्य अभिसार की अन्तर्वस्तु और उसे अभिव्यक्ति देने वाले कलात्मक रूपों का ही रामविलास जी ने उद्घाटन किया है जिसके तार ‘कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम’ और पतनशील अस्तित्ववादी विचारधारा से जुड़ते थे। अन्तर्वस्तु क्या है? ‘ऊब, अकेलापन, आत्मनिर्वासन की भावना, आत्महत्या की आकांक्षा’। उसे अभिव्यक्ति देने वाले उपकरण क्या हैं? ‘केंकड़े, केंचुए, कछुए, मकड़े, रतिक्रांत युवतियाँ, टाँग फैलाती रंडियाँ और स्त्री की जाँघ की दराज!’ लेकिन उससे भी काम न चले तो जीते-जी अपना सलीब ढोने,

मिस्र और यूनान के पिरामिडों की यात्रा से कहाँ पहहेज है? जरा ध्यान से रामविलास जी की इन पंक्तियों को पढ़ें : “सार्त्र के अस्तित्ववाद में यह असंगति है कि वह दार्शनिक स्तर पर विवेक से अपना रास्ता आप चुनने का पक्षधर है, कलात्मक स्तर पर वह अपने को अर्धविक्षेप से ग्रस्त पाता है।” (नयी कविता...पृष्ठ 130) इस दार्शनिक विवेक और उसकी अभिव्यक्ति की ‘अर्धविक्षेप’ शैली का ‘कल्चरल फ्रीडम’ की लेखकीय स्वाधीनता से कोई सम्बन्ध है या नहीं? उस दार्शनिक विवेक का सम्बन्ध फासिस्ट तानाशाही से है और कलात्मकता का सम्बन्ध साम्राज्यवाद की नीति ‘युद्धं देहि’ से; जैसा कि एक दौर में वाल्टर बेंजामिन ने कल्पना की थी कि फॉसिज्म टैक्नॉलजी द्वारा परिवर्तित सौन्दर्यबोध को कलात्मक रूप से तुष्ट करने के लिए युद्ध चाहता है। नीत्शे ने ‘एस्थेटिक ऑफ डेथ’ की कल्पना यँ ही नहीं की थी। उतनी दूर न जाएँ। घर में ही रामविलास को पढ़ें जो उन्होंने उपरोक्त सन्दर्भ में कहा है, “फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिए वह हवा बहुत मुफीद होती है जिसमें मनुष्य के लिए हत्या और आत्महत्या में ज्यादा फर्क न रहे। नयी कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस तरह याद करते हैं, उससे अन्दाज होता है कि जनतन्त्र खत्म हो जाए और फासिस्ट तानाशाही कामय हो तो उन्हें कोई खास तकलीफ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन-व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।” (नयी कविता...पृष्ठ 120)

दो तरह की व्यवस्थाएँ। पूँजीवाद और समाजवाद। दोनों का भेद व्यक्तिगत हिसाब-किताब है या ऐतिहासिक अनिवार्यताएँ? क्या रामविलास जी ‘कल्चरल फ्रीडम’ से संबद्ध वर्गसत्त्यों एवं वर्गसत्त्यों (वर्गस्वार्थों) के कलात्मक रूपांतरणों की मुख्य समस्या पर सचमुच चुप हैं? नागार्जुन की 75वीं वर्षगांठ पर प्रकाशित ‘गंगा’ के जून 1986 अंक में प्रकाशित किसी अज्ञात किन्तु समझदार लेखक के निम्न अंश को रामविलास जी ने उद्धृत किया है “यह किसी से छिपा नहीं कि आजादी के बाद भारत में जब वाम चेतना जोर पकड़ गई थी तो ‘कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम’ के माध्यम से अमरीका ने भारत के सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करने की कोशिश की और इस कोशिश में सफलता भी पायी। ‘नयी कविता’ का आन्दोलन (उसकी एक धारा का—जोर मेरा) इसी कोशिश का एक अंग था जिसके प्रवाह में आने से मुक्तिबोध जैसे कवि भी बच न सके। इस नयी कविता ने नेमिचंद्र जैन जैसे घोषित कम्युनिस्टों को कम्युनिस्ट—विरोधी बना दिया तो अन्य बहुत से कवियों को ‘कथ्य’ के बजाय ‘शिल्प’ और ‘विषय’ के बजाय ‘रूप’ के भँवरजाल में फँसा दिया। यहाँ तक कि नया आलोचक भी इसके प्रभाव से बच न सका और प्रगतिशील कवियों को भुलाकर लोहियावादियों को प्रगतिशील घोषित करने की रौ में कविता के नए प्रतिमान स्थापित करने लगा। कहना न होगा कि यदि तब हिन्दी में ‘नयी कविता’ का पश्चिमोन्मुख आन्दोलन न आया होता तो आज हिन्दी कविता का स्वरूप ही कुछ भिन्न होता, एकदम भारतीय और कहीं अधिक जुझारू।” (उद्धृत उप. पृष्ठ 295) उल्लेखनीय है कि रामविलास जी ही नहीं, दूसरे समझदार लोग भी साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक हस्तक्षेप के बारे में सोच-लिख रहे थे। कुछ ‘अकलमंद’ उनसे असहमत जरूर थे।

महिमा उसकी भी रहे जिसका नाम नज़ीर (नज़ीर की कविता)

आशीष त्रिपाठी

नज़ीर की कविता पारलौकिक विचारों, अवधारणाओं और कल्पनाओं के समानान्तर लौकिक विचारों, लौकिक भावनाओं और लौकिक अवधारणाओं की कविता है। लौकिक का संबंध इहलोक से है, जिसे नकारात्मक दृष्टिकोण के कारण ब्राह्मणवादी परंपरा में मर्त्यलोक अर्थात् मर जाने वाले लोगों का लोक कहा जाता है। जिस समाज को मृत्यु के बाद के स्थायी जीवन की कल्पना ज्यादा आकर्षित करती हो, उसके लिए मर्त्यलोक श्रेष्ठ और सम्माननीय नहीं हो सकता। स्वाभाविक है कि स्वर्ग और जन्नत की सुखद कल्पनाओं के समानांतर यह लोक 'झगड़ा-झंझट' मालूम होगा और मोक्ष-आग्रही समाज इसे अवमानना की दृष्टि से देखेगा।

धर्म-तंत्र के ऐसे ही विचारों की स्वीकार्यता के कारण इसी लोक में रहने के बावजूद बहुत सारे लोगों के विचार अलौकिकता की तरफ ज़्यादा आकर्षित होते हैं। पारलौकिक वस्तुओं और जीवन के प्रति उनमें गजब का आकर्षण होता है। उन्हें ही वे सत्य मानते हैं। वही उनके लिए श्रेष्ठ जीवन है। इसके समानान्तर इसी लोक में ऐसे लोग भी हैं, जो लौकिक जीवन में शामिल होकर आनन्दित होते हैं। सुखद पारलौकिक जीवन की थोड़ी-बहुत इच्छा उनके मन में भले ही हो, लेकिन लौकिक जीवन के प्रति गहरा आकर्षण उन्हें संचालित करता है।

हमारे समाज में लौकिक और अलौकिक के मध्य एक द्वन्द्व बहुत ताकतवर तरीके से मौजूद है। इस द्वन्द्व में नज़ीर का पक्ष स्पष्टतः लौकिकता की ओर है। उनकी कविता लौकिक वस्तुओं, लौकिक लोगों, लौकिक परिस्थितियों, लौकिक भावनाओं, लौकिक विचारों के मध्य आवाजाही करती है। दरअसल, वे समाज के उस हिस्से के प्रतिनिधि हैं, जिसमें अलौकिकता के प्रति कोई गहन आकर्षण नहीं है। लोक और लोक की प्रत्येक जीवित वस्तु को ब्राह्मणवादी परम्परा की एक धारा में माया कहा गया है। उन सब वस्तुओं के बारे में नज़ीर ने कविताएँ लिखी हैं। आध्यात्मिक लोग ऐसी कविताएँ नहीं लिख सकते। जो कवि धरती और धरती के अनुभवों को सच नहीं मानेंगे, वे ऐसी कविताएँ नहीं लिख सकते। मायावाद में जिन्हें विषय-भोग

सामग्री कहा जाता है ये वो चीज़ें हैं, जो दुनिया में हमारी दिलचस्पी बनाये रखती हैं। कुकर में सीटी बजने और दाल की महक आने पर चेतना में जो हलचल पैदा होती है, उसे कोई साधु-संन्यासी अनुभव नहीं कर सकता। रोटी जल जाये, दाल में थोड़ा-सा नमक ज्यादा हो जाये, चावल में कंकड़ मिल जाये, तो जिस आदमी की चेतना भरा उठती है वह स्पिचुअल नहीं हो सकता। वह लौकिक है, ठेठ लौकिक। वो वस्तुएँ जिन्हें हम माया के नाम पर सदियों तक नकारते रहे नज़ीर उन्हें कविता के केन्द्र में लाते हैं। आज भी प्रवचन उद्योग के विद्वान व्यापारी पंडाल सजाकर और टेलीविज़न पर सुबह से शाम तक उनके विरुद्ध प्रलाप करते हैं। इसलिए लौकिकता की स्थापना एक बड़ा संघर्ष है। यह लोक, इस लोक की वस्तुएँ, जिनसे ज़िन्दगी रंगीन, खुशमिजाज, हँसती-खिलाखिलाती और गाती हुई लगती है, वो सारी की सारी वस्तुएँ नज़ीर की कविता में अपनी पूरी लौकिक आभा के साथ उभरती हैं। बचपन में बच्चे को पतंग उड़ाने में जो मजा आता है, दो आने की पतंग काट लेने में जो खुशी मिलती है उसे कवि क्यों न कहे। पता नहीं भगवान को भी पाने की खुशी उतनी होगी कि नहीं, जितनी एक पतंग से दूसरी पतंग काटकर उसके पीछे दौड़कर उसको पकड़ लेने में है। प्रेमचन्द की कहानी 'बड़े भाई साहब' को याद कीजिये।

नज़ीर अकबराबादी की कविता में ईश्वर का उल्लेख बहुत बार आता है। हिन्दू ईश्वरों का भी और खुदा का भी, लेकिन जब वे ईश्वर का वर्णन करते हैं तो उस प्रसंग में भी ज्यादा जोर लौकिक जीवन पर ही देते हैं। 'बलदेव जी का मेला' कविता में जोर बलदेव जी पर नहीं है, मेले पर है, मेले की रंगीनी पर, खुशमिजाजी और बनक-ठनक पर है। आध्यात्मिकता और मायावाद की उपस्थिति के बावजूद भारतीय समाज भौतिक जीवन पर अधिक जोर देता रहा है। अलग-अलग इलाकों में पायी जाने वाली भोजन सामग्री और वेश-भूषा के प्रारूप यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। अचार, पापड़ और बड़ियों के हज़ारों स्वाद रचने वाला समाज मूलतः भौतिक जीवन को महत्व देने वाला समाज ही होगा। नज़ीर जब तैरने की अनेक विधियों का उल्लेख करते हैं तो वह इसी ओर इशारा कर रहे हैं। भारतीय समाज की नज़ीर की समझ अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों की तुलना में ज्यादा बेहतर वे जानते हैं कि यही वह पहलू है जिससे हमारा जीवन संचालित होता है, जो हमारे जीवन का एक अभिन्न हिस्सा है और जिससे भारतीय समाज की जीवनी शक्ति का निर्माण होता है। आध्यात्मिकता या पारलौकिकता के प्रति आकर्षण नज़ीर के यहाँ अपनी न्यूनतम मात्रा में मौजूद है।

लौकिकता नज़ीर अकबराबादी की कविता के केन्द्र में है। लौकिकता ही आधुनिकता का केन्द्र बिन्दु है। पारलौकिक के समानान्तर लौकिक को प्राथमिक और सर्वोच्च मानने की जिद आधुनिकता है। आधुनिकीकरण का संघर्ष, परलोक के विरुद्ध इहलोक के संघर्ष से प्रारंभ होता है।

प्राच्यवाद, भारत विद्यावाद और औपनिवेशिक युग के इतिहास लेखन के परिणामस्वरूप भारतीयों ने अपनी एक 'आत्म छवि' निर्मित की। यह 'आत्मछवि' एक तरह से औपनिवेशिक दासता के युग में औपनिवेशिक और सामंतवादी शोषण को सहते, भारतीयों की तत्कालीन वास्तविक हीन दशा का प्रत्याख्यान करती थी। इस कल्पित छवि में भारतीयों को 'विश्वगुरु' का मिथ्या-सुख प्राप्त होता था। विश्वगुरुता की यह भावना जिन प्रमुख आधारों पर टिकी थी, उसमें से प्रमुख है-आध्यात्मिकता। यह भौतिकता की उपेक्षा पर टिकी थी। स्पष्ट था कि इस छवि के अनुसार भारतीय परलोक की चिंता में डूबे रहने वाले लोग थे। वे परलोक की व्यवस्थाओं में जुटे मोक्ष और स्वर्ग आग्रही लोग थे, जिन्हें सांसारिक जीवन में कोई वास्तविक दिलचस्पी

न थी और वे संसार को मोक्ष या स्वर्ग पाने का जरिया मानते थे। नज़ीर अकबरावादी प्रारंभिक प्राच्यविदों के समकालीन थे और अनजाने ही इस 'आत्म-छवि' को वास्तविकता का आईना दिखा रहे हैं। नज़ीर वास्तविक भारतीयता के प्रतिनिधि थे, जबकि इस 'आत्मछवि' के रचयिता एक 'कल्पित भारतीयता' के। प्राच्यविदों की कार्य प्रणाली और रणनीति की सीमाएं इस बात से भी स्पष्ट होती हैं कि वे अपने समय में मौजूद भारतीय जनों के सहज जीवन बोध को जानने के प्रति उत्सुक न थे। वे पुरातन पोथियों के आधार पर भारतीयता की छवि गढ़ रहे थे, जो वास्तविक भारत से मेल नहीं खाती थी।

नज़ीर अकबरावादी जब लौकिकता पर जोर देते हैं तो वे कबीर की तरह सूत्र वाक्य कहे बगैर ब्राह्मणवादी और प्राच्यवादी ज्ञान-मीमांसा के विरुद्ध रचनात्मक मोर्चा खोल रहे होते हैं।

हिन्दुस्तान में उभरती हुई आधुनिक लौकिक चेतना के पहले बड़े कवि नज़ीर अकबरावादी हैं। नज़ीर भारतेन्दु, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के पूर्वज हैं। लौकिक जगत का गाना गाने वाले, दुखहरन मास्टर की कविता लिखने वाले, गाँव की मिट्टी को चन्दन समझकर अपने माथे से लगाने वाले नागार्जुन की रचना की देह और आत्मा पर नज़ीर की छाया मौजूद है।

नज़ीर अकबरावादी मूलतः लौकिकता के कवि हैं। इस लोक के कवि।

(2)

नज़ीर अकबरावादी प्रत्यक्ष के कवि हैं- लोक की वास्तविकताओं के प्रत्यक्षीकरण के कवि। कविता का इतिहास बताता है कि उसके दो स्तर हमेशा मौजूद हैं। एक वह जो सामने मौजूद ठेठ प्रत्यक्ष का सीधा यथातथ्य वर्णन कर देता है; दूसरा वह जो प्रत्यक्ष के अलावा परोक्ष पर बहुत जोर देता है। निराला एक ऐसे कवि हैं, जिनमें प्रत्यक्ष जितना ताकतवर है, परोक्ष भी उतना ही शक्तिशाली है। परोक्ष यानी कल्पित। कवि की कल्पना परोक्ष की रचना करती है। निराला की कविता 'संध्या सुंदरी' की प्रारंभिक पंक्ति में 'दिवसावसान का समय'—यह अनुभव वाक्य प्रत्यक्ष को व्यक्त करता है। 'मेघमय आसमान' भी प्रत्यक्ष है। 'मेघमय आसमान से उतर रही संध्या सुन्दरी परी सी' में 'परी सी' एक कल्पना है। 'शाम' ऊपर से नीचे 'उतर रही है' कल्पना है। प्रत्यक्षीकरण का कवि सामने मौजूद वस्तु, व्यक्ति या घटना को पूरी तरह यथातथ्य बता देता है। दूसरी तरह के कवि प्रत्यक्ष में कल्पना के जोड़ से कविता लिखते हैं। 'कामायनी' प्रत्यक्षीकरण से ज़्यादा कल्पनाओं की कविता है। छायावादी कवियों के यहाँ कल्पना की रचनात्मक उपस्थिति अत्यंत प्रभावशाली और निर्णायक है।

सत्य को व्यक्त करने के लिए, अनेक बार कवियों को अपनी परोक्ष निर्माण शक्ति कल्पना का इस्तेमाल ज़्यादा करना पड़ा है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'अँधेरे में' जैसी कविताओं में यथार्थ को व्यक्त करने के लिए निराला और मुक्तिबोध कल्पना का प्रयोग करते हैं। 'अँधेरे में' या 'राम की शक्ति पूजा' जैसी कविताओं में प्रत्यक्ष से ज़्यादा प्रभावशाली परोक्ष है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं हं। प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों के सम्मिलन से महान् कवितायें पैदा होती हैं लेकिन कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिन्हें परोक्ष में कल्पना द्वारा रूपक या महारूपक गढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं होती। वे जीवन में जो सामने मौजूद है उसे लोगों तक पहुँचा देने को रचनात्मकता मानते हैं।

नागार्जुन प्रत्यक्ष के कवि हैं। वे कल्पना का वैसा इस्तेमाल नहीं करते, जैसा कि निराला और प्रसाद तथा मुक्तिबोध और शमशेर करते हैं। नागार्जुन प्रत्यक्षीकरण पर ज़्यादा जोर देते

हैं। शायद वे मानते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष को साथ रखने से सत्य तनु जाता है। इसलिए पहले जो सामने मौजूद है, उसको ठीक-ठीक बताना जरूरी है—दुख ऐसा है, अन्याय ऐसा है, शोषण ऐसा है। उनकी दृष्टि में वास्तविक और वस्तुगत यथार्थ को व्यक्त करना कवि का बुनियादी काम है। कवियों का एक ऐसा घराना है, जो यही मानता है। नज़ीर अकबराबादी इस घराने के पूर्वज कवि हैं। जो सामने मौजूद है, उसे वे ज्यों का त्यों, जस का तस कह देते हैं। इसमें भी कविता का मज़ा हमेशा बना रहता है, क्योंकि कवि अपनी भावना और विचार को कविता की शकल में कह रहा है। 'नज़ीर ग्रन्थावली' में लौकिकता और प्रत्यक्षीकरण की रचनात्मकता के साक्ष्य प्रायः प्रत्येक कविता में मौजूद हैं।

नागार्जुन की मशहूर कविता है- 'घिन तो नहीं आती है'। वे पैर का प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं और उसमें एक सवाल मिला देते हैं कि बिवाई से फटे हुए पैर देखकर घिन तो नहीं आती है? इस सवाल के कारण उनकी कविता नज़ीर से अलग हो जाती है। नागार्जुन नज़ीर से एक कदम आगे चले जाते हैं। नज़ीर सिर्फ वस्तुगत यथार्थ को व्यक्त करते हैं जबकि नागार्जुन सवाल पूछते हैं। नज़ीर सवाल नहीं पूछते हैं। नागार्जुन का यह प्रश्न दरअसल विचारधारा और राजनीतिक पक्षधरता से जुड़ा है, जिसके कारण नागार्जुन लौकिकता और प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से यथार्थ को बखानने से आगे बढ़कर यथास्थिति को बदलने के लिए हस्तक्षेप करते हैं।

(3)

लोक के प्रत्यक्षीकरण के कारण नज़ीर की कविता में व्यापक जीवन प्रवेश कर पाया है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। जैसे जीवन की कोई सीमा नहीं है, वैसे नज़ीर की कविता की भी कोई सीमा नहीं है। सौन्दर्यवादी या सौन्दर्य-सचेत कवि कुछ वस्तुओं को ही कविता की वस्तु मानते हैं। इन कवियों की दृष्टि में साधारण और असुन्दर वस्तुओं में कविता के लिए स्कोप नहीं होता। शायद इसलिये कि उससे कविता में पर्याप्त सुन्दरता का सृजन नहीं होता। उसमें उनकी कविता की काव्योचित सुन्दरता के लिए अवकाश नहीं है। वे एक सुन्दर कल्पना प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसमें ये वस्तुएँ, घटनाएँ परिवेश रोड़ा न डालते हों, लेकिन नज़ीर ने इस सौन्दर्य की परवाह नहीं की। नज़ीर अकबराबादी ने ऐसे-ऐसे विषयों पर कविताएँ लिखी हैं जिनके बारे में तब सोचना भी संभव न था—कौड़ी, पैसा, रूपये की फिलासफी, जर, मुफलिसी, एक प्लॉट का नक्शा, आटे दाल का भाव, बचपन के मजे, जवानी, जवानी के मजे, बुढ़ापा, बुढ़ापे की तअल्लियाँ (तकलीफें, परेशानियाँ), बुढ़ापे की आशिकी, जवानी और बुढ़ापे की लड़ाई, मवा, जन-ए- जोर-ओ-कमजोरी, लूली पीर (बूढ़ी वेश्या), शबरात, आगरे की तैराकी, कनकौए और पतंग, कबूतरबाजी, बुलबुलों की लड़ाई, बया, गिलहरी का बच्चा, रीछ का बच्चा, अजगर का बच्चा, अंधेरी रात, आंधी, शब्बे ऐश (झड़ी, बरसात की झड़ी) बरसात और फिसलन, बरसात का तमाशा, बरसात की बहारें, बरसात की उमस, आशिक का झूला, जाड़े की बहारें, तिल के लड़्डू, भूचालनामा, जुल्फ के फन्दे, परी का सरापा, संगदिल समधिन, हिंजड़े, अंगिया, इजारबंद (कमरबंद) बटुआ, मेहंदी, कोरा बर्तन, पान, हुक्का पंखा, पंखिया, वागरे की ककड़ी, तरबूज, संतरा, नारंगी, जलेबियाँ, कोठा, चूहों का अचार, मक्खियाँ। ये सब विषय हैं नज़ीर की कविताओं के।

ऐसा कोई विषय नहीं है, जो नज़ीर के लिए अछूत हो। समाज में छुआछूत के साथ बल्कि कई बार कविता की दुनिया में भी छुआछूत होती है, विषयों के साथ छुआछूत। इस दुनिया के तमाम विषय जो हमारे चारों तरफ मौजूद हैं - कवि उन पर कविता नहीं लिखते हैं। न पहले के कवि लिखते थे, न अब के लिखते हैं। सिर्फ नज़ीर की परम्परा के कवि, कबीर

की परम्परा के कवि उन विषयों पर कविताएँ लिखते हैं, जो हमारे साधारण जीवन के विषय हैं, इसीलिये इस दुनिया की कितनी वस्तुएँ, घटनायें, परिस्थितियाँ, चरित्र और भंगिमायें अभी कविता की दुनिया से बाहर हैं। जब 'रीछ का बच्चा' कविता लिखी जा सकती थी तो कुम्हार के चाक पर, लुहारों की भट्ठी पर, आरे पर, भड़भूजों पर, लोहा पीटने वाले लोगों पर, सुअर पालने वाले लोगों पर, बैल चराने की क्रियाओं पर, भेड़ें चराने की मुश्किल पर, बारिश में पेड़ पर चढ़ने की समस्या पर, आम के पहले पके हुए फल पर, कोयल वाले आम पर भी कविता हो सकती है। दुनिया का कोई विषय ऐसा नहीं, जो अछूत है। इससे कविता में जीवन्त विषयों का समावेश होगा। नज़ीर की परंपरा की कविता में छूआछूत नहीं हो सकती।

(4)

नज़ीर अकबराबादी एक खुले दृष्टिकोण के कवि हैं, जो जीवन की अनंत व्यापकता का उत्सव मनाता है। जीवन की तमाम सच्चाइयाँ, जो अब तक कविता में नहीं कही गयी थीं, नज़ीर अकबराबादी के यहाँ कही गयीं। नज़ीर की एक मशहूर कविता का शीर्षक रोटी ज़रूर है, लेकिन उसमें क्या-क्या बातें कही गयी हैं, जरा देखिए :

पूछा किसी ने यह किसी कामिल फकीर से
ये मेहरोमाह हक़ ने बनाये हैं काहे के
वह सुन के बोला बाबा खुदा तुमको खैर दे
हम तो न चाँद समझे न सूरज हैं जानते
बाबा हमें तो यह नज़र आती हैं रोटियाँ

रोटी न पेट में हो फिर तो कुछ जतन न हो।
मेले की सैर ख्वाइशे बागो चमन न हो
भूके गरीब दिल की खुदा से लगन न हो
सच ही कहा किसी ने कि भूके भजन न हो
अल्लाह की भी याद दिलाती हैं रोटियाँ।

कपड़े किसी के लाल हैं रोटी के वास्ते
लम्बे किसी के बाल हैं रोटी के वास्ते
बाँधे कोई रुमाल है रोटी के वास्ते
सब कश्फ़ और कमाल हैं रोटी के वास्ते
जितने हैं रूप सब यह दिखाती हैं रोटियाँ

दुनिया के जितने रूप हैं, सब आपको रोटियाँ दिखा देती हैं। अल्लाह की भी याद दिलाती हैं रोटियाँ। कविता में कहीं भी भावना का आरोप नहीं है। साधारण भाषा में, साधारण जीवन की साधारण सच्चाई को व्यक्त कर रहा है कवि। भारतीय समाज की सहज भावना और स्वाभाविक सांसारिक बोध का ही यह काव्यात्मक निरूपण है। तुलसीदास के 'कवितावली' के इस छंद को भी याद कीजिए—

‘किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट
चासक, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
पेट ही को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की
ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को चपत, बेचत बेटा-बेटी

तुलसी का सहज यथार्थबोध नजीर के यथार्थबोध के बेहद करीब है। बस अंतर इतना है कि तुलसी का विश्वास है कि “तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें, आगि बड़वागितें बड़ी है आगि पेट की॥” जबकि नजीर के यहाँ ‘अल्लाह की भी याद दिलाती हैं रोटियों’—स्पष्ट है कि नजीर पर ‘धार्मिकता’ का आवरण नहीं है, जिसके कारण उनका यथार्थबोध ज्यादा प्रखर और भ्रमहीन है। नजीर की एक कविता का शीर्षक है—‘मुफलिसी’ :

हर आन टूट पड़ता है रोटी के ख्वान पर
जिस तरह कुत्ते लड़ते हैं एक उस्तुख्वान पर
वैसा ही मुफलिसी को लड़ाती है मुफलिसी

दुनिया में मुफलिस धर्मों के लिए नहीं लड़ रहे हैं। नजीर की समझ साफ है : मुफलिसी और गरीबी का दुख—वह दुख है कि जिस पर आती है वही जानता है। ‘जाके पैर न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई’—गरीबी के दुख को वही जानता है, जो असल में गरीब होता है।

जो अहले फजल आलिमो फाजिल कहाते हैं।
मुफलिस हुए तो कलमा तलक भूल जाते हैं
पूछे कोई अलिफ तो उसे ‘बे’ बताते हैं
उनकी तो उम्र भर नहीं जाती है मुफलिसी
यह दुख वह जाने जिस पर कि आती है मुफलिसी
कैसा भी आदमी हो पर इफ्लास के तुफैल
कोई गधा कहे उसे, ठहरावे कोई बैल
कपड़े फटे तमाम बड़े बाल फैल-फैल
मुंह खुशक, दांत ज़र्द, वदन पर जमा है मैल
सब शक्ल कैदियों की बनाती है मुफलिसी
यह दुख वह जाने जिस पर कि आती है मुफलिसी

कविता में व्यक्त यह जीवन, साधारण और सच्चा जीवन है। कवि कोई भावनात्मक बात नहीं कर रहा है। जिन्हें नजीर की कविताओं की काव्यात्मक श्रेष्ठता पर संदेह है, उन्हें इस पंक्ति पर गौर करना चाहिए—सब शक्त कैदियों की बनाती है मुफलिसी।

(5)

नजीर अकबराबादी का समय पतनशील सामंतवाद का युग था। ऐसे में यह स्वाभाविक था कि वे इस युग की पतनशील और रुग्ण मनोवृत्तियों वाले सामाजिक समूहों के प्रभाव में आते।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता के एक बड़े हिस्से में इस प्रभाव को स्पष्टतया देखा जा सकता है। बंद समाज के संकुचनशील घेरे में जीवन की स्वस्थ वृत्तियाँ दम तोड़ रही थीं। वृहत्तर समाज की व्यापक हलचलों से कटा हुआ समाज जीवन की स्वस्थ वृत्तियों से दूर होता जा रहा था। इस युग में परजीवी उच्च वर्ग की पतनशील संस्कृति के समानांतर शिल्पी और कामकाजी पेशेवर वर्ग जीवन की नयी आचार-संहिता गढ़ रहा था। इस वर्ग की सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक चेतना का प्रमुख आधार निर्गुण और सूफी भक्ति परंपरायें बन रही थीं। सदियों बीतने के बाद भी कबीर, नानक, रैदास के विचार इन वर्गों को एक नया आत्मविश्वास और जीवन की स्वस्थ प्रेरणा दे रहे थे। यही वह चेतना थी जो पतनशील सामंतवाद की रुग्ण और असामाजिक वृत्तियों का मुकाबला कर रही थी। इस परंपरा का तेजी से विकास हो रहा था तथा अनेक नये निर्गुण भक्त और सूफी युग के परिदृश्य पर हस्तक्षेप कर रहे थे। मलूकदास (1574-1682), तुलसीदास निरंजनी, रज्जब (1567-1689), सुंदर दास (छोटे) (1586-1689), यारी साहब, धरनीदास (1575-1674), बूला साहब (1632-1709), गुरु गोविन्द सिंह (166-1708), बुल्ले शाह (1676-1753), गुलाल साहब, जगजीवन दास सत्तनामी (1670-1761), दीन दरवेश, बाबा कीनाराम, दरिया साहेब मारवाड़ वाले (1676-1758), गरीबदास (1717-1778), दरियादास बिहार वाले (1674-1780), चरणदास (1703-1782), शिवनारायण (1716-1791), भीखा साहब, सहजो बाई, दया बाई, संत रामचरन (1719-1798), राम रहस दास (1725-1809), पलटू साहब, तुलसी साहेब, निश्चलदास, शिवदयाल सिंह (1818-1878) आदि कवि कबीर और नानक की परंपरा का विकास कर पतनशील सामंती शक्तियों और उसकी प्रतिनिधि रुग्ण मनोवृत्तियों वाली रीति कविता से संघर्ष कर रहे थे। स्पष्ट है कि इनमें से कई कवि नज़ीर के समकालीन थे। निर्गुण भक्तों के संप्रदाय प्रमुख रूप से शिल्पी दलित जनता को समूहों में समूहीकृत कर रहे थे जिनका समाज पर व्यापक प्रभाव था।

नज़ीर अकबराबादी पर निर्गुण और सूफी भक्तिधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। अपनी कविताओं में उन्होंने कबीर, नानक, रैदास, सदाना, धन्ना और नामदेव का आदर सहित उल्लेख किया है। नानक पर तो उन्होंने एक पूरी कविता लिखी है। सूफियों में हज़रत सलीम चिश्ती और गुरु गंज बख्श पर स्वतंत्र कवितायें मिलती हैं। नज़ीर की कविताओं से स्पष्ट है कि वे इस्लाम में आस्था रखते थे। यह आस्था खुदा और मोहम्मद पैगम्बर पर लिखी गयी स्तुतिपरक कविताओं में स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। स्पष्टतः यह आस्था सूफी परंपरा में ही स्थित है। खुदा की स्तुति में लिखे गये एक हम्द से स्पष्ट है कि वे अपने ईश्वर में सूफियों और भक्तों की तरह ही दयालुता, कृपा और भक्त वत्सलता देखते हैं और उसकी अनुशासन प्रियता और दंडदाता छवि की उपेक्षा करते हैं। नज़ीर का ईश्वर फ़य्याज़ (बहुत देने वाला), करीम (मेहरबान), ग़फ़ार (क्षमाशील) और रहीम (रहमत देने वाला) है जिसके सामने सर झुकाकर वे उसकी कृपा का एहसान मानते हैं-

- तेरा शुक्रो ऐहसां हो किससे अदा।
हमें मेहर से तूने पैदा किया।
किये और अल्ताफ़ बे इतिहा।
'नज़ीर' इस सिवा क्या कहे सर झुका।
यह सब तेरे इकराम हैं, या करीम।।
- तू कादिरो सुबहान है, अक़दस मुअल्लाशान है।

ख़ालिक् है और रहमान है रज़्ज़ाक् और मन्नान है।
 तेरा करम हर आन है, ऐहसान बेपायान है।
 हमको यही शायान है, जब तक बदन में जान है।
 हर आन में लावें बज़ा शुकरान-ओ फ़रमांबरी।

यह वर्णन एक हद तक पारंपरिक छवि लिए हुए है पर उसकी भीतरी बुनावट सूफ़ी-भक्ति परंपरा के अनुरूप है। इस परंपरा के प्रभाव नज़ीर की कविता की चेतना, भाषिक संरचना और टोन में बड़ी मात्रा में मौजूद हैं—

कोई ख़ालिक् बारी रब मौला, रहमान रहीम अल्लाह तँगरी।
 कोई अलख रूप करतार कहे निरकाल नाम धरी।
 कोई राम राम कहकर सुमरे कोई बोले शिव शिव हरी हरी।
 कोई दाना दीनत, देव अटल, काई राक्षस देवत जिन्न परी।
 कुल आलम तेरी याद करे तू साहब सबका सच्चा है।।
 अब्दाल, कुतुब और ग़ौस वली है ध्यान में तेरे दिल सबका।
 क्या ज्ञानी, ध्यानी, नारद मुनि क्या जोगी जंगम गुरु चेला।
 तू पालने वाला है सबका और सबका तुझसे ध्यान लगा।
 क्या शाह 'नज़ीर' और क्या राजा क्या मुफ़लिस क्या कंगाल गदा।
 कुल आलम तेरी याद करे तू साहब सबका सच्चा है।।

निर्गुण और सूफ़ी परंपरा का एक अनिवार्य प्रभाव यह है कि 'हिन्दू तुरुक का भेद दिलो जाँ से खो दिया।' हिन्दू-मुसलमान के ये भेद ऊपरी हैं, अंतिम सत्य बस एक वही ईश्वर/अल्लाह है :

झगड़ा न करे मिल्लतो मज़हब का कोई यां।
 जिस राह में जो आन पड़े खुश रहे हर आं।।
 जुन्नार गले या कि बग़ल बीच हो कुरआं।
 आशिक तो क़लंदर है न हिन्दू न मुसल्मां।।
 काफ़िर न कोई, साहिबे इस्लाम रहेगा।
 आख़िर वही अल्लाह का एक नाम रहेगा।।

नज़ीर की स्पष्ट मान्यता है कि वह खुदा किसी मंदिर या मस्जिद या दिले-तंग में सिमटा नहीं है—वह हर जगह, हर सूत में मौजूद है—

तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान।
 हर बाग़ में, हर दशत में, हर संग में पहचान।।
 जाता है हरम में, कोई कुरआन बग़ल मार।
 कहता है कोई दौर में पोथी के समाचार।।
 पहुँचा है कोई पार, भटकता है कोई वार।
 बैठा है कोई ऐश में, फिरता है काई ज़ार।।
 आजिज कोई, बेबस कोई, ज़ालिम कोई लठमार।

मुफलिस कोई, नाचार तवांगर कोई जरदार ॥
 जख्मी कोई, माँदा कोई, अच्छा कोई बदकार ।
 जब गौर से देखा, तो उसी के है सब असरार ॥
 हर आन में हर बात में, हर बात ढंग में पहचान ॥
 आशिक है तो दिलबर को हर एक रंग में पहचान ॥

नज़ीर की चेतना वस्तुतः कबीर के निकट है। कबीर को उन्होंने अपनी कविता में एक अलग भंगिमा और तेवर के साथ पुनर्जीवित किया है। कबीर की तरह वे धर्म-तंत्र पर हमला नहीं करते। धार्मिक आख्यानो और धर्म-देवों और धर्म-नायकों को पूरी तरह नकारने का रास्ता भी उन्होंने नहीं चुना। अल्लाह, मोहम्मद साहेब, हज़रत अली के साथ ही हिन्दू देवी-देवताओं गणेश, हरि, कृष्ण, दुर्गा आदि पर स्तुतिपरक पद्य और धार्मिक रूप से मान्यता प्राप्त अनेक चमत्कारी कथाओं के छंद परक गायन से उन्होंने परहेज नहीं किया है। संसार को एक ओर वे आनंद और मौज की जगह मानते हैं तो दूसरी ओर मृत्यु के यथार्थ पर भी जोर देते हैं। उनके लिए यह दुनिया धोके की सी टट्टी है -

कोई लूटे कूचे गलियों में, तैयार किसी का डेरा है ।
 कोई बाग, कुआं बनवाता है और घेर किसी ने घेरा है ।
 नित किस्से झगड़े करते हैं, यह तेरा है यह मेरा है ।
 जब देखा खूब तो आखिर को ना मेरा है ना तेरा है ।
 गुल शोर बबूला आग हवा, और कीचड़ पानी मट्टी है ।
 हम देख चुके इस दुनियां को, यह धोके की सी टट्टी है ॥
 कहीं धूम मची है कर्जों की, कही कर्जों का दुख खेना है ।
 कोई हीरा पन्ना परखावे और बेचे कोई चैना है ।
 हर रोज़ तकाज़ा धरना है, दुख देना पैसा लेना है ।
 जब देखा खूब तो आखिर को, कुछ लेना है न देना है ।
 गुल शोर बबूला आग हवा, और कीचड़ पानी मट्टी है ।
 हम देख चुके इस दुनियां को, यह धोके की सी टट्टी है ॥

भिन्न धर्म-मतों पर चलने वाले अंततः अकेले ही रह जाते हैं—

कोई बाल बढ़ाये फिरता है, कोई सर को घोंट मुंडाता है ।
 कोई कपड़े रंगे पहने है, कोई नंगे मुंगे आता है ।
 कोई पूजा, कथा बखाने है, कोई छापा, तिलक लगाता है ।
 जब देखा खूब तो आखिर को सब छोड़ अकेला जाता है ।
 गुल शोर बबूला आग हवा, और कीचड़ पानी मट्टी है ।
 हम देख चुके इस दुनियां को, यह धोके की सी टट्टी है ॥

धर्म-मार्ग भी दुनियावी तमाशे का हिस्सा हैं—

जे साधु सन्त हैं पूरे सो वह अधूरे हैं ।
 कपट की नद्दी पै बगले, भगत के पूरे हैं ।

इसलिए एक रास्ता यह भी है कि सांसारिक साधनों से भरोसा हटाकर सारे काम अंततः उसी की मर्जी पर छोड़ दिये जायें—

उम्दा हैं जितने खल्क में, क्या शाह, क्या वजीर।
अल्लाह ही गनी है, और हैं यह सब फकीर।।
क्या गंजो मुल्को मालो मकां, ताज क्या सरीर।
जो मांगना है मांगो उसी से मिया 'नजीर'।।
ग़ैर अज़ खुदा के किसमें है कुदरत जो हाथ उठाये।
मक़दूर क्या किसी का, वही दे वही दिलाये।।

उनकी कविता में एक खास तरह की नागरिक नैतिकता पर जोर है। लोगों में भले बर्ताव के लिए उन्हें ज़रूरी लगता है कि वे कहें कि इस दुनियां में भले का बदला भला और बुरे का बदला बुरे से मिलता है—

जो और किसी को नाहक में, कोई झूठी बात लगाता है।
और कोई गरीब और बेचारा, हक़ नाहक़ में लुट जाता है।
वह आप भी लूटा जाता है, और लाठी पाठी खाता है।
जो जैसा जैसा करता है फिर वैसा वैसा पाता है।
कुछ देर नहीं अंधेर नहीं, इन्साफ़ और अदल परस्ती है।
इस हाथ करो उस हाथ मिले, यां सौदा दस्त ब दस्ती है।।

नज़ीर इस बात को काफ़ी जोर देकर कहते हैं कि मृत्यु एक बड़ा सच है। 'मृत्यु' की 'सत्यता' पर वे कबीर की तरह ही जोर देते हैं। वर्ग विभाजित समाज में अनेक तरह की सुख-सुविधाएँ और श्रेष्ठता की आसंदी पर बैठकर मान सम्मान भोगने वाले लोग भी अंततः निर्धन अभावग्रस्त लोगों की तरह ही इस संसार में अंततः माटी में मिल जायेंगे -

- दुनिया से जबकि अम्बिया और औलिया उठे।
अजसाम पाक उनके इसी खाक में रहे।
रुहें हैं खूब हाल में, रुहों के हैं मज़े।
पर जिस्म से तो अब यही, साबित हुआ मुझे।
जो खाक से बना है, वह आख़िर को खाक है।

वह शख्स थे जो सात विलायत के बादशाह।
हश्मत में जिनकी अर्श से ऊँची थीं बारगाह।
मरते ही उनके तन हुए गलियों की खाक-राह।
अब उनके हाल की भी यही बात है गवाह।
जो खाक ये बना है, वह आख़िर को खाक है।

- पढ़ इल्म कई इस दुनियां में, गर कामिल जी इद्राक हुए।
और लाद किताबें ऊंटों पर, हर मानी के दरक हुए।
माकूल पढ़ी, मन्कूल पढ़ी, हर मनतक़ में चालाक हुए।

या कितने इल्म के दरिया हैं, उन दरिया के पैराक हुए।
 सब जीते जी के झगड़े हैं, सच पूछो तो क्या खाक हुए।
 जब मौत से आकर काम पड़ा, सब किससे कज़िये पाक हुए।।
 यां जिनको जीना मरना है ऐ यार ! उन्हीं को डरना है।
 जब दोनों दुख सुख दूर हुए फिर जीना है न मरना है।
 इस भूल भूलैया चक्कर में टुक रस्ता पैदा करना है।
 सब छोड़ भ्रम की बातों को इस बात उपर दिल धरना है।
 माटी की माटी, आग अगन, जल नीर, पवन की पवन हुई।
 अब किससे पूछे कौन मुआ? और किससे कहिये कौन मुई।।

- पढ़कर नमाज़ कोई, रहा पाक वा वजू।
 कोई शराब पीके, फिरा मस्त कूबकू।
 नापाकी, पाकी, मौत के ठहरी न रूबरू।
 कोई इबादतों से मुआ होके सुखरू।

नापाक : स्याह भी, पछता के मर गया।
 जीता रहा न कोई, हर एक आके मर गया।।

वे कबीर की ही तरह पुनर्जन्म में यकीन नहीं करते—

जब रूह तन में निकली, आना नहीं यहां फिर।
 काहे को देखते हैं, यह बागों बोस्तां फिर।
 हाथी पे चढ़ के यां फिर घोड़े पे चढ़के वां फिर।
 जब मर गए तो लोगों वह इश्नतें कहां फिर।

‘बंजारा नामा’ इस चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। ‘यह संसार कागज की पुड़िया’ कहने वाले कबीर ‘रहना नहीं देस विराना’ कहते हैं। यह सब यहीं छूट जायेगा, इसलिये इसका मोह क्या, गर्व क्या—

गर तू है लक्खी बंजारा और खेप भी तेरी भारी है।
 ऐ गाफिल, तुझ से भी चढ़ता एक और बड़ा व्यापारी है।
 क्या शक्कर मिश्री कुंद गरी क्या सांभर मीठा खारी है।
 क्या दाख, मुनक्का सोंठ, मिरच, क्या केसर लौंग सुपारी है।
 सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा।।
 हर आन नफ़ा और टोटे में, क्यों मरताफिरता है बन-बन।
 टुक गाफिल दिल में सोच जरा, है साथ लगा तेरे दुश्मन।।
 क्या लौंडी बांदी, दाईदिदा, क्या बंदा चेला नेक-चलन।
 क्या, मन्दिर, मस्जिद, ताल-कुआं, क्या खेती बाड़ी बाग चमन।।
 सब ठाठ पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बंजारा।।

संसार की निस्सारता और मुत्यु की सत्यता का नज़ीर के लिए यह अर्थ कदापि नहीं कि जीवन

के प्रति कोई नकारात्मकता अपनायी जाय। वे सांसारिक जीवन को पूरी गरिमा और आसक्ति के साथ जीने के पक्षधर हैं—

- देख, टुक गाफिल चमन को गुल फिशानी फिर कहाँ?
यह बहारें, ऐश, यह शोरे जवानी फिर कहाँ?
साकीयो मुतरिब, शराबे अर्गवानी फिर कहाँ?
ऐश कर खूबां में, ऐ दिल शादमानी फिर कहाँ?
शादमानी गर हुई, तो ज़िन्दगानी फिर कहाँ?
- हमारे और तुम्हारे हक में है अब तो यही बेहतर।
कि देखें चांदनी और सैर दरिया की करें जाकर।।
कभी लिपटें गले से, और कभी मै के पियें सागर।
यही कहने को रह जावेगा आखिर ऐ मेरे दिलबर।।
न यह चुहलें न यह धूमें, न यह चर्चे बहम होंगे।
मियां! एक दिन वह आवेगा, न तुम होंगे न हम होंगे।।
- यह नैमते अयां हैं जो आलम के वास्ते।
हैंगी यह सब मियां ! इसी आदम के वास्ते।
कुछ तन के वास्ते हैं कुछ शिकम के वास्ते।
है बेश- बेश के लिए, कम-कम के वास्ते।
सब खूबियां बनी हैं, यह आदम के वास्ते।।
और दम बना है आह ! फ़क़त गुम के वास्ते।।
- दिल लगा उल्फ़त में, और कर ले परीज़ादों की चाह।
चांद से मुखड़ों से मिल, सूरजवशों पर कर निगाह।
कुछ मजे, कुछ लूट हज, यह वक़्त कब मिलता है, आह।
खाले पीले, सुख दे, और देले दिलाते, वाह वाह।
देख ले दुनियाँ को गाफिल, यह तमाशे फिर कहाँ।।

‘पेट’ का ‘सच’ इस संसार का बुनियादी सच है - मृत्यु के सच के सामने नज़ीर इसकी उपेक्षा नहीं करते। कहना न होगा कि यहीं से वे निर्गुण भक्ति कविता की मान्यताओं से आगे बढ़कर सांसारिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए भक्ति और धार्मिकता का सहारा पूरी तरह छोड़ देते हैं। जीवन के लौकिक प्रत्यक्ष अनुभवों को ताकत से रहते हैं और एक तरह से आधुनिक ढंग के भारतीय यथार्थवाद की आधारशिला रखते हैं।

(6)

नज़ीर अकबराबादी की स्वाभाविक सहानुभूति समाज के साधारण लोगों के साथ थी। वे स्वयं उस समाज का हिस्सा थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में पंजाब, दिल्ली, ब्रज और अवध अनेक कारणों से संकटग्रस्त था। मुग़ल बादशाहों का नियंत्रण कमज़ोर होता गया था और अनेक क्षेत्रीय और विदेशी ताकतें इन इलाकों को लूट कर इन्हें विपन्न

बना रही थीं। सामंती अर्थतंत्र पर भीतर और बाहर दोनों ओर से दबाव था। सामंती संरचना में सीमित मात्रा में विकसित हो रहे शिल्प-उद्योग लूट-पाट के कारण नष्ट हो रहे थे। परिणामस्वरूप शिल्पी पुनः खेती पर आश्रित होने के लिए मजबूर थे। ऐश्वर्य और विलासिता में डूबे परजीवी वर्ग की सभी सामंती श्रेणियाँ अपने सुखपूर्ण जीवन को बनाये रखने के लिए करों की दरों में बढ़ोत्तरी कर गँवई और शहरी दोनों तरह के निम्नवर्गीय कामगार वर्गों का जीवन कठिन बना रहे थे। कामकाजी पेशेवर लोगों का जीवन कठिन से कठिनतर होता जा रहा था। नज़ीर अकबराबादी स्वयं इसी वर्ग से बावस्ता थे। वे कम आय वर्ग के घरेलू अध्यापक थे। निश्चित ही इस आर्थिक संकट को वे अपने चारों ओर फैले जीवन में अनुभव करते रहे होंगे। अभावग्रस्त कामकाजी जनता के सामान्य दुख- भूख, गरीबी, बेरोजगारी - उनकी कविता में इतनी जगह घेरते हैं कि अचरज होता है। तुलसीदास ने 'कवितावली' के जिन अंशों में इसी तरह की परिस्थितियों का वर्णन किया है, उन्हें ताकतवर मुग़ल साम्राज्य में हुई अकाल जैसी प्राकृतिक दुर्घटना से जोड़कर देखा जाता है। प्रायः इसीलिये उसकी व्याख्या करते हुए व्यवस्थागत कारणों पर विचार नहीं किया गया है। नज़ीर की कविता में रोटी अर्थात् भोजन का प्रश्न इतनी बार सामने आता है कि उस पर अलग से विचार करना जरूरी जान पड़ता है। 'रोटियाँ', 'चपाती', 'पेट की फिलासफी', 'पेट' आदि कविताओं में यह केन्द्रीय उपस्थिति है। रोटी पर इतनी प्रसन्नता का भाव भरे पेट सामंती वर्ग में नहीं आ सकता—

जब आदमी के पेट में आती हैं रोटियाँ

फूली नहीं बदन में समाती हैं रोटियाँ

नज़ीर जैसा कवि संसार के मिथ्या, माया, नश्वर और क्षण भंगुर होने की आध्यात्मिकता के प्रभाव में भूख और भोजन के प्रश्न को दरकिनार नहीं करता। उसे मालूम है कि दुनिया की सारी उच्चस्तरीय आध्यात्मिकता, दार्शनिकता और सौंदर्योन्मुखता तभी अच्छी लगती है जब पेट में रोटी हो।

नज़ीर की समझ साफ है कि ऊँचे और नीचे माने जाने वाले सभी कामों और पेशों के पीछे मूल संघर्ष भूख से मुक्ति और भोजन की प्राप्ति अर्थात् रोटी का है। अपने को ईश्वर का अवतार, दूत और प्रतिनिधि कहने वाले धार्मिक लोग भी अंततः धर्म - तंत्र के बहाने पेशे ही कर रहे हैं। उनका भी मूल लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति नहीं रोटी ही है—

अब खल्क में हैं छोटे बड़े जितने पेशेवर।

सीखे उसी के वास्ते सब क़स्ब और हुनर।।

सहहाफ़, जिल्दसाज़पिलमची, कमान गर।

जींदोज़, गुल फ़रोश, बिसाती, सफ़ाल गर।।

बैठे हैं सब दुकान लगा पेट के लिए।।

बैठे हैं मस्जिदों में मुसल्ले बिछा बिछा।

जुव्वे पहन के, हाथ में तस्वीह को फिरा।।

बाइज के हर सुखन में है खाने का मुहआ।

आबिद भी दावतों की इबादत है कर रहा।।

ज़ाहिद भी मांगता है दुआ पेट के लिये।।

फ़ाजिल के फ़ज़ल में भी इसी की है इल्तिजा।

आबिद नुजूमि का भी इसी पर है मुहआ ॥
मुल्ला भी दिल गुजारे है लड़के पढ़-पढ़ा ।
शायर भी देखिये तो क़सीदे बना बना ॥
क्या-क्या करे है वस्फो सना पेट के लिए ॥

पढ़ते हैं अब कुरान जो मुर्दों का लेके नाम ।
फूलों में बैठ करते हैं पंज आयतें तमाम ॥
दोज़ख़ में या बहिश्त में मुर्दे का हो मुकाम ।
कुछ हो पर उनको हलवे व मांडे से अपने काम ॥
खुश हो गये जब उनको मिला पेट के लिए ॥

नज़ीर कबीर की तरह धर्म-तंत्र पर कठोर आक्रामक तेवर भले ही इख्तियार नहीं करते, परंतु जगह-जगह वे इस तंत्र की कथित 'आध्यात्मिक आभा' को बड़े ही सलीके से चोट पहुँचाते हैं। श्रेष्ठ धार्मिक जनों को साधारण नीच माने जाने वाले लोगों की बराबरी पर बिठाकर वे एक तरह से धर्म-तंत्र के श्रेष्ठता बोध को गंभीर रूप से तार-तार कर देते हैं। बेहद साधारण लगने वाली अनाक्रामक भंगिमा में वे यह कारनामा कर दिखाते हैं—

जब तलक रोटी का टुकड़ा हो न दस्तर ख्यान पर ।
ने नमाज़ों में लगे दिल, और न कुछ कुर्आन पर ॥
रात दिन रोटी चढ़ी, रहती है सबके ध्यान पर ।
क्या खुदाका नूर बरसे हैं पड़ा हर नान पर ।
दो चपाती के वरक में, सब वरक रोशन हुए ॥
एक रकाबी में हमें, चौदह तबक रोशन हुए ॥

'कोई रोटी सा नहीं, अब पीरो मुर्शिद ऐ नज़ीर' कहने वाले नज़ीर संसार के लौकिक दावों पर अलौकिक कारणों का पर्दा डालने वाले धर्म-तंत्र और धार्मिक जनों की वाणियों को आध्यात्मिकता और धार्मिकता के ताने-बाने को लौकिक आधारों पर चुनौती देते हैं। वे नास्तिक नहीं हैं, परंतु धर्म की औसत व्याख्याओं, मान्यताओं की परिधि से बाहर आकर साहस से कह सके हैं—

जिस जा पे हांडी, चूल्हा तवा और तनूर है ।
खालिक की कुदरतों का उसी जा जहूर है ।
चूल्हे के आगे आंच जो जलती हुजूर है ।
जितने हैं नूर सब में यही खास नूर है ।
इस नूर के सबब नज़र आती हैं रोटियां ॥
मस्जिद भी आदमी ने बनाई है यां मियां ।
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबाख़्वां ॥
पढ़ते हैं आदमी ही कुरान और नमाज यां ।
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियां ।
जो उनको ताड़ता है सो है वह भी आदमी ।

अपना मतलब हो तो मतलब की खुशामद कीजिये ।

और न हो काम , तो उस ढब की खुशामद कीजिये।।
 औलिया अम्बिया और रब की खुशामद कीजिये।
 अपने मकदूर गरज सबकी खुशामद कीजिये।।
 जो खुशामद करे खल्क उससे सदा राजी है।
 सच तो यह है कि खुशामद से खुदा राजी है।।

नज़ीर की कविता की चेतना मूलतः पेशेवर कामकाजी लोगों की चेतना है। जैसे कि कबीर की शिल्पी वर्ग की। नज़ीर की कविता में सैकड़ों पेशों, पेशेवर जनों और पेशों को इंगित करने वाली जातियों का उल्लेख मिलता है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि श्रमविभाजन की प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र थी। श्रम के विशेषीकरण से बनी जातियों ने वर्णाधारित समाज को बिल्कुल नया रूप-रंग दे दिया था। वर्णों की छतरी के नीचे जातियों का महाजाल वर्ण व्यवस्था की बुनियादी चेतना को जड़ करने की कोशिश कर रहा था। परिणामस्वरूप इन नयी उभरी जातियों में उच्चानुक्रम में ऊपर स्थापित होने की जोर आजमाइश भी साथ-साथ चल रही थी। शूद्र वर्ण की विभिन्न जातियाँ स्वयं को दूसरी जातियों से श्रेष्ठ बताने में लगी हुई थीं। अनेक पेशों को अछूत घोषित किया जा चुका था। परिणामस्वरूप उस पेशे से जुड़े लोग एक जाति के रूप में अछूत हो चूके थे। यह बेहद दिलचस्प है कि नज़ीर पर तमाम पेशेवर लोगों को जातियों में रेड्यूस या संकुचित कर देखने की तत्कालीन समाज में प्रचलित दृष्टि का प्रायः कोई दबाव दिखायी नहीं देता। पेशेवर जनों के बीच 'जाति' के कारण प्रचलित उच्चानुक्रम का भी प्रायः उल्लेख नहीं करते। जाति के कारण अछूत जनों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। नज़ीर पेशेवर जनों के बीच धर्मों के कारण मौजूद विभाजन को भी अंकित करते। धर्म, वर्ण, जाति आदि की सीमाओं को दरकिनार करते हुए वे प्रायः इन्हें खालिस पेशेवर जनों या समूहों की तरह देखते हैं। साथ ही वे गरीबी, बेरोजगारी, मेंदी आदि परिस्थितियों में विभिन्न पेशेवर जनों के जीवन पर पड़े संकटों का प्रायः एक साथ वर्णन करते हैं। भारत में सामंतवादी अर्थतंत्र के तेजी से टूटने और पूँजीवादी संबंधों के उभरने के ताकतवर साक्ष्य के रूप में इसे देखा जाना चाहिए।

कामकाजी पेशेवर समाज का ताकतवर होकर उभरना वस्तुतः पूँजीवादी मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के विकसित होने का प्रारंभिक चरण है। सामंती समाज में संबंध मूलतः भूमि तंत्र पर आश्रित होते हैं। रोजमर्रा के जीवन के लिए जरूरी वस्तु विनिमय प्रायः भूमि-उपज (अनाज या अन्य वस्तुओं) के सहारे होता है। गाँवों में लेन-देन में प्रायः मुद्रा का अभाव होता है। मौद्रिक विनिमय का कमजोर होना सामंतवाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है। शिल्पी और अन्य पेशेवर लोग स्वतंत्र व्यवसायी न होकर भूमि कार्यों में सहयोगी होकर रह जाते हैं। भारतीय कृषक व्यवस्था में पायी जाने वाली 'परजा व्यवस्था' इसका सटीक उदारहण है। सामंतवादी अर्थतंत्र में ताकतवर परजीवी सामंत वर्ग की विलासिता के लिए विकसित होने वाले नगरों से शिल्पियों और पेशेवर कामकाजी समूहों को इससे मुक्त होने का अवसर मिलता है और वे पुनः स्वतंत्र व्यवसायियों की सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। शिल्पियों और विशेषीकृत दक्ष जनों को श्रम कार्यों के बदले मुद्रा प्राप्त होने लगती है। श्रमिकों की कारखाना पद्धति के विकसित होने से इस प्रक्रिया में तेजी आती है और प्रारंभिक पूँजीवादी प्रवृत्तियों का विकास होता है। इससे पेशेवर लोगों के सोच-विचार का ढाँचा बदलता है। 'रूपया' सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगता है। नज़ीर अकबरावादी की कविता में सामाजिक संबंधों का जो रूप

दिखायी पड़ता है वह प्रायः इसी प्रकार का अर्थात् प्राक् पूँजीवादी है। 'कौड़ी', 'पैसा', 'रूपये की फिलासफी', 'जर', 'मुफ्लिसी', 'इफ्लास का नक्शा', 'आटे दाल का भाव', आदि कविताओं का स्वर इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। गरीबी और बेरोजगारी का जैसा गहरा और तात्कालिक प्रभाव पेशेवर लोगों पर पड़ता है - किसानों पर नहीं पड़ता। नज़ीर की कविता पेशेवर समूहों के सामाजिक यथार्थ के अंकन की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व की हैं।

अठारहवीं सदी की राजनीतिक घटनाएँ भारतीय सामंतवाद के अंतर्विरोधों की भयावह अभिव्यक्तियाँ थीं। सामंती अर्थतंत्र और राजनीतिक व्यवस्था की परस्परता पूरी तरह खंडित होने के पहले आखिरी साँसें ले रही थी। सामंतवाद का उत्तराधिकार ले सकने वाला पूँजीवाद ताकतवर नहीं हो पाया था। उत्तर भारत में जारी राजनीतिक उथल-पुथल, युद्ध, विलासिता, लूटपाट और औपनिवेशिक शासन की प्रारंभिक आहतें भारतीय समाज को भीतर से तोड़ रही थीं। अराजकता सिर्फ राजनीतिक नहीं थी। इससे एक ख़ास तरह से दुःख वातावरण में तारी था। मीर तकी मीर की शायरी में मौजूद गहरी और गंभीर शोकमयता इसका काव्यात्मक प्रतिबिंबन करती है। भले ही मीर की कविता इसके ठोस साक्ष्य न हों, नज़ीर ने इस शोक को ठोस सामाजिक घटनाओं से प्रकट किया। 'मुफ्लिसी' को इस सिलसिले में सबसे पहले पढ़ा जा सकता है, परन्तु इसका श्रेष्ठतम उदाहरण 'शहरे आशोब' है। 38 बंदों (छंदों) में फैली इस कविता का केन्द्रीय शब्द है—बंद। रोजगारों के बंद होने से पूरा जीवन बंद होने की कगार पर है, यहाँ तक कि शब्दों का कारोबार भी—

है अब तो कुछ सुखन का मेरे कारोबार बंद।
रहती है तबअ सोच में तैलो निहार बंद।
दरिया सुखन की फ़िक्र का है मौज दार बंद।
हो किस तरह न मुंह में जुबां बार बार बंद।
जब आगरे की खल्क का हो रोज़गार बंद।।

साहित्य और कलाओं के अर्थ-तंत्र और उत्पादन-व्यवस्था पर निर्भर होने का मार्क्सवादी विचार जिन्हें बेबुनियाद लगता हो, उन्हें नज़ीर की उपर्युक्त पंक्तियों पर फिर-फिर गौर करना चाहिए। 'सुखन का करोबार' और 'मुँह में जुबाँ क्यों न हो बंद'—'जब आगरे की खल्का हो रोज़गार बंद।'।

आगरा शहर की इस दुर्दशा का प्रमुख कारण कोई आध्यात्मिक या धार्मिक समस्या नहीं है। परिणामस्वरूप व्यापार में आयी कमी दूसरे के अराजक वातावरण के कारण उत्पादन तंत्र लगभग बैठ गया है—

लूटे है गरदो पेश जो कज्जाक राह मार।
व्यापारी आते जाते नहीं डर से ज़िनहार।
कुतवाल रोवें, खाक उड़ते हैं चौकीदार।
मल्लाहों का भी काम नहीं चलता मेरे यार।
नावें हैं घाट-घाट की सब वार पार बंद।।

पेशेवरजन काम के बग़ैर बेरोजगार हो गये हैं।

सर्राफ़, बनिये, जौहरी और सेठ, साहूकार।

देते थे सबको नक़द, सो खाते हैं अब उधार ।
बाजार में उड़े है पड़ी खाक बे शुमार ।
बैठे हैं यूं दुकानों में अपनी दुकानदार ।
जैसे कि चोर बैठे हों कैदी कतार बंद ॥

सौदागरों को सूद, न व्यौपारी फ़लाह ।
बज्जाज को है नफ़ा न पनसारी को फ़लाह ।
दल्लाल को है याफ़्त, न बाज़ारी को फ़लाह ।
दुखिया को फ़ायदा न पिसनहारी को फ़लाह ।
यां तक हुआ है आन के लोगों का कार बंद ॥

मारे हैं हाथ हाथ पे सब यां के दस्तकार ।
और जितने पेशावर हैं सो रोते हैं ज़ार ज़ार ।
कुटे है तन लोहार तो पीटे है सर सुनार ।
कुछ एक दो के काम का रोना नहीं है यार ।
छत्तीस पेशे वालों के हैं कारोबार बंद ॥

उभरते हुए पूँजीवाद के प्रारंभिक चिह्नों के रूप में मौजूद कारखाने भी संकट में हैं—

जितने हैं आज आगरे में कारखान जात ।
सब पर पड़ी है आन के रोजी की मुश्किलात ।
किस किस के दुःख को रोइये और किसकी कहिए बात ।
रोजी के अब दरख्त का हिलता नहीं है पात ।
ऐसी हवा कुछ आके हुई एक बार बंद ॥

इस विकट परिस्थिति ने लोगों को गरीब बना दिया है—

बेरोजगारी ने यह दिखाई है मुफ़्तिलसी ।
कोठे की छत नहीं है यह छाई है मुफ़्तिलसी ।
दीवारो दर के बीच समाई है मुफ़्तिलसी ।
हर घर में इस तरह से भर आई है मुफ़्तिलसी ।
पानी का टूट जावे है जूं एक बार बंद ॥

अब आगरे में जितने हैं सब लोग हैं तबाह ।
आता नज़र किसी का नहीं एकदम निबाह ।
मांगो अज़ीजो ऐसे बुरे वक्त से पनाह ।
वह लोग एक कौड़ी के मोहताज अब हैं आह ।
कस्बो हुनर के याद है जिनको हजार बंद ॥

हुनरमंद शिल्पी, सर्राफ़, बनिये, जौहरी, सेठ, साहूकार, सौदागर, व्यापारी, बजाज़, पनसारी, दलाल, पिसनहारी, दस्तकार, पेशावर, लोहार, सुनार, खटैये, तारकश विसाती, नानबाई, भड़भूजे, धुनिये, बुनकर, दर्जी, काग़जी, कोतवाल, चौकीदार, गरोसहोफ़े (पुस्तक विक्रेता), मुसख्विर (चित्रकार), मीनाकार, नक्कास, फूल बेचने वाले, माली, हज्जाम, सपेरे, रिसालदार, सिपाही, प्यादे, दीबालबंद,

नकारबंद यहाँ तक कि फ़कीरों के जीवन पर भी संकट है। उत्पादन तंत्र और व्यापार किस तरह जीवन की धुरी बन गया था इसे साफ़ ही समझा जा सकता है। यहाँ तक कि धर्म-तंत्र से जुड़े लोग बेरोजगार हो रहे थे—

आमद न खादिमों के तई मक़बरों के बीच ।
बाम्हन भी सर पटकते हैं सब मन्दिरों के बीच ।
आजिज़ है इल्म वाले भी सब मदरसों के बीच ।
हैरं है पीरजादे भी अपने घरों के बीच ।
नज़रो नियाज़ हो गई सब एक बार बंद ॥

ध्यान रखना ज़रूरी है कि यथार्थ का यह ठोस वर्णन उस 'शोकमय वातावरण' की कव्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसे हम ऊपर खासतौर पर मीर के प्रसंग में कह आये हैं—

रोजी के अब दरख़्त का हिलता नहीं है पात ।
ऐसी हवा कुछ आके हुई एक बार बंद ॥
है कौन सा वह दिल जिसे फरसूदगी नहीं ।
वह घर नहीं कि रोज़ी की नाबूदगी नहीं ॥
हरगिज किसी को हाल में बहबूदगी नहीं ।
अब आगरे में नाम को आसूदगी नहीं ।
कौड़ी के आके ऐसे हुए रह गुज़ार बंद ॥
है बाग़ जितने याँ के सो ऐसे पड़े हैं ख़ार ।
काँटे का नाम उनमें नहीं फूल दरकिनार ।
सूखे हुए खड़े हैं दरख़्ताने मेवादार ।
क्यारी में खाक धूल, रविश पर उड़े गुबार ।
ऐसी ख़िजां के हाथों हुई है बहार बंद ॥

देखे कोई चमन तो पड़ा उजाड़ सा ।
गुंचा न फल, न फूल, न सब्ज़ा हरा भरा ।
आवाज कुमारियों की, न बुलबुल की है सदा ।
न हौज़ में है आब न पानी है नहर का ।
चादर पड़ी है खुशक तो है आवशार बंद ॥

बे वारसी से आगरा ऐसा हुआ तबाह ।
फूटी हवेलियां हैं तो टूटी शहर पनाह ।
होता है बाग़बाँ से, हर एक बाग़ का निबाह ।
वह बाग़ किस तरह न लुटे और उजड़े आह ।
जिसका न बाग़वां हो, न मालिक न ख़ार बंद ॥

लज़ज़त है जिक्रो हुस्न के नक़शो निगार से ।
महबूब है जो गुन्चे दहन गुल इज़ार से ।
आवें अगर वह लाख तरह की बहार से ।
कोई न देखे उनको नजर भर के प्यार से ।
ऐसे दिलों के हो गए आपस में कार बंद ॥

वातावरण का यह चित्र सिर्फ ऊपरी और बाहरी तबाही को ही नहीं दिखाता, बल्कि यह आंतरिक वातावरण का भी अंकन कर देता है। नज़ीर प्रायः भावुक नहीं होते परंतु इस वातावरण का बखान करते हुए वे अपनी गहरी संवेदना, सहानुभूति और करुणा को छिपा नहीं सके हैं—

बैचेन थे वह जो गूँध के फूलों के बद्धी हार।
मुरझा रही है दिल की कली जी है दागदार।
जब आधी रात तक न बिकी, जिन्स आबदार।
लाचार फिर वह टोकरी अपनी ज़मी पे मार।
जाते हैं कर दुकान को आखिर वह हार बंद।।

गहरी सहानुभूति से ही वे 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' के भाव से प्रार्थना करते हैं—

है मेरी हक से अब यह दुआ शाम और सहर।
कर आगरे की खल्क पै फिर मेहर की नज़र।
सब खावें पीवें, याद रखें अपने-अपने घर।
इस टूटे शहर पर इलाही तू फ़ज़ल कर।
खुल जावें एक बार तो सब कारोबार बंद।।

(7)

नज़ीर की रचनात्मकता का चरम उत्कर्ष है उनकी कविता 'आदमीनामा'। नज़ीर अकबराबादी की सामाजिक विचारधारा और उनका दर्शन 'आदमीनामा' में व्यक्त हुआ है। हम समाज में लोगों को हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, गोरा-काला, अमेरिकी-रूसी, हिन्दी और पंजाबी कहते हैं। हम लोगों को औरत और मर्द कहते हैं। मनुष्यों के बारे में बात करने के लिए दुनिया में ऐसे कितने नाम हमने खोज रखे हैं लेकिन सबके पीछे एक अटल सच्चाई यह है कि दुनिया में जितने लोग हैं, सब अंततः मनुष्य हैं। इस सत्य को आधुनिकता का केंद्र कहा जाता है। आधुनिकता की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि वह ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक राजनीतिक प्रक्रियाओं को मनुष्य केन्द्रित बना देती है। ज्ञान-विज्ञान की शाखाएँ जिनका उदय पिछले दो सौ-ढाई सौ सालों में हुआ है, उनके केन्द्र में मनुष्य है। नज़ीर अकबराबादी हिन्दुस्तान में इस विचार की घोषणा करने वाले पहले कवि हैं।

नज़ीर अकबराबादी प्रचलित अर्थ में मॉडर्न नहीं थे। 'आदमीनामा' एक अद्भुत नज़्म है जिसमें मनुष्य की सर्वोच्चता और समानता अपने ही तरीके से प्रतिपादित की गयी है। 'जनता की एकता' भी इस घोषणा में स्वतः उद्घाटित है। जनता की एकता है ये। कहते हैं—

दुनिया में बादशाह है सो है वह भी आदमी
और मुफ़लिसो गदा है सो है वह भी आदमी
ज़रदार बेनवा है, सो है वह भी आदमी
नेमत जो खा रहा है सो है वह भी आदमी
टुकड़े चबा रहा है, सो है वह भी आदमी

मस्जिद भी आदमी ने बनायी है या मियाँ
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबारवाँ

पढ़ते हैं आदमी ही कुरान और नमाज यॉ
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियाँ
जो उसको ताड़ता है सो है वह भी आदमी

यां आदमी ही लालो जवाहर हैं बे बहा
और आदमी ही खाक से बदतर है हो गया
काला भी आदमी है और उलटा है जूं तवा
गोरा भी आदमी है कि एक टुकड़ा-सा चाँद का
बदशक्ल, बदनुमा है सो है वह भी आदमी

मरने पै आदमी ही कफन करते हैं तैयार
नहला-धुला उठाते हैं कांधे पै कर सवार
कलमा भी पढ़ते जाते हैं, रोते हैं ज़ार-ज़ार
सब आदमी ही करते हैं मुर्दे के कारोबार
और वह जो मर गया है सो है वह भी आदमी

अशराफ़ और कमीने से ले शाह ता वज़ीर
है आदमी ही साहिबे इज्जत भी और हकीर
यां आदमी ही मुरीद है, और आदमी ही पीर
अच्छा भी आदमी ही कहाता है ऐ नज़ीर
और शब में जो बुरा है सो है वो भी आदमी।

नज़ीर के जीवन का, जीवन-दर्शन का सारांश है। नज़ीर की कविता का चरम है 'आदमीनामा'।

कवि का लक्ष्य है कि सब तरह के आदमी को आदमी माना जाय लेकिन यह इतना आसान नहीं है। आदमी को आदमी मानने में कठिनाई है लेकिन नज़ीर का कहना है कि जैसा भी है आदमी, है अन्ततः आदमी। ब्राह्मण है, शूद्र है, गोरा है, काला है, अमीर है, गरीब है, सुंदर है, कुरूप है, अच्छे चरित्र वाला है और बुरे चरित्र वाला है, चोर है, मक्कार है, धूर्त है - है आदमी ही।

एक आदमी ट्रेन में बम लगाता है और हज़ार आदमियों की हत्या कर देता है। फिर पता चलने पर दूसरा आदमी उसे हथकड़ी लगाता है और जेल में बन्द करता है। हत्यारा बीमार होता है तो उसका इलाज कराता है। सालोंसाल न्यायिक प्रक्रिया चलती रहती है और फिर जब तय हो जाता है कि इसी आदमी ने बम लगाया था या लगवाया था तो कोर्ट में बैठा हुआ एक आदमी उस दूसरे आदमी को फाँसी की सजा सुनाता है। न्याय की कुर्सी पर बैठा आदमी कहता है कि उसने आदमी होने के धर्म का पालन नहीं किया है। इसे आदमी बने रहने का कोई हक़ नहीं, इसलिए इसे मार दिया जाय। इतने लम्बे वक्त तक हम उस हत्यारे को आदमी की तरह पालते हैं, उसे मानवीय सम्मान के साथ रखते हैं। फाँसी की सुबह उसे बुखार आ जाए और उसका वकील अपील कर दे तो उसकी फाँसी रोक दी जायेगी। क्योंकि सिर्फ स्वस्थ मनुष्य को ही फाँसी दी जा सकती है। इतनी मानवीयता किसलिए? इसलिए कि वह जो आदमी है, जैसा भी है, आदमी है। यह संवेदना संविधान में अंतर्निहित है जो आधुनिकता

की पैदाइश है। पूरी दुनिया में नागरिकों पर समान रूप से लागू होने वाली संवैधानिक, विधि व्यवस्था सिर्फ आधुनिक ज़माने में सम्भव हुई है। आधुनिकता मनुष्य को समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय का अधिकार देती है। आदमी आदमी है और उसे समान मानो। ये मूलभूत सिद्धान्त आधुनिकता से आया है।

हिन्दुस्तान में 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू हुआ। उसी दिन से सभी मनुष्यों को मनुष्य के ये हक मिले। इसके पहले ब्राह्मण और शूद्र थे। नज़ीर दो सौ साल पहले 'आदमीनामा' लिख रहे थे। यह कविता मनुष्य की समानता को बिल्कुल भिन्न तरह से प्रतिपादित करती है—

अब्दाल, कुतबी, ग़ौस वली आदमी हुए
मुँक़िर भी आदमी हुए और कुफ़्र के भरे
क्या-क्या करिश्मे कश्फो करामात के किये
हत्ता कि अपने ज़ोरो रियाज़त के ज़ोर से
खालिक से जा मिला है सो है वह भी आदमी
फिरओन ने किया था जो दावा खुदाई का
शदाद भी बहिश्त बनाकर हुआ खुदा
यह बात है समझने की आगे कहूँ मैं क्या
याँ तक जो हो चुका है सो है वह भी आदमी

औरतों को मनुष्य मानने की कोई परम्परा बहुत पुरानी नहीं है। मनुष्यता के अधिकार से वंचित मानी गई है औरत। तसलीमा नसरीन के लेखन में एक सूत्र वाक्य यह भी है कि किसी भी केन्द्रीय व्यवस्था ने औरत को मनुष्य होने का सम्मान नहीं दिया। कवि नज़ीर अकबराबादी तसलीमा से दो सौ-ढाई सौ साल पहले औरतों की बराबरी के हक में अपना मत प्रकट कर रहे थे :

याँ आदमी ही नार है और आदमी ही नूर
याँ आदमी ही पास है और आदमी ही दूर
कुल आदमी का हुस्नो क़बह में है याँ ज़हूर
शैतां भी आदमी है जो करता है मक्रोजूर
और हादी रहनुमा है सो है वह भी आदमी

बंगाल के एक भक्त कवि हुए हैं- चण्डीदास। उनकी एक कविता का एक टुकड़ा मुक्तिबोध ने अपने मशहूर निबन्ध 'मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू' में उद्धृत किया है। जिसके आधार पर भक्ति कविता के बारे में यह व्याख्या बदली कि भक्ति कविता ईश्वर की या ईश्वर के बारे में कविता नहीं है। भक्ति कविता ईश्वर से बात करते हुए मनुष्य के बारे में, सृष्टि के बारे में, धरती के बारे में कविता है। भक्ति कविता का महत्त्व यह नहीं है कि वह ईश्वर के अलौकिक रूप का वर्णन करती है। भक्ति कविता का महत्त्व यह है कि वह मनुष्य के बारे में कविता है। कृष्ण या कन्हैया का बालपन लिखते हुए सूरदास और कुम्भनदास इत्यादि कवियों ने साधारण मनुष्यों के साधारण बच्चों के बालपन का ही वर्णन-चित्रण किया है। हमारे किसान परिवारों में हमारे बच्चों का बचपन है, उसकी लीला है, उसकी खुशी है, उसकी ज़िन्दगी है, जो उस कविता में व्यक्त होती है। यदि सूर जैसा कवि न हुआ होता तो यह जानना मुश्किल होता कि हिन्दुस्तान में बच्चों के साथ आदमी का व्यवहार क्या होता है।

क्योंकि दूसरे बड़े कवि बच्चों के बारे में कविता नहीं लिख गये हैं। सूरदास इसलिए बड़े हो गये कि वह इतनी छोटी बात पर कविताएँ लिख रहे थे, बच्चों की भंगिमाएँ बतला रहे थे कि बच्चे किस भाषा में बोलते हैं, कैसे जिद करते हैं, कैसे लड़ते हैं और कैसे उनकी आपस में नोंक-झोंक होती है। 'मैया मोही दाऊ बहुत खिजावत' को याद कीजिये। हमारे घरों में आम स्थिति है—यहाँ दो बच्चे हैं तो एक दूसरे को खिजायेगा और दूसरा इस बारे में अपनी माँ से शिकायत करेगा।

भक्ति कविता हमारी साधारण ज़िन्दगी के बारे में है। इसीलिए वह महान कविता है। इसीलिए अनेक भक्त कवियों को आधुनिकता के विधिवत आगमन के पूर्व आधुनिक बोध का कवि कहा जाता है।

कबीर की सारी की सारी कविता व्यवस्था से उस तरह से टकराती है, जैसे कि आज का कोई कवि टकराता है। सामाजिक सत्ताओं के बारे में कबीर आज से 600 सालों पूर्व उसी तरह लिख रहे थे, जैसे आज के कवि लिख सकते हैं। इसलिए कबीर को अनेक सन्दर्भों अनेक आयामों में आधुनिक कवि कहा जाता है। भक्ति कविता के केन्द्र में क्या है- मनुष्य और मनुष्य का महत्त्व।

शुनहु मानुष भाई
शावार ऊपरे मानुष सत्य
ताहार ऊपरे नाई
(सुनो मनुष्य भाई
सबसे ऊपर है मनुष्य का सत्य
उससे ऊपर कुछ नहीं है)

सबसे ऊपर मनुष्य का सत्य है, उससे ऊपर कोई सत्य नहीं। भक्ति कविता मनुष्य को स्थापित करती है। नज़ीर अकबराबादी इस विरासत को ग्रहण करते हैं।

नज़ीर की पूरी कविता - चाहे वो तैराकी के बारे में लिखी गई हो, चाहे लड्डू के बारे में, चाहे इश्क मोहब्बत के बारे में, चाहे आटे-दाल के भाव के बारे में, चाहे रीछ के बच्चे के बारे में, चाहे कबूतर के बारे में, चाहे पतंगों के बारे में और चाहे कन्हैया जी के मेले के बारे में, बसन्त ऋतु के बारे में लिखी गई हो या होली की बहारों के बारे में - सारी की सारी कविता अन्ततः मानुष सत्य की स्थापना करती है।

नज़ीर इस मानुष-सत्य को अपनी दुनिया से जानते हैं यानी आगरे से। 'आशिक कहो असीर कहो आगरे का है/शायर कहो नज़ीर कहो आगरे का है'। मानुष सत्य को नज़ीर ने पोथी पढ़कर नहीं, आँख खोलकर दुनिया देखकर अनुभव से जाना है। यह अनुभव मूलतः आगरे का है। आगरे के आदमी को देखकर, आगरे की ज़िन्दगी को देखकर, आगरे की ज़बान समझ के, उसी ज़बान में मानुष सत्य कह रहा है। यूनिवर्सल नहीं, पारलौकिक नहीं - ठेठ धरती का, धरती के सुख-दुख से बंधा हुआ नज़ीर अकबराबादी का महत्त्व उनकी कविता में मनुष्य की केन्द्रीय उपक्रम मौजूदगी के कारण है।

प्रेमचन्द इसलिए बड़े लेखक हैं कि उन्होंने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के उत्तर भारत के साधारण लोगों और साधारण लोगों की ज़िन्दगी के बारे में सब कुछ लिख दिया है। ब्राह्मण-शूद्र, औरत-मर्द, शिक्षित-अशिक्षित, किसान, खेतिहर मजदूर - कौन है जो प्रेमचन्द के साहित्य में नहीं आ रहा है। प्रेमचन्द के साहित्य से पता चलता है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर

भारत में, उत्तर प्रदेश में, बेलारी से लमही के बीच में फैली हुई ठेठ ज़िन्दगी का रूप क्या था। प्रेमचन्द का महत्त्व यह है कि वे अपने समय से और अपने समाज की ज़िन्दगी से बंधे हुए हैं। उन्होंने पारलौकिक सत्ता के बारे में नहीं की, इस जगत् में देखे हुए साधारण मनुष्य की कहानी लिखी। जिस लेखक को पढ़कर हम दलितों और औरतों की ज़िन्दगी के बारे में भी जान सकते हैं, और ज़मींदारों, सेठ-साहूकारों और धर्म गुरुओं की ज़िन्दगी के बारे में भी जानते हैं - वे इकलौते लेखक प्रेमचन्द हैं। जनता का जीवन प्रेमचन्द के केन्द्र में है। नज़ीर इस अर्थ में प्रेमचन्द के पूर्वज हैं।

लौकिकता और मनुष्य केन्द्रिकता - यदि आधुनिकता के केन्द्र बिन्दु हैं तो हिन्दुस्तान के पहले बड़े आधुनिक कवि नज़ीर अकबराबादी हैं।

(8)

‘आगरा बाज़ार’ में नज़ीर की एक नज़्म है ‘शहर आशोब’। इस नज़्म का छोटा-सा टुकड़ा बेहद महत्त्वपूर्ण है। इस टुकड़े से नज़ीर अकबराबादी की केन्द्रीय चेतना का खुलासा होता है:

आशिक़ कहो असीर कहो आगरे का है
मुल्ला कहो दबीर कहो आगरे का है
मुफ़लिस कहो फ़कीर कहो आगरे का है
शायर कहो ‘नज़ीर’ कहो आगरे का है

प्रत्येक पंक्ति में आधी जगह यह घोषणा घेरती है- ‘आगरे का है।’ अपनी सभी पहचानों से ऊपर नज़ीर खुद को ‘आगरे वाला’ कहकर स्थापित करते हैं। यँ तो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ हमारा आदर्श है। हिन्दुस्तानी लोग कहते हैं कि धरती हमारा घर है। बावजूद इस प्राप्त आदर्श के आधुनिक समय में ‘राष्ट्र’ एक नयी पहचान बनकर उभरा है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान पहचान पर गर्व का मुलम्मा चढ़ा। नज़ीर की ही परम्परा में एक शायर हुआ है - शैलेन्द्र। उसने आधुनिक हिन्दुस्तानियों के बारे में एक गीत लिखा है- ‘मेरा जूता है जापानी/ये पतलून इंग्लिशतानी/सिर पर लाल टोपी रूसी/लेकिन दिल है हिन्दुस्तानी।’ अपने आपको हिन्दुस्तानी बतलाने की भी एक परंपरा हो गई - सौ-सवा सौ साल की। जात, पांत/ धर्म/ गोत्र और क्षेत्र की अपेक्षाकृत पुरातन संकुचित पहचानों से बाहर निकलकर अपना परिचय देने की प्रवृत्ति। राष्ट्र से पुरातन और आधुनिक के समानांतर शहर की पहचान बेहद महत्त्वपूर्ण है। असल में आदमी उस छोटी सी जगह का होता है जिसमें उसकी ज़िन्दगी गुज़रती है। गाँव या शहर, जहाँ वह पैदा होता है, रहता है, वही उसकी सारी ज़िन्दगी का केन्द्र होती है। सब कुछ जो उसके अन्दर होता है, उसका सम्बन्ध उस जगह और उस ज़मीन से होता है।

सवा दो सौ साल पहले तब एक आदमी कह रहा था—कुछ भी कहो, आशिक़ कहो असीर कहो, मुल्ला कहो, दबीर कहो, मुफ़लिस कहो, फ़कीर कहो, शायर कहो, नज़ीर कहो पर यह जरूर कहो-आगरे का है। ये आगरे का होना महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि हम सीधे हिन्दुस्तान के नहीं हो सकते, सीधे- सीधे प्रति दुनिया के नहीं हो सकते। सबसे पहले हमको उस जगह, उस ज़मीन का होना पड़ता है, जिस जगह, जिस ज़मीन में हम रहते हैं। जिसे हम लोकेलिटी या स्थान कहते हैं, जिसे जनपद कहते हैं। वह जनपद जब तक हमारी रग-रग में नहीं बोलता है, जब तक हमें उस जनपद के इंसान से प्यार करने का सलीका नहीं आता। थोड़ा फैलाकर अपनी बोली-बानी, मिट्टी, पहाड़, पर्वत से जब तक हम प्यार नहीं करते। जब तक वह हमारे

परिचय में शामिल नहीं होती तब तक सारी धरती को प्यार नहीं किया जा सकता। जो स्थानीय है वही सार्वभौम है। जो अपने समय में बँधा हुआ है, वही सर्वकालिक हो सकता है। जब हम में जनपद बोलेगा तभी हम धरती को प्यार करने का दम भर सकेंगे। पूरी धरती को हम सबसे पहले उस धरती से पहचानते हैं जिस पर हम जीते हैं। इंसान को हम उन इंसानों से जानते हैं जिनको हमने अपनी ज़िन्दगी में देखा होता है। इंसान से प्यार करने का मतलब अपनी ज़िन्दगी में सामने आने वाले बिल्कुल पड़ोस के लोगों से प्यार करना है। उनसे प्यार नहीं कर पाये, तो अफ्रीका के आदमी से कैसे प्यार करेंगे?

अपने समय और अपनी जगह से बँधाव की तरफ ये उक्ति इशारा करती है- 'आशिक़ कहो, असीर कहो, मुल्ला कहो, दबीर कहो, मुफ़लिस कहो- फ़कीर कहो, शायर कहो, नज़ीर कहो- जो भी कहो, सब कुछ कहने के पहले यह कहो- 'आगरे का है।' नज़ीर अकबरावादी बड़े शायर इसलिए भी हैं कि वह आगरे के हैं। आगरा उनमें बोलता है। आगरा यानी जीवित मनुष्यों का जीवित शहर! उनके लिए आगरा का मतलब सिर्फ़ ताजमहल नहीं है। नज़ीर की कविता में ताजमहल बहुत कम जगह घेरता है। ताजमहल आज हिन्दुस्तानियों के लिए आगरा माने ताजमहल। नज़ीर के लिये आगरे का मतलब ताजमहल नहीं है। नज़ीर के लिए आगरा माने तैराकी, आगरा माने जमुना जी, आगरा माने कन्हैया जी का मेला, आगरा माने भैरव जी का मेला, आगरा माने गोताखोरी, आगरा माने ककड़ी, आगरा माने लड्डू, आगरा माने मुफ़लिसी।

(9)

नज़ीर अकबरावादी भारतीय काव्यशास्त्र की किसी रीति को नहीं मानते। उर्दू की पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा में बन रही रीतियों को भी वे स्वीकार नहीं करते। कविता के पंडितों और पूर्ववर्ती कवियों द्वारा स्वीकृत और मान्यता प्राप्त काव्य-प्रतिमानों की भी चिंता उनकी कविता में न के बराबर है। काव्यशास्त्रीय ढाँचों के बंधनों और महान कविता की घोषित परिषदियों के प्रति उनकी विरक्ति उन्हें एक स्वतंत्र कवि बनाती है। स्वाभाविक है कि उनकी कवितायें उनके अपने व्यक्तित्व और विचारों के अनुरूप एक स्वतंत्र व्यक्तित्व धारण करती हैं। यह स्वतंत्रता एक काव्य-मूल्य की तरह सामने आती है। इसमें पंडिताऊ काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों, रीतियों और ढाँचों के साथ ही अपने समय में स्वीकृत सामंती, कुलीनतावादी अभिजनी और सौंदर्य बोध की प्रखर अस्वीकृति मौजूद है।

'आदमीनामा', 'रोटीनामा' और 'बंजारानामा' का कवि अपने समाज की ही तरह प्रस्तुत होता है—स्वतंत्र और जीवंत। जीवन के दैनंदिन गतिवधियों में पूरे मन से शामिल होता है। राग-रंग-रस जिसके लिए जीने की प्रक्रिया के अंग हैं। उत्सवों, मेलों-ठेलों, पर्वों-त्योहारों की श्रृंखला जिसके लिए कामकाज की अनंत श्रृंखला में जीवनी-शक्ति अर्जित करने के लिए आने वाले जरूरी वक़्फे की तरह हैं। कोई शास्त्र और धर्म-तंत्र जिसके जीवन को नियंत्रित नहीं कर पाया। अपने समय की सीमित प्रसार वाली दरबारी कविता के समानांतर जिसमें सीमाओं का अतिक्रमण करने का आपार साहस मौजूद है।

काव्य-पंडितों में स्वीकृत काव्य-रूपों के स्थान पर उन्होंने ऐसे काव्य रूपों का चुनाव किया जिसमें स्वतंत्रता और जीवंतता, विस्तार और गतिशीलता, रंगीनी और दार्शनिकता को पर्याप्त अवकाश मिला। उर्दू कविता में गज़ल सर्वाधिक लोकप्रिय और मान्यता प्राप्त रूप था। एक सदी से अधिक से यह कवियों की रचनात्मकता का वाहक बनीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों, भावनात्मक परिस्थितियों और भावात्मक द्वंदों को कलात्मकता से व्यक्त करने का एक सलीका

विकसित हो चुका था। जीवन के सूक्ष्म अन्वीक्षण से प्राप्त निष्कर्षों को प्रायः एक सूत्र-वाक्य या सूक्ति की तरह व्यक्त करने का ढंग भी ग़ज़ल अपना रही थी, जिससे वास्तविकताओं को प्रकट करने के रास्ते खुल रहे थे। जीवन के गहरे ममत्व से उपजी दार्शनिकता के लिए ग़ज़ल में अवसर प्राप्त हो रहे थे। विशेषकर मीर तक़ी मीर ने ग़ज़ल को हिन्दी-उर्दू काव्य रूपों में शीर्ष स्थानीय बना दिया था। बातचीत के शिल्प को ही आधार बनाने के कारण संवाद की हज़ारों भंगिमायें ग़ज़ल में समाहित हो रही थीं, जिसने 'ग़ज़ल' को भारतीय रंग देने में एक प्रमुख भूमिका निभायी थी। बावजूद इसके यह स्पष्ट था कि 'ग़ज़ल' का काव्य रूप ज़िन्दगी के हज़ारों रंगों को विशेषकर वर्णन और चित्रण के माध्यम से प्रकट करने के लिए ज़्यादा उपयुक्त नहीं हो पा रही थी।

लंबे वर्णनों और चित्रों के लिए ग़ज़ल में पर्याप्त जगह मिल पाना संभव न था। कथात्मकता में रुचि रखने वाले कवियों के लिए तो यह पूरी तरह अनुपयुक्त था। साथ ही परंपरा में ग़ज़ल का ज़्यादातर प्रयोग आशिक - माशूक के तय चौखटे से बंधी होने के कारण प्रायः इश्क - मोहब्बत के लिए ज़्यादा मुफ़ीद था। ऐसे में नज़ीर जैसे कवि ने अपने लिए दूसरे काव्यरूपों की ओर रुख किया। वातावरण को समग्रता से व्यक्त करने में नज़ीर की अत्यधिक दिलचस्पी थी। किसी जगह में घटी किसी घटना को वर्णन, चित्रण और कथन की मिली-जुली तकनीक से व्यक्त करते थे। इसके लिए उन्होंने एक स्वतंत्र और लचीले काव्यरूप का चुनाव किया जो कतई अलंकारिक न था और जिसमें मुख्यतः बयान का रस मिलता था। नज़ीर द्वारा विकसित यथार्थवाद के सर्वथा उपयुक्त और जनतांत्रिक विधा-नज़्म।

नज़ीर की कविता में व्यक्त स्थानीयता और भारतीयता के गुण नज़्मों में खुलकर प्रकट हुए। नज़्म विषय की जरूरत के मुताबिक अलग-अलग लयों, बहरों और बयान के ढंगों के अनुरूप ढल जाती थी। नज़ीर ने अपने व्यक्तित्व और काव्य-रुचि के अनुरूप उसे ढाला। नज़्मों में भी कुछ ब्रज की पद शैली के अनुरूप थीं तो कुछ भजन-कीर्तन का रंग लिए हुए थीं। नज़ीर उसे कथा गायन की परंपराओं के भी करीब ले गये, जहाँ आसान सांगीतिक आधार के साथ लयों में बाँधकर सुनाने में कथा का प्रभाव बढ़ जाता था। मेलों में गाये जाने वाले समूह-गानों और फ़कीरों-साधुओं की बेहद सपाट लयों वाले गीतों की तरह नज़ीर ने नज़्म का बहुविध प्रयोग किया। कहना न होगा कि नज़ीर ने उर्दू काव्य परंपरा में ताकतवर तरीके से मौजूद ईरानी सांस्कृतिक छवियों से इस तरह कविता को एक हद तक मुक्त किया। उर्दू कविता-संसार में इस तरह एक पूरी तरह देशज काव्य-रूप की स्थापना हुई, जिसने विकसित होती हुई भारतीय आधुनिकता, जनतांत्रिकता और यथार्थवाद को खुलकर प्रकट होने का अवसर दिया।

ज़मीन से जुदा नहीं हो सकता आकाश (भारतीय यथार्थवाद और पतंजलि)

विनोद शाही

तीन सर्वाधिक बुनियादी सवाल

अगर हमें दार्शनिकों के द्वारा उठाये जाने वाले, तीन सर्वाधिक बुनियादी सवाल लेने हों, तो वे क्या होंगे?

बेशक इस संदर्भ में मतभेद की बड़ी गुंजाइश है पर अगर हम, बरास्ते पतंजलि, अपने समय की भाषा में इन सवालों तक पहुँचने की कोशिश करें, तो ये इस प्रकार के हो सकते हैं—

एक : हम यथार्थ से संबद्ध कैसे होते हैं?

दो : हम यथार्थ को जानते कैसे हैं?

और तीन : यथार्थ को जानते हुए हम अन्ततः पहुँचते कहाँ है?

इन्हीं सवालों को, अपने समय के, वैज्ञानिक चिंतन के मुहावरे में थोड़ा और विस्तार देने पर, इनकी शक्ति कुछ इस तरह की हो जाती है—

एक : जब हम यथार्थ से सम्बद्ध होते हैं, तो वह कितना व्यक्तिनिष्ठ होता है और कितना वस्तुनिष्ठ?

दो : यंत्र, उपकरण, तकनीक आदि की मार्फत यथार्थ को जानने के हमारे वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक तरीके, जितना वस्तुओं-पदार्थों की बावत प्रामाणिक ज्ञान प्रदान करते हैं; क्या उतना ही वे हमारी जानने की प्रक्रिया की भी व्याख्या वाकई कर पाते हैं?

और तीन : चीजों को जानने की तरह खुद अपने-आप को जानते हुए, क्या हम विकास-रूपांतर-उपयोगिता-व्यवस्थापन आदि की मंजिलों को, खुद अपनी उस चेतना की हकीकत में स्थापित होता भी पाते हैं—उस चेतना की हकीकत में, जो जानने वाली वस्तु है, ज्ञाता है?

पतंजलि की भाषा में यह सवाल इस तरह उठाया गया है कि क्या ज्ञेय वस्तु और ज्ञान

की प्रक्रिया के नियम ज्ञाता के स्वरूप को निर्धारित करने वाले नियम भी होते हैं, या हो सकते हैं?

पतंजलि का उत्तर है—हो सकते हैं, अगर ज्ञेय वस्तु और ज्ञान की प्रक्रिया के नियमों को हम, ज्ञाता तक पहुँचने-पहुँचाने वाली सीढ़ी की तरह का वगयें यानी, अगर हम उन्हीं नियमों को दरअसल वैज्ञानिक मानें, जो इन तीनों पर यकसां लागू होते हों या जो इन तीनों के बीच एक सूत्र की तरह गुंथे हुए, इन्हें आपस में जोड़ते हों वे हमें इन्हीं नियमों तक ले जाते हैं और शेष तमाम तौर-तरीकों, प्रवृत्तियों या प्रतिधियों को, इस पूर्ण ज्ञानमीमांसा की कसौटी पर, भटकाने वाली चीज़ें घोषित कर, खारिज कर देते हैं।

यथार्थ से बावस्ता होने और उसे समझ पाने के लिए, एक सूत्र में पिरोये इस ज्ञानयोग के ये जो तीन परम-नियम हैं—उन्हें पतंजलि धारण, ध्यान और समाधि का नाम देते हैं पर इस समाधि तक पहुँच जाने पर ही सफर पूरा नहीं होता समाधि में उतरन का मतलब होता है कि अब यथार्थ के यथा-अर्थ तक पहुँच कर, उससे एकरूप हो सकते हैं, इसके बाद और गहरे स्वर खुलते हैं 'अर्थ से एकतान' होने पर हममें यथार्थ के विविध रूपों पर 'संयम' की योग्यता आती है। यह संयम हमें 'प्रज्ञा-विवेक' तक ले जाता है। यानी हम अब समझ पाते हैं कि अन्ततः हमें दरअसल जाना किधर होता है। तब कहीं जा कर, कहीं भी आने-जाने की बात, थमती है हमारी तमाम गतियाँ 'निर्णीत' दशा तक पहुँचती है यानी तब हम खुद यह तय कर पाने लायक हो जाते हैं, कि हमें यथार्थ में कब प्रवृत्त होना है, क्यों होना है, अब प्रवृत्ति-निवृत्ति पर अधिकार हासिल हो जाता है और हम दोनों में संतुलन के साथ जीने का मतलब जान लेते हैं इस पूरे सफर की ओर इशारा करने वाले पतंजलि के सूत्रों से अब हम सीधे मुखातिब हो सकते हैं।

'देशबन्धः वित्तस्य धरणा' 3/1

'तत्र प्रत्यया एकतानता ध्यानम्' 3/2

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमेव समाधि : 3/3

'त्रयम् एकत्र संयम : 3/4

'तज्जयात् प्रज्ञालोक : 3/5

'तस्य भूमिष विनियोग : 3/6

'त्रयमंतरंगं पूर्वैभ्यः' 3/7

'तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य' 3/8

अर्थात् चित्त के देश (स्थान या वस्तु) से बंधने को धारणा कहते हैं, उस देशगत-यथार्थ के बिम्ब-प्रत्यय से एकतान होना ध्यान है। इस बिम्ब प्रत्यय के अर्थमात्र को प्रकाशित करने वाली जो स्वरूप-शून्य सी अवस्था है—उसे समाधि कहते हैं।

यानी धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का ताल्लुक यथार्थ वस्तुओं को जानने की प्रक्रियाओं से है और इनसे स्वरूप की चेतना उदघटित नहीं होती परन्तु समाधिस्थ से होकर जो लोग चीजों के अर्थ जानने पहचानने लगते हैं, वे आगे स्वरूप को जान पाने के सफर पर निकल सकते हैं

इस सफर पर निकलने के लिए संयम की जरूरत होती है, जो इन तीनों के धारणा, ध्यान और समाधि के, किसी वस्तु के संदर्भ में, एकत्र या एक साथ होने का नाम है।

जो इस तरह के संयम से निपुण हो जाता है या जो इसे जीत लेता है, वह प्रज्ञालोक

को पाता है यानी उसकी वस्तुनिष्ठ बुद्धि जाग उठती है, इस बुद्धि के आगे अनेक स्तर या आयाम हैं, जिन में लगातार गहरे उतरना होता है।

जब हम यथार्थ की गहराई में उतर सकने वाली इस प्रज्ञा में गहरे उतरते हैं तो हम धारणा-ध्यान-समाधि के अन्तरंग में प्रवेश करते हैं, यानी, तब हम देह के यथार्थ के भीतर जा पाते हैं : बाहरी यथार्थ में संयम के बाद, देह के यथार्थ के भीतर उतर कर, उसका संयम करना होता है, तब देहगत यथार्थ का वस्तुनिष्ठ ज्ञान मिलता है।

परन्तु यह ज्ञान भी, निर्बीज समाधि से मिलने वाले ज्ञान का बहिरंग ही है, यह निर्बीज समाधि, स्वरूप को उदघाटित करती है। तब यथार्थ और स्वरूप में एकरूपता, अन्तः समन्वय या अन्तः सन्तुलन प्रकट हो जाता है।

यथार्थ बिन 'गति' नहीं

ज्ञान और साधना की दुनियां में, यह पंक्ति एक कहावत की तरह मशहूर हो गई है कि 'गुरु बिना गति नहीं' होती बात अगर गति की है, तो वह तो यथार्थ का, भौतिक यथार्थ का स्वभाव है वहाँ से उठाकर इस गति को कैसे गुरु का अधिकार-क्षेत्र बना दिया गया—इसे समझना कठिन नहीं, दार्शनिक लोग अच्छी तरह जानते थे कि गति पदार्थ का अन्तरंग होती है, इसलिए कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ गति को रोका जा सके इसलिए मुक्ति, निर्वाण, शून्य आदि गति विरोधी शब्दों से कोई भ्रम पैदा न हो जाए, इसके लिए साफ किया गया कि 'परम-गतियों' के उदाहरण या पर्याय है गुरु का काम इतना ही है कि वह गति और परम-गति के बीच के फर्क को समझा सके, पर अगर ऐसा भी है, तो भी क्या यही बात साबित नहीं होती कि असल गुरु खुद यथार्थ है। सब गतियाँ उसी का हिस्सा हैं हम सब इस यथार्थ की उपज हैं, तो यथार्थ ने खुद यह बन्दोबस्त कर रखा है कि कैसे उसकी गतियों को ठीक से समझते हुए हम खुद परम गति को समझ सकते हैं और उसे उपलब्ध भी हो सकते हैं

पर गुरुओं की दलाली के चलते, हमारा अपने ही यथार्थ से सीधा रिश्ता, बहुत 'बुरी' तरह प्रभावित हुआ है और बात यहाँ तक बिगड़ी है कि शून्य, निर्वाण या परमस्थिति आदि को 'गतिहीन ठहराव जैसे अर्थ दे दिए गए हैं। इससे निवृत्ति और मुक्ति की धारणाएँ—यहाँ तक कि समाधि भी यथार्थ विरोधी चीजें बना दी गई हैं, दार्शनिक विश्लेषण की उलझनों से बचाने-बचाने की सुविधा पाने के लिए, भक्ति जैसी चीजों का खूब ढिंढोरा पीटा गया है यथार्थ को जाने-समझे बिना, सीधे अनुभव या परम अनुभव में उतर सकने की गारंटियाँ, इन गुरुओं के द्वारा चलायी जाने वाली धर्म की दुकानों पर, बड़ी चालाकी से बेची जाती रही हैं लालच छोड़ देने की भंगिया को आढ़ने वाले ये गुरु-लोग, दसबंध जैसी गुरुघंटाल व्यवस्थाओं के जाल में लोगों को फँसते रहे हैं इसलिए जरूरी लगता है कि गति और परम-गति की समझ को हम फिर से, सीधे यथार्थ नामक असल गुरु को समर्पित कर दें उससे सीधे मुखातिब हो यथार्थ की गतियों को समझने की 'धारणा' को मज़बूत करें और वहीं से आगे का रास्ता खोजे और बढ़ें।

हमारे समय का एक शब्द है—प्रतिबद्धता, यह पतंजलि की 'धारणा' के आधुनिक रूपांतर जैसा लगता है। हम चीजों से दो तरह से बँधते हैं एक है जिस पतंजलि कहते हैं—काम, मोह या लोभ की प्रवृत्तियों की वजह से बँधना आधुनिक भाषा में हम इसे उपभोक्ता-मूलक या सुविधावादी तरीके से बँधने की तरह देख सकते हैं। दूसरा है—सजग या सचेतन रूप में गठित हुई, 'चित्त की देशबंध वाली धारणा' से बँधना। यह भी एक तरह का खुद ओढ़ा गया बंधन

है, इसलिए इसे धारण की जाने वाली वस्तु या धारणा कहा गया है। जैसे प्रतिबद्धता भी एक 'बद्धता' रूप है, बंधन है, पर विधायक है, उसी तरह धारणा हमारे ज्ञानमूलक रूपांतर की पहली शर्त की तरह है, वह चित्त का देश से बँधना है—यानी ठोस और मूर्त यथार्थ से बँधना है। देश, जाति, वर्ग, जनसमूह, संस्था या किसी भी पदार्थ से हमारे चित्त का बँधना धारणा हो सकता है, बशर्ते वह 'प्रत्यय' या ज्ञानानुसंधान में ले जाने की—ध्यान की—जमीन तो ध्यान के निमित्त किसी चीज़ को धारण कटना या उससे बँधना धारणा है वह एक सप्रयोजन चीज़ है। जैसे प्रतिबद्धता सामाजिक रूपान्तर के सरोकार से जुड़ी वस्तु है। उसके बिना प्रतिबद्धता दुराग्रह है, अंधविश्वास या 'डौग्मा' है

किसी भी चीज़ से बँधने का यही खतरा है। हम उसके रूप या सतह से बँधे रह सकते हैं। तब वहाँ आगे 'गति' नहीं हो सकेगी। पदार्थ से बँधने की बात प्रयोजन है कि अब उसकी 'गतियो।' की प्रक्रियाओं की व्यवस्थाओं और संरचनाओं में उतरेंगे। पदार्थ के 'प्रत्यय' को समझेंगे देश के साथ ताल्लुक रखने वाले काल को इतिहास को जानने की कोशिश करेंगे। हम ऐसा इसलिए करेंगे क्योंकि सब गतियाँ, काल से बँधी होती हैं, देश का सार है काल पदार्थमय भौतिक अस्तित्व का सार है इतिहास वही असल ज्ञान-वस्तु है काल या इतिहास का सार है दिशाबोध किधर जाना है—इसका ज्ञान यह जानना कि कोई पदार्थ, जाति, वर्ग या संस्था—हमें अपने साथ प्रतिबद्ध करते-कराते हैं—तो वे दरअसल हमें ले कर कहाँ जाना चाहते हैं? काल या इतिहास-बोध की प्रत्यय-चेतना या ध्यान, हमें किस दिशा में मोड़ किस मंजिल तक ले जाता है—यह उस ज्ञान का 'अर्थ' है ध्यान, पदार्थ की गति को हमारी ज्ञानवस्तु में बदलता है और समाधि, उस ज्ञानवस्तु को 'अर्थमात्र' में इस तरह धारण से, बरास्ते ध्यान, समाधि तक का सफर तय होता है वह पदार्थ से उसके गतिबोध तक जाने और फिर गति बोध से प्रकट दिशा-लक्ष्य-गत अर्थ तक पहुचने का पर्याय है।

इसके लिए यथार्थ से आँख मूँदने वाला रास्ता पकड़ने का कोई मतलब नहीं।

संस्था, समन्वय और समाधिकरण का समाजशास्त्र

मानव समाजों के सभ्यताकरण के सिलसिले में, जिन तीन बुनियादी संस्थाओं की मौजूदगी पर, इतिहास ने मोहर लगायी है, वे हैं—परिवार, राज्य और धर्म की संस्थाएँ, इनका काम बाजार, उत्पादन-पद्धतियों, स्वास्थ्य, दण्ड-प्रणालियों, शिक्षा और शोध-विकास के क्षेत्रों के संस्थानीकरण से चलता है। जातियों वर्गों या अन्य सामाजिक विभाजनों से ताल्लुक रखने वाले जनसमूह, इन संस्थाओं के तहत गठित-संगठित होकर, ठोस सामाजिक शक्ति बनते हैं : शक्ति के अन्तर्गठन की ये व्यवस्थाएँ मिलकर सामाजिक यथार्थ का पर्याय होते हैं।

धारणा या प्रतिबद्धता का अर्थ, मानवजाति के ऐसे ऐसे संस्थानीकरण के भीतर से खुलता है। एक अर्थ में मनुष्य, जन्म लेते ही, संस्थानीकृत होना आरम्भ कर देता है। वही उसका मुख्यतः सामाजिकीकृत होना है परन्तु इससे उसके मनुष्य होने का अर्थ और प्रयोजन पूरी तरह नहीं खुल पाता वजह यह है कि संस्थाएँ, मनुष्य के प्राकृतिक विकास के इतिहास को कई दफा सामाजिक विकास की अपनी ही किन्हीं अलग तरह से तय की गई कसौटियों पर कुर्बान करने लग पड़ती हैं उन्हें खुद को, अन्य सामाजिक संस्थाओं के बरअक्स बचाये रखने की जरूरत भी पड़ती है फिर सत्ता के साथ उनके रिश्ते यह तय करते हैं कि वे मनुष्य को मनुष्य के रूप में भी तरजीह दे पायेंगी या मनुष्य के संस्थानीकृत रूपों को ही उनके मनुष्य होने का आधार मानेंगी यह मनुष्य के सभ्यताकरण का मूल अन्तर्विरोध है इसे सामान्य तौर पर, समाज

की द्वन्द्वात्मक व्याख्याओं का आधार नहीं बनाया जाता इससे बड़ी गड़बड़ पैदा हो जाती है। इस अन्तर्विरोध को थोड़ा विस्तार से समझने की कोशिश करते हैं।

मनुष्य को देखें तो पायेंगे कि वह जीवनरूपों के क्रमिक विकास के सिलसिले से होता-गुजरता हुआ, यहाँ तक आया है। अब उसका आगे का विकास, मुख्यतः सभ्यताकरण के द्वारा या उसके संस्थानीकरणों के द्वारा होना तय होता है। पर इस तरह से जो सामाजिक विकास होता है, वही समग्रतः मनुष्य का जीवन मूलक नहीं होता जीवन का क्रमिक विकास भले ही वह कितना ही धीमा क्यों न हो—कभी रुकता नहीं है। दूसरे, मनुष्य के तल तक आ गया, यह जो जीवन का विकास है, वह अब दैहिक धरातल वाला उतना न रहकर, थोड़ी दिशा बदल कर, भीतर के आयामों की ओर रुख करता है। यानी वह बरास्ते मस्तिष्क, चेतना के उतरोत्तर गहरे आयामों को गठित करने वाला हो जाता है। परन्तु सभ्यताकरण की प्रक्रिया में, जो संस्थाएँ परम्परागत रूप में प्रकट स्थापित हो गई होती हैं—वे जरूरी नहीं कि खुद को मनुष्य की इस तरह की अन्दरूनी विकास की जरूरतों से सीधे मुखातिब हुआ पाती हो संस्थाओं के लिए सत्तातंत्र व अन्य संस्थाओं से द्वन्द्वात्मक रिश्ता बनाते हुए विकास करना, ज्यादा अहम हो जाता है। तो वे इस तरह के विकास से ही मनुष्य को बाँधती और परिभाषित करती हैं, तो, जैसे ही हमें यह बात समझ में आने लगती है कि हमारे लिए संस्थाएँ बेहद अहम हो कर भी, हमारे लिए किन्हीं अर्थों में अपर्याप्त हैं—तब हम उनकी बाबत 'सचेतन' धारण-गत प्रतिक्रिया करते हैं।

हम वैज्ञानिक विश्लेषण से तय करते हैं कि हम किन संस्थाओं से बाँधेंगे और किन्हें छोड़ देंगे? हम यह भी तय करते हैं कि जिन संस्थाओं से बाँधे रहने को हम राजी होंगे, उनके भीतर रहते हुए, हम वहाँ अपनी तरह से 'समन्वयों' तक पहुँचाने के लिए संघर्ष करेंगे। ऐसा संकल्प हमें सामाजिक रूप में, 'धारणा' करने लायक बनाता है। और जब हम यों धारण की गई संस्थाओं से प्रतिबद्ध होकर, वहाँ एकाग्र-भाव से, अपनी तरह के समन्वयों को पाने के लिए, संघर्ष करते हैं तो वह 'ध्यान' का सामाजिक रूप है।

आम तौर पर सभी मानव-समाज, इस तरह की यथार्थमूलक या 'बहिरंग' वाली धारणा और ध्यान की सामर्थ्य का खूब इस्तेमाल करते देखे जा सकते हैं। परन्तु यहाँ से आगे, समाधि करण की सामाजिक प्रक्रियाओं को कभी-कभार ही दखा जाता है।

पतंजलि की 'देशबन्ध' या 'यथार्थ से आबद्ध' धारणा, पहले जिस ध्यान और समाधि तक ले जाती है, उसे वे निर्बीज या अन्तरंग समाधि का बहिरंग कहते हैं, अध्यात्म-साधना तक कही पतंजलि को निर्मित कर देने वालों ने, धारणा-ध्यान समाधि के यथार्थगत बहिरंग की घोर अनदेखी की है इसीलिए समाधि एक बेबूझ रहस्य मात्र बन गई है जिसका मानव समाज को सीधे-सीधे कोई लाभ नहीं मिलता, इससे नुकसान भी हुआ है। हमारे दर्शन हमें, जिस समाजशास्त्रीय जमीन तक ले जा सकते थे। इस रहस्यवादी अमूर्तता की वजह से, वह जमीन हमसे खो गई है और वह जमीन, हमारी अपनी जमीन है। उसी से हमारे चित्त बने और संरक्षित हुए हैं तो, अगर हमें वाकई अपने विकास के आधारों को फिर से पाना है, तो हमें पतंजलि जैसे दार्शनिक को, उनकी समाजशास्त्रीय जमीन लौटानी होगी इसके बाद आप चाहें, जहाँ, जिस गहराई में छलांग लेना चाहें ले लें आप स्वतन्त्र होंगे, गहराइयाँ भी नाप पायेंगे और आपको मालूम होगा कि वहाँ से आपको पीछे, किस तट पर लौटना है?

तो, जब कोई संस्था, सत्ता तथा अन्य संस्थाओं के साथ समन्वयों के नए समीकरण ही नहीं खोजती, अपितु अपने भीतर से एक नयी वैकल्पिक मनुष्य केन्द्रित विकास की रूपान्तर

भूमि तक पहुँचती है तो वह एक तरह का सामाजिक समाधि वरण है जब जब किसी संस्था के द्वारा ऐसा काम किया गया है उसके भीतर से एक नए धर्म या पंथ के प्रकट होने के हालात भी साथ ही सामने आते रहे हैं।

संयम और विवेक का अन्तरंग

किसी संस्था के वाकई मनुष्य-केंद्रित होने का क्या मतलब है? मतलब यह है कि मानव समाज के उससे जुड़े समूह से, मनुष्य के जीवन मूलक विकास को सर्वोपरि मानने और बनाने के कुछ हालात पैदा किए हैं। मनुष्य को उसकी सामाजिक दिनचर्याओं हम खुद अपने आप पर अपनी चेतना की जरूरतों पर एकाग्र हो सकता है। उसकी ऐसी एकाग्रता के संकल्प को तोड़ने और खारिज करने वाली ज्यादातर रूकावटों की गई है। आश्रमों, मठों या साधना-शिविरों में हमें अवसर इसी तरह का माहौल बनाया गया दिखायी भी देता माहौल, यथार्थ सामाजिक परिप्रेक्ष्य से उपजा हुआ नहीं होता, वह बस वहाँ, आरोपित या आरक्षित तरीके से, अस्थायी रूप में, पैदा कर लिया जाता है, परन्तु उसके पास कोई अपनी सामाजिक जमीन नहीं होती। न ही वह किसी तरह के ठोस वैज्ञानिक विवेचन से उपजी कोई मौलिक रूपांतर करने वाली चिंतन-पद्धति का नतीजा होता है। उसे बस परम्परा से पायी गई, पढ़-लिख जाने से बटोरी गई या आधे-अधूरे अनुभव-परिणामों से जबरन प्रमाणित की गई वस्तु की तरह परोस दिया जाता है। नतीजन, न समाज बदलता है, न जीवन न ठीक से ध्यान सिद्ध होता है, न वास्तव में समाधि में उतरना होता है, जो अनुभव पाये भी जाते हैं, वे ज्यादातर आत्म-सम्मोहन के द्वारा यों ही ओढ़ लिए गए निष्कर्षों की तरह हमारे साथ चले आते हैं। नतीजन, सारा ध्यान-समाधि वाला रहस्य धर्मी आयोजन, एक व्यापक सामाजिक पाखण्ड की तरह, बहुत से लोगों की चेतना को ढके रहता है।

तथापि जब कभी कभार कोई ऐसी समानुभूति या समाधि घटित होती है, जो सामाजिक और जीवन-मूल समन्वयों के बीच कोई सन्तुलन खोज पाती है, तो वह इस संतुलन पर एकाग्र होकर, इस समाधि के अन्तरंग में प्रवेश करने की ओर चल पड़ती है।

धारणा-ध्यान समाधि का अन्तरंग क्या है? यहाँ विकास, अंतर्विकास बनता है, और सन्तुलन, अतः सन्तुलन बहिरंग में समाज और जीवन की, जुदा-जुदा रहने वाली विकास प्रक्रियाएँ, एक ही सन्तुलन कायम हो जाता है परन्तु समाज और जीवन की सामूहिक विकासधारा के लगातार परिवर्तनशील बने रहने की वजह से कोई भी सन्तुलन-समन्वय स्थायी मालूम नहीं पड़ता, इसलिए हमें अन्तरंग में जाना पड़ता है। इसका फायदा यह होता है कि हम कम-अज-कम चेतना के तल पर एक तरह के स्थायी-शाश्वत से लगने वाले अन्तः सन्तुलन को पा लेते हैं। इसे पाये बिना चित्त पूरी तरह टिकता नहीं है। इससे बेचैनी और खोज की जरूरत बनी रहती है। परन्तु चित्त के टिकने से हम ऐसी स्थिति में पहुँच सकते हैं। जहाँ बाहर के परिवर्तन हमें प्रभावित तो करते हैं, विचलित नहीं कर पाते : इस तरह, तमाम परिवर्तनों के बीच, जीवन हमेशा एक उत्सव की तरह जाने लायक वस्तु में बदल जाता है ऐसी समाधि-समन्वय के, पहले संयम में और फिर विवेक में बदलने से होता है।

संयम क्या है? पतंजलि की परिभाषा है—‘धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्र होना’ फिर बारी आती है विवेक की वह तब प्रकट होता है, जब धारणा, ध्यान और समाधि के इस एकीभाव पर अधिकार या जय हो जाती है। इससे बुद्धि, प्रज्ञा-विवेक में बदलती है, जिसके आगे से आगे अनेक स्वर हैं। जब ये स्तर खुलते हैं, तो क्रमशः बाहर से भीतर की ओर प्रस्थान

होता है। यहाँ तक बहिरंग है, परन्तु विवेक के भीतरी स्तरों के खुलने पर, इन्हीं का अन्तरंग भी हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। तब आता है आखिरी स्वर। वह है निर्बीज चेतना। विवेक का स्वर, इसकी तुलना में, शेष सभी चेतना स्तर बहिरंग जैसे हैं यानी बहिरंग और अन्तरंग केवल तुलना के लिहाज से सापेक्ष कोटियाँ भर है जितना गहरे में जाते हैं। वह अन्तरंग हो जाता है और उसकी तुलना में, पहले वाला अन्तरंग मालूम होने वाला चेतना का स्तर भी बहिरंग जैसी लगने लगता है। अब इस मध्यकालीन तकनीकी शब्दावली को अपने समय की भाषा में समझने की कोशिश करते हैं।

संयम और विवेक पहले, सामाजिक वस्तु की तरह उपलब्ध होते हैं, उसे इनका बहिरंग समझना चाहिए संयम चूंकि धारणा, ध्यान और समाधि तीनों के एक साथ मौजूद होने का नाम है, इसलिए वही असल में व्यवहार के लायक है। यह एक तरह की चेतावनी है कि धारणा, ध्यान और समाधि को एक-दूसरे से जुदा करने से कुछ हासिल नहीं होगा। केवल किसी वस्तु, व्यक्ति या संस्था को पकड़कर बैठ जाना—उससे प्रतिबद्ध हो जाना अपने आप में अर्थहीन बात है। उसके बारे में चिन्तन-विश्लेषण भर से भी काम चलने वाला नहीं है। केवल शोध-विज्ञान से, या रचनाशील हो जाने भर से हमारे प्रयास या हमारी रचनाएँ अर्थपूर्ण नहीं हो जाएँगी। केवल एकाग्र ध्यान कहीं नहीं ले जाता और यही नहीं, केवल समाधि भी निर्बुद्धिपूर्ण छलांग है। केवल अर्थ में डूबे रहना, 'अर्थमात्र से स्वरूप-शून्य' साधना करते रहना भी दो कौड़ी का नहीं, धारणगत यथार्थ में पलायन करने वाले जो लोग समाधि नें डूबे रहने का ढोंग करते हैं—वे सिवाय खुद को तबाह करने के, कुछ हासिल नहीं करते, इसलिए इन तीनों का एक साथ रहना जरूरी है। एक-दूसरे से संयमित होकर ही ये हमें गहरे और वास्तविक विकास तक ले जाते हैं इस संयम की चेतना वाली बुद्धि, हमारा विवेक, हमारी प्रज्ञा बनती है, इस विवेक को पतंजलि, करीब-करीब आखिरी साधन की तरह हमारे सामने रखते हैं। वजह यह है कि एक दफा विवेक उपलब्ध हो जाए तो हमारा व्यवहार सामान्यता तो कभी यों ही असंयमित नहीं हो सकेगा और विवेक की मदद से हमारा यह संयम जितना सधा रहेगा, उतना ही हम इस विवेक के, आगे से आगे, और गहरे स्तरों को उपलब्ध होते जाएँगे।

निर्बीजता बांझपन नहीं, केवल स-फलता है

अन्तरंग, बीज-भूमि है

और अन्तरंग का अन्तरंग, निर्बीज

पहले सामाजिक बहिरंग के बीजों पर निगाह डालते हैं। सामाजिक यथार्थ, चित्त में भाषा-बीजों की शक्ति ले कर, जड़ें जमाता है।

सामाजिक इतिहास का बीज-रूप हैं स्मृतियाँ, जब कि जीवनेतिहास हमें स्वप्न-बीजों की तरह उपलब्ध होता है। और समाज में जिस तरह सभ्यता का विकास, संस्थाओं की तरह मूर्त-ठोस शक्ति पाता है और टिकाऊ हो जाता है, उसी तरह उसके अन्तरंग बीज, हमें संस्कारों की तरह प्राप्त होते हैं। ये संस्कार चित्त की गहराई में बद्धमूल रहते हैं। बहिरंग कहे जाने वाले सामाजिक यथार्थ के इन तमाम बीज-रूपों का उद्बोधन करने के लिए भाव-दशाओं का इस्तेमाल किया जाता है। भाव दशाएँ क्या हैं? वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों से उपजे अन्तर्बीज हैं। इसलिए अगर हमें मानव-समाजों के मनुष्यों के बीच के रिश्तों को इतिहास को जानना हो तो हमें भावों की अभिव्यक्तियोंके बदलते रूपों पर ध्यान एकाग्र करना चाहिए मानव-चित्त की यह बीजभूमि की धारणा-ध्यान-समाधि का अन्तरंग है।

चित्तगत अन्तरंग में उतरने पर, धारणा का देशबंध, भाषा-बंध में बदल जाता है, इसका मतलब यह है कि अब हम किसी भाषा-वस्तु से प्रतिबद्ध होने की जरूरत पड़ती है। रहस्यवादियों या अध्यात्मवादियों ने इसे, 'नाम' की बेहद सीमित-संकीर्ण क्षुद्र दुनिया के अंधे कुएँ में धकेल दिया है। जबकि धारणा किसी भी भाषा-वस्तु की हो सकती है जरूरी नहीं है कि ईश्वर, अवतार या ब्रह्म का कोई ऐसा 'नाम' ही हो जिसकी हमें न ज़मीन का पता हो, न आकाश का यानी, जिसे प्रति न हम ज्ञानात्मक विश्लेषण के लिए 'ध्यान' को एकाग्र कर सकते हों और न ही जिसके अर्थमात्र को उपलब्ध हो, समाधि में पहुँच सकते हों, जबकि हमारा काम किसी भी शब्द या विचार-वस्तु वाले भाषा-खण्ड से चल सकता है। उल्टे, सामान्य भाषा हमारे लिए ज्यादा उपयोगी साबित हो सकते हैं, क्योंकि उसकी सामाजिक जमीन या देशबंध हमारे सामने ही मौजूद रहता है। परन्तु बात उसकी धारणा की है, उसे प्रतिबद्ध तरीके से पकड़ने की है—जब तक कि हम उसके अर्थमात्र वाली अन्तःभूमि में अतल तक न उतर जाएँ

भाषागत धारणा हमें सहज ही, उससे सम्बद्ध स्मृतियों, स्वप्नों व संस्कारों तक ले जाती है। इन सबको भीतर प्रकट होते हुए, ध्यानपूर्वक व एकाग्र तरीके से देखना पड़ता है। यही ध्यान-दशा की, प्रत्यय की एकतानता है। स्मृतियाँ, स्वप्न व संस्कार, भाषा के प्रत्यय हैं। वे भाषा से जुड़े ही रहते हैं। इस प्रत्यय-भूमि में गहरे और शीघ्र उतरने के लिए हम भावों का इस्तेमाल कर सकते हैं। साधकों ने इसीलिए प्रेम को इतना महत्त्व दिया है। इससे हमें एकाग्र-एकतान होने व वहीं बने रहने में बड़ी मदद मिलती है।

भाषा की इस प्रत्ययगत दुनिया में हमारा जो असल संगी-साथी होता है वह है हमारी वाणी इसलिए वाणी के बहुत से भीतरी स्तरों की बात सामने आ सकती। वैखरी या बाहरी वाणी सामान्य भाषावस्तु से जुड़ी रहती है। स्मृतियों-स्वप्नों में हम मध्यमा वाणी के सहारे प्रवेश करते हैं। परा वाणी संस्कारों के बद्धमूल रूपों में उतरने के लिए हमारा साथ देती है। फिर हम जब इस ग्रहण की गई, भाषागत धारणा के अर्थमात्र में उतरते हैं तो वहाँ वाणी का पश्यन्ती रूप हमारा साथ देता है। हम वह बस देखते हैं। साक्षी या द्रष्टा हुए से अर्थ के साथ एकाकारता का अनुभव पाते हैं। यह समाधि दशा है तब लगता है जैसे अब सब कुछ स्वरूपमय है हमीं हैं वह अर्थ, जहाँ तक हम पहुँचना चाह रहे थे। शेष सब शून्य है। इस स्वरूप-शून्य स्थिति का अनुभव हम जरूर करते हैं, पर इसका मतलब यह नहीं होता कि वह जो धारणा के यथार्थ देशबंध जमीन है, वह भी शून्य-मात्र है। वह जमीन अब भी वहीं होता है, जहाँ टिका कर, हम ध्यान की सीढ़ी के साहारे, ऊपर चढ़ पाये थे। पर ऊपर छत पर एक आकाश खुल गया होता है और उसमें हम खुद को तैरता भी पाते हैं। परन्तु ज़मीन वहाँ नीचे होती है और वह भी हमारे उस स्वरूप-अनुभव का हिस्सा बनी रहती है। फर्क यह पड़ता है कि अब हम इस अर्थमात्रता के साथ उससे एकाकार हुआ सा अनुभव करते हैं और यह अनुभव इतना शिदत-भरा होता है कि हम कह उठते हैं कि वह सब हमारा ही अन्तः विस्तार है।

यह जो अर्थमात्र आकाश है, वह हम पर हावी न हो जाए, इसके लिए पतंजलि यहीं संयम की जरूरत को हमारे सामने रख देते हैं। वे धारणा ध्यान-समाधि को एक साथ, एकत्र भाव से ग्रहण करने का सूत्र हमारे सामने रख देते हैं और उसे ही संयम का नाम देते हैं। संयम यानी, यथार्थ की जमीन को अर्थ के आकाश से जोड़े रखने की चेतना से युक्त रहना।

ज़मीन को मज़बूती से पकड़े रखने और फिर भी आकाश में उड़ सकने की योग्यता पाने के लिए भाव-दशाएँ हमारी बहुत मदद करती हैं। वे संयम को साधे रखने के लिए धारण की जा सकती हैं, यो भाव भी धारण का ही एक हिस्सा हैं, वे हमारे, दूसरे से रिश्तों का सार

हैं। इस अर्थ में वे, सामाजिक यथार्थ का, सम्बन्धगत अन्तरंग हैं। जबकि संयम, इन सम्बन्धों का मूल्यगत सार है। भाव रिश्तों से उपजते हैं, संयम मूल्यों से जीवन में भावों की अभिव्यक्ति के दौरान, इसलिए संयम की जरूरत पड़ती है। बेहद भावुक लोग, कई दफा प्रेम या क्रोध के साथ इतनी दूर तक जा सकते हैं कि वे इन्हें ही 'अर्थ' या जीवन का आखिरी प्रयोजन मान लें। ऐसे लोग कई दफा ऐसी अतिवादी भावदशा में, जान तक दे देने की कोशिश कर सकते हैं। यह वैसा ही है, जिसे पतंजलि समाधि की अर्थमात्र भावदशा कहते हैं। वहाँ हमारी निगाह में स्वरूप या हम खुद रहते हैं। शेष सब शून्य हो जाता है। तो हम उस दशा में दुनिया को ही छोड़ जाने या आत्मघात करने भी हद तक जा सकते हैं। इसलिए समाधि की नहीं, संयम की जरूरत पड़ती है।

रिश्तों का यथार्थ ही अर्थमात्र हो कर, जमीन से रिश्ता तोड़े बिना हमें मिले—यह संयम है।

घिसी-पिटी जर्जर दुनिया की एक झाँकी

जॉक दरीदा

अनु.—रामकीर्ति शुक्ल

समय चूल से खिसक गया है। दुनिया हाल-बेहाल है। यह पुरानी हो गयी है लेकिन इसका पुरानापन बेमतलब है। बुढ़ापा अथवा जवानी—अब इस तरह नहीं सोचा जाता। दुनिया की उम्र एक जैसी नहीं है, एक से ज्यादा है। हमारे पास पैमाने का पैमाना नहीं है। हम पुरानेपन को अब महसूस ही नहीं करते, अब हम इतिहास के विकास में इसके किसी एक उम्र का ध्यान नहीं रखते। अब हम न उसके वार्धक्य पर, न ही संकट पर और न ही पीड़ा पर, किसी चीज पर ध्यान नहीं देते। जो घट रहा है वह खुद में ही घट रहा है, यह इतिहास के उद्देश्यवादी क्रम पर चोट कर रहा है। जो आने वाला है, जिसमें अ-समय दिखाई पड़ रहा है, वह समय पर घट रहा है लेकिन यह समय में नहीं घट रहा है। अनिष्टकारक घटना। समय चूल से खिसक गया है। नाटकीय सम्भाषण, दुनिया के इतिहास और राजनीति के रंगमंच के सामने हेमलेट का संभाषण। युग अपनी चूल से अलग हो गया है। समय सहित हरेक चीज बेकाम, अन्यायपूर्ण और गड़बड़ है। दुनिया बहुत बेढंगी चल रही है, बढ़ती उम्र के साथ यह घिस रही है जैसा कि, 'टाइमन आफ एथेन्स' (जो मार्क्स का नाटक है, है कि नहीं?) के प्रारंभ में पेंटर (एक चरित्र) कहता है। पेंटर का संभाषण, मानों वह किसी तमाशे की बात कर रहा हो अथवा किसी झाँकी को सामने रखकर बोल रहा हो: "दुनिया कैसी चल रही है? उम्र बढ़ने के साथ यह पुरानी होती जा रही है, श्रीमान्"।

विस्तार में, विकास में पुराना होते जाना, जिसका मतलब है कि विश्व का विश्वव्यापी होते जाना, किसी सामान्य, मानक अथवा मानवकृत प्रक्रिया का स्फुटन नहीं है। यह विकास का कोई चरण, कोई एक और संकट, कोई एक विकासगत संकट नहीं है क्योंकि विकास ही अशुभ है। यह अब विचारधारा के अंत, मार्क्सवाद के अंत का संकट अथवा नये पूंजीवाद का संकट नहीं रहा।

दुनिया की हालत खराब होती जा रही है, स्थिति अंधकारमय है, कोई इसे सियाह भी

कह सकता है। आइये, हम एक पूर्वकल्पना की कल्पना करें। मान लीजिये, समय के अभाव के चलते (तमाशा अथवा झांकी हमेशा “समय के अभाव के चलते” होता है), ‘टाइमन ऑफ एथेन्स’ के पेंटर की तरह हम महज चित्र बनाना प्रस्तावित करते हैं। किसी ब्लैकबोर्ड पर एक श्यामचित्र। शीर्षक “समय चूल से खिसक गया है अथवा दुनिया में आज जो गड़बड़ है”। शीर्षक में यह निर्णय करने से बचने के लिये कि गड़बड़ का अर्थ यातना है अथवा इसका अर्थ अन्याय अथवा अपराध है, हम इस तरह के निरर्थक शीर्षक को ज्यों का त्यों उसके तटस्थ रूप में छोड़ दें। इस तरह ब्लैकबोर्ड पर बनाये गये चित्र के इस शीर्षक के साथ हम कुछ उप शीर्षक भी जोड़ सकते हैं। क्या हैं ये उपशीर्षक? युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका अथवा दुनिया की स्थिति के इस कोयेववादी चित्र से किसी को भी पहले से ही धक्का लग चुका होगा। चित्र की आशावादिता पर पहले से ही निराशावाद का धब्बा लग चुका था। ऐसा कहना पहले से ही गुस्ताखी थी कि “‘वर्गहीन समाज’ के सभी सदस्य अब जो कुछ भी चाहें उसे अपनी इच्छा के विपरीत श्रम किये बिना विनियोजित कर सकते हैं। लेकिन आज उस निश्चित विचारहीनता के बारे में कोई क्या सोचे जिसमें पूंजीवाद अथवा आर्थिक और राजनैतिक उदारवाद की विजय, मानव राज्यव्यवस्था के चरम बिन्दु के रूप में पाश्चात्य उदार लोकतंत्र का सार्वभौमीकरण, सामाजिक वर्गों की समस्या का अंत का गुणगान शामिल हैं। आत्मा की शुचिता का कौन सा निराशावाद, किस तरह का उत्तेजित अस्वीकरण यह लिखने के लिये, भले ही उसमें विश्वास न करने के लिये प्रेरित कर सकता है कि “मानवीय गरिमा की पारस्परिक स्वीकृति के मार्ग में हमेशा और हर कहीं जो कुछ भी, अवरोध था उसे इतिहास द्वारा झुठला और दफन कर दिया गया है?”²

थोड़ी देर के लिये और सुविधा के लिये हम गृह युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के पुराने पड़ चुके भेद को मान लेते हैं। ‘गृह युद्ध’ शीर्षक के अंतर्गत क्या यह संकेत करना अभी भी जरूरी है कि संसदीय प्रकार का उदार लोकतंत्र विश्व में इतना अधिक अल्पमत और अलग-थलग कभी नहीं रहा है? कि जिन्हे हम पश्चिमी लोकतंत्र कहते हैं वहाँ यह इतनी पक्षाघातीय स्थिति में पहले कभी नहीं रहा है? चुनावी प्रतिनिधित्व अथवा संसदीय जीवन हमेशा की तरह तमाम सामाजिक-आर्थिक ढांचे द्वारा केवल विरूपित ही नहीं कर दिया गया है अपितु किसी सार्वजनिक क्षेत्र में संसदीय लोकतंत्र का अभ्यास अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है क्योंकि यह सार्वजनिक क्षेत्र प्रौद्योगिक प्रचारतंत्र की प्रणालियों, सूचना और संप्रेषण की नयी तरंगों तथा इनके द्वारा प्रतिनिधित ताकतों की युक्तियों और रफ्तारों तथा परिणामस्वरूप इनके द्वारा सक्रिय कर दी गयीं विनियोजन की नयी विधियों द्वारा घटना की नयी संरचना और घटना की उस प्रेतीयता के द्वारा अत्यधिक अस्त-व्यस्त कर दिया गया है। ये ताकतें जिसे पैदा करती हैं (अर्थात् आविष्कार करती हैं और इसे अद्यतन बनाती हैं, उद्घाटित करती हैं और प्रकट करती हैं) इसके घटित होने का कारण बनती हैं और इसे एक ही समय वहाँ सामने लाती हैं जहाँ वे पहले से ही उपस्थित हुये बिना उपस्थित होती थीं। यहाँ जिस पर हम बात कर रहे हैं वह है प्रेत के साथ उत्पादन की अवधारणा का संबंध।

यह रूपांतरण केवल तथ्यों को ही प्रभावित न कर तथ्यों की अवधारण को भी प्रभावित करता है और घटना की अवधारण को भी। चिंतन और निर्णय के बीच का संबंध बदला है, राज्य व्यवस्था की कार्यप्रणाली ही बदल गयी है, केवल इसकी तकनीकी दशा, इसके समय, इसके क्षेत्र और इसकी गति में ही नहीं अपितु, किसी के जाने बिना ही, इसकी अवधारणा में भी परिवर्तन आया है। यहाँ हम उन वैज्ञानिक, तकनीकी, और आर्थिक रूपांतरणों को याद

कर सकते हैं जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लोकमत और सार्वजनिक क्षेत्र की स्थानवैज्ञानिक (topology) संरचना पहले से ही बदल दी थी। इन्होंने केवल यह स्थानवैज्ञानिक (topology) संरचना ही नहीं बदली बल्कि स्थानविज्ञान की पूरी परिकल्पना को ही संदेहात्मक बनाना शुरू कर दिया, यह परिकल्पना कि कोई ऐसा स्थान और इस तरह लोक संभाषण, लोकवाद, अथवा लोक उद्देश्य के लिये कोई पहचाना जा सकने वाला और स्थिर किया जा सकने वाला स्थान कभी था भी, और जैसा कि प्रायः कहा जाता है, ऐसा करके इसने उदार, संसदीय और पूंजीवादी लोकतंत्र को संकट में डाल दिया और इसी क्रम में तीन प्रकार की ऐसी एकाधिकारवादी सत्ताओं के लिये रास्ता खोल दिया जो अनगिनत तरीकों से आपस में सहयोग करती, लड़ती और एक-दूसरे से हाथ मिलाती रहती थीं। आज इन रूपांतरणों का सीमाहीन विस्तार किया जा रहा है। इस प्रक्रिया का विस्तार से कोई-लेना देना नहीं है अगर विस्तार से यह मतलब निकलता हो कि यह एकरूपी और अनवरत होता है और जिसका सीमांकन नहीं किया जा सकता वह है वह छलांग जो हमें पहले ही प्रचार माध्यमों की उन ताकतों से दूर कर देता है जो 1920 के दशक के दौरान अर्थात् टेलिविजन के पहले, लोक क्षेत्र का गहन रूपांतरण कर रही थीं, निर्वाचित अधिकारियों के प्राधिकार और उनकी प्रतिनिधित्व-क्षमता को खतरनाक ढंग से कमजोर कर रही थीं और संसदीय विचार-विमर्श, चिंतन और निर्णय के क्षेत्र को सिकोड़ रही थीं। कहा तो यह भी जा सकता है कि ये प्रचार माध्यम उस चुनावी लोकतंत्र और राजनैतिक प्रतिनिधित्व को (कम से कम उसे जिस रूप में हम चुनावी लोकतंत्र और राजनैतिक प्रतिनिधित्व अब तक जान पाये हैं) प्रश्नांकित कर रहे थे। अगर पश्चिमी लोकतंत्र में पेशेवर राजनेताओं, यहाँ तक कि (राजनैतिक) दल के सदस्यों का सम्मान न करने की प्रवृत्ति मौजूद है तो इसका कारण केवल उस राजनेता अथवा राजनैतिक दल के सदस्य की कोई व्यक्तिगत अपर्याप्तता, कोई कमजोरी कोई अक्षमता ही नहीं है और न ही कोई ऐसा लोकापवाद जो अब (अर्थात् नये प्रचारमाध्यमों के कारण) अपेक्षाकृत अधिक दूर तक फैलाये, प्रचारित किये जा सकते हैं और वस्तुतः गढ़े जा सकते हैं और प्रायः मीडिया की ताकत द्वारा अगर पूर्वकल्पित नहीं तो प्रायः उत्पादित किये जा सकते हैं, ऐसा इसलिये है क्योंकि मीडिया के प्रतिनिधिकरणों में राजनेता ठीक उसी समय चरित्र बन जाते हैं जब मीडिया द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के रूपांतरण के कारण वे उस ताकत अथवा सक्षमता के तात्विक अंश को खो देते हैं जिसे उन्हें संसदीय प्रतिनिधित्व की संरचनाओं द्वारा, इस प्रतिनिधित्व से से जुड़े हुये दलीय ढांचों द्वारा प्रदान किया गया था। अपने आप में वे कितने ही सक्षम क्यों न हों, ऐसे पेशेवर राजनेता जो पुरानी परंपरा से चिपके हुये हैं आज संरचनात्मक रूप से अक्षम बन जाने की स्थिति में हो गये हैं। वही प्रचारतंत्र एक ओर राजनेताओं के ऊपर अक्षमता का आरोप लगाने, अक्षमता गढ़ने और उसे प्रचारित करने का काम ठीक उसी समय करता है जिस समय दूसरी ओर अपने पुराने राजनैतिक क्षेत्र (दल, संसद अथवा अन्य) में इनको (राजनेताओं को) मिली हुयी वैधानिक ताकत से महरूम करता है और दूसरी ओर टेलिविजन की वाग्मिता में उन्हें अगर पूरी तरह से कठपुतली नहीं तो पार्श्वछाया बन जाने को विवश कर देता है। जो अभी तक राजनीति के अभिनेता माने जाते थे वे अब, जैसा कि सभी को मालूम है, महज टी वी के अभिनेता बन जाने के खतरे से दो-चार हैं।¹ क्या अन्तर्राष्ट्रीय अथवा गृह-अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के शीर्षक के नीचे आर्थिक युद्धों, राष्ट्रीय युद्धों, अल्पसंख्यकों के बीच युद्धों, नस्लवाद और अंध-राष्ट्रवाद के उफानों, जातीय संघर्षों, तथाकथित लोकतांत्रिक योरप और पूरी दुनिया को तार-तार करने वाले सांस्कृतिक और धार्मिक युद्धों की बात करना अभी भी लाजमी ही है? प्रेतों की पूरी की पूरी पल्टनें, सभी युगों की

प्रेत सेनायें लौट आयी हैं लेकिन वे ढकी हैं संसदीय और उत्तरआधुनिक हथियारों के अतिरेक (सूचना प्रौद्योगिकी, उपग्रहों के द्वारा सारे विश्व की खुफियागिरी, आणविक खतरों आदि) के पुराने पड़ चुके लक्षणों से। हम चीजों को आगे बढ़ायें। मुश्किल से एक दूसरे से अलग किये जा सकने वाले अन्दरूनी और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के दो स्वरूपों से परे, इस धिसे-पिटे चित्र के काले रंग को हम और गाढ़ा कर सकते हैं। एक लक्षण के आधार पर हम उस चीज का नामकरण कर सकते हैं जिसके चलते उदार लोकतांत्रिक पूंजीवाद का अतिरेकी उत्साह किसी सर्वाधिक अंधे और विक्षिप्त दुःस्वप्न में बदल सकता है और मानव अधिकारों की इसकी औपचारिकता और वैधता का स्वांग करने वाली वाग्मिता किसी चकाचौंध से भरे पाखण्ड में बदल जाने के खतरे में पड़ सकती है। जैसा कि फुकुयामा सोचते हैं, “अनुभवाश्रित साक्ष्य” जुटाने भर से काम नहीं चलेगा, उन झुठलाये न जा सकने वाले तथ्यों के विशाल पुंज की ओर उंगली उठाना ही पर्याप्त नहीं होगा जिसका ब्योरा यह चित्र दे सकता है अथवा जिसकी भर्त्सना कर सकता है। बहुत अधिक संक्षिप्त रूप से यह उस विश्लेषण का मसला नहीं होगा जिसके आधार पर कोई इन सभी दिशाओं की ओर अग्रसर हो सकता है बल्कि यह मसला होगा दोहरी व्याख्या का, अथवा उन समवर्ती पढ़त का जिनकी अपेक्षा यह चित्र हमसे करता है और जिनके साथ यह हमें जोड़ना चाहता है। “नई विश्वव्यवस्था” की इन महामारियों को अगर दस शब्दों के टेलिग्राम में व्यक्त किया जाय तो वे दस शब्द शायद निम्नलिखित होंगे :

1. बेरोजगारी अर्थात् एक नये बाजार, नई प्रौद्योगिकियों, नई विश्वव्यापी स्पर्द्धा का कमोबेश सुविचारित विनियमीकरण (डि-रेगुलेशन), जिसके लिये श्रम अथवा उत्पादन की तरह निस्संदेह आज एक नये नाम की जरूरत होगी। इसलिये और भी क्योंकि टेली-कार्य इसके भीतर प्रदत्तों का एक नया सेट उत्कीर्ण करता है जो पारंपरिक गणना की प्रणालियों के साथ कार्य और अ-कार्य, क्रिया, रोजगार और इनके विलोमों के बीच के अवधारणात्मक विरोधों को व्यतिक्रमित कर देता है। इस तरह का नियमित विनियमीकरण एक ही समय अधिकृत, अनुमानित और समाजीकृत (अर्थात् लगभग हमेशा अस्वीकृत) और भविष्यकथन के लिये अनुपयोगी होता है - स्वयं पीड़ा की तरह, वह पीड़ा जो उस समय कहीं अधिक पीड़ित होती है, कहीं अधिक अनदेखे तरीके से पीड़ित होती है जब एक बार यह पुरानी दुनिया में, बेरोजगारी में और लंबे समय तक इस शब्द द्वारा नामित दृश्य में अपने को नहीं पहचान पाती, क्योंकि यह अपने परिचित मॉडलों और भाषा को गंवा चुकी होती है। सामाजिक अ-सक्रियता, काम का अभाव अथवा अपर्याप्त रोजगार का प्रकार्य अब एक नये दौर में प्रवेश कर रहा है। इसे एक नई राजनीति और एक नयी अवधारणा की जरूरत है। अपने अनुभव के रूपों और अपनी गणना में “नई बेरोजगारी” बेरोजगारी जैसी नहीं दिखती ठीक वैसे ही जैसे फ्राँस में जिसे “नई गरीबी” कहा जाता है वह अपने रूपरंग में गरीबी से मेल नहीं खाती।

2. राज्यों के लोकतांत्रिक जीवन में किसी भी प्रकार की भागीदारी से बेघर नागरिकों का विशाल स्तर पर अपवंचन, तमाम निर्वासितों, राज्यविहीन लोगों का देशनिकाला अथवा निष्कासन, और तथाकथित राष्ट्रीय परिक्षेत्रों के आप्रवासी पहले ही राष्ट्रीय अथवा नागरिक पहचान और सीमाओं का एक नया अनुभव उपस्थित कर रहे हैं।

3. स्वयं योरोपीय समुदाय के भीतर, पश्चिमी और पूर्वी देशों के बीच, योरप और संयुक्त राज्य अमरीका और जापान के बीच चलने वाला निर्मम आर्थिक युद्ध। अन्य युद्धों सहित यह युद्ध सब कुछ नियंत्रित कर रहा है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यावहारिक व्याख्या और इस कानून के भेदपूर्ण तथा असमान प्रयोग को नियंत्रित करता है। पिछले दशक और उसके अगले वर्षों में इस तरह के बहुत से उदाहरण मौजूद हैं।

4. मुक्त बाजार द्वारा अवधारित मानकों और यथार्थता के अन्तर्विरोधों को समझ पाने में असमर्थता (अपने नागरिकों, यहां तक कि पश्चिमवासियों अथवा सामान्य रूप से योरोपीय लोगों को सस्ते श्रम से बचाने के लिये पूंजीवादी देशों के संरक्षणवादी अवरोध और हस्तक्षेपी स्पर्द्धात्मक युद्ध, जिनसे बचने के लिये प्रायः कोई तुलनीय समाजिक संरक्षण नहीं है)। अपने “सामाजिक लाभों” इत्यादि को बचाने का दावा करने के साथ भूमंडलीय बाजार में अपने हितों की रक्षा कोई कैसे कर सकता है?

5. विदेशी ऋण में लगातार बढ़ोत्तरी और इससे जुड़ी हुई दूसरी व्यवस्थायें मानवता के एक विशाल समूह को भुखमरी और निराशा की ओर ढकेल रही हैं। ये व्यवस्थायें इस समूह को उसी समय उस बाजार से बाहर रखने के उपक्रम में लगी होती है जिस समय यह तर्कपद्धति उसके विस्तार में लगी होती हैं। इस तरह का अन्तर्विरोध उस समय भी क्रियाशील बना रहता है जिस समय तमाम भू-राजनैतिक उठापटक चल रही होती है भले ही यह उठापटक लोकतांत्रिक अथवा मानवाधिकारों के विमर्श के नाम पर थोपी जाती है।

6. हथियार उद्योग और व्यापार (चाहे पारंपरिक हथियारों की बात हो, चाहे आधुनिकतम प्रौद्योगिकी के उत्पादों की बात हो) पश्चिमी लोकतंत्रों में वैज्ञानिक शोध, अर्थव्यवस्था और श्रम के सामाजिककरण के सामान्य निर्धारणों के भीतर उत्कीर्ण हैं। किसी अकल्पनीय क्रांति की स्थिति के बिना, उपर्युक्त बेरोजगारी के बदतर होते रहने सहित तमाम बड़े खतरे उठाये बिना हथियार उद्योग और व्यापार को न तो निलंबित किया जा सकता है और न ही इनमें किसी प्रकार की कटौती की जा सकती है। (सीमित अर्थ में) ‘सामान्य’ व्यापार से अलग समझी जा सकने वाली हथियारों की तस्करी का जहां तक सवाल है तो यह, नशीले पदार्थों की तस्करी से भी बढ़कर और इससे लगभग जुड़ी हुई, दुनिया में सब से बड़ी तस्करी है।

7. आणविक हथियारों का फैलाव जिसे बरकरार रखने में वे सभी देश शामिल हैं जो कहते हैं कि इनसे बचने के लिये इनका जखीरा तैयार रखना जरूरी है। आणविक हथियारों का यह फैलाव तो अब राज्य की संरचनाओं के नियंत्रण के बाहर हो गया है। यह राज्य की संरचनाओं की ही सीमा नहीं पार कर चुका है अपितु प्रत्येक घोषित बाजार की पहुँच से भी आगे निकल गया है।

8. अंतर-जातीय युद्धों (और क्या कभी दूसरी तरह के भी युद्ध हुये हैं?) में बढ़ोत्तरी हो रही है और इनके पीछे समूह, राष्ट्र-राज्य, संप्रभुता, सीमा, जन्मभूमि और रक्त का पुरातनपंथी छलावा और अवधारणा, एक आदिम अवधारणात्मक छलावा, सक्रिय हैं। अपने आप में पुरातनवाद कोई खराब चीज नहीं होता, निस्संदेह इसके चलते कुछ वृहद् अवधारणाएँ और संसाधन बचे रहते हैं। लेकिन इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है कि यह अवधारणात्मक छलावा अपने ही द्वारा कल्पित सत्ता-स्थानविज्ञान (ontopology) में ही प्रौद्योगिक-तकनीकी द्वारा और अधिक विस्थापित-व्यतिक्रमित अनुपयोगी तथा पुराना बना दिया जाता है। (सत्ता-स्थानविज्ञान से हमारा तात्पर्य उन स्वयंसिद्ध मान्यताओं से है जो वर्तमान-स्थिति के सत्तामीमांसक मूल्य को इसकी स्थिति से, किसी स्थायी और उपस्थित किये जा सकने वाले निर्धारण, किसी परिक्षेत्र, आदि भूमि अथवा नगर से सघन रूप से जोड़ देती हैं)। ऐसी अश्रुत-पूर्व विधि से जो अधिकाधिक विभेदित और अधिकाधिक त्वरित है (यह त्वरण स्वयं है, अर्थात् मानवीय संस्कृति को अबतक अंतःनिर्मित करने के मानको से कहीं अधिक त्वरित) फैलने के बाद विस्थापन की यह प्रक्रिया उतनी ही ‘पुरातन’ है जितनी कि वह पुरातनता जिसे इसने हमेशा स्थानच्युत किया है। इसके अतिरिक्त यह उस स्थिरीकरण की सकारात्मक शर्त है जिसे यह अनवरत रूप से पुनः प्रारंभ

करती है। किसी स्थान में सभी तरह की स्थिरता स्थिरीकरण अथवा स्थानबद्धता होती है, अतः यह आवश्यक हुआ होगा कि स्थगन/विभेद (difference) किसी विस्थापन के अंतराल संचलन को प्रारंभ करता है, उसको स्थान देता और उसे उद्भावित करता है। सभी राष्ट्रीय मूलस्थता, (उदाहरणार्थ—विस्थापित अथवा विस्थपनीय) जनसंख्या की स्मृति अथवा चिंता में मूलस्थ होती है। केवल समय ही “चूल से खिसका” नहीं होता अपितु स्थान, स्थानकालिकता और अंतराल भी चूल से खिसक गए हैं।

9. इन अति-सक्षम और पूर्णरूप से पूंजीवादी प्रेत-राज्यों की बढ़ती हुयी, असीमित अर्थात् विश्वव्यापी ताकत को कोई कैसे नजरअंदाज किया जा सकता है जो पूर्वी योरप के भूतपूर्व तथाकथित समाजवादी राज्यों सहित प्रत्येक महाद्वीप में माफियाओं के गढ़ और नशीली दवाओं के भण्डार हैं? इन प्रेत-राज्यों ने हर जगह घुसपैठ की है और अपनी तुच्छता साबित की है और इस सीमा तक ऐसा किया है कि उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता, यहाँ तक कि लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से भी उन्हें स्पष्टतयः अलग ही नहीं किया जा सकता (उदाहरण के लिये, संक्षिप्तरूप से प्रस्तुत उस वर्गीकरण के बारे में सोचिये जो मुसोलिनीय राज्य के फासीवाद से लगातार परेशान किये गये और इस तरह घनिष्ठ और प्रतीकात्मक रूप से अटलांटिक के दोनों ओर के लोकतांत्रिक शिविर के मित्र राष्ट्रों के मित्र और उन इतालवी इसाई राज्यों के पुनर्निर्माण से जुड़े हुये हैं जो आज पूंजी के नये स्वरूप में प्रवेश कर गये हैं। पूंजी के इस नये रूप के बारे में कम से कम जो कहा जा सकता है वह यह कि वहाँ जो कुछ भी हो रहा है उसे हम तब तक बिल्कुल ही नहीं समझ सकते जब तककि हम इसकी पूरी वंशावली को ध्यान में नहीं रखते। ये सारी घुसपैठ एक ऐसे ‘क्रिटिकल’ दौर से गुजर रही हैं जिसके कारण ही हम इनकी बात करते हैं और इनका विश्लेषण करना शुरू करते हैं। ये छायाभासी राज्य केवल सामाजिक-आर्थिक ढांचे अर्थात् पूंजी के संचार पर ही हमला नहीं करते अपितु राज्यों अथवा अन्तर-राज्यों द्वारा संचालित संस्थाओं पर भी इनका दबदबा रहता है।

10. लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है अन्तर्राष्ट्रीय विधान और इसकी संस्थाओं की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण। अपनी सौभाग्यशाली पूर्णता और निस्संदेह विकास के बावजूद ये अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें कम से कम दो व्याधियों से ग्रस्त हैं। दोनों में प्रथम और सर्वाधिक उग्र व्याधि का सम्बंध इस तथ्य से है कि इन संस्थाओं के मानक, इनका उद्देश्यपत्र, इनके अभियान की परिभाषा एक प्रकार की ऐतिहासिक संस्कृति पर निर्भर हैं। वे एक प्रकार की योरोपीय दार्शनिक अवधारणों से, प्रमुख रूप से राष्ट्रीय संप्रभुता अथवा राज्य की उस अवधारणा से अलग नहीं किये जा सकते जिनकी वंशावली की परिसमाप्ति, सैद्धान्तिक-न्यायिक अथवा अनुमानगत तरीके से ही नहीं अपितु प्रत्यक्षतः और व्यवहारतः अतिसामान्य तरीके से भी स्पष्ट हैं। दूसरी व्याधि भी पहली व्याधि से मजबूती से जुड़ी है। सार्वभौमिक स्वीकृति से लैस यह अन्तर्राष्ट्रीय विधान व्यवहार में कुछ विशेष राष्ट्र-राज्यों द्वारा प्रभावित होता है। इन राष्ट्रों की प्रौद्योगिक-आर्थिक और सामरिक शक्ति लगभग हमेशा ही निर्णय लेती है और उन्हें लागू करती है। जैसा कि कहा जाता है, यही निर्णय बनाती है (इट मेक्स द डिजीजन)। नये और पुराने अनगिनत उदाहरण इसे भरपूर प्रामाणित करते हैं, फिर चाहे वह संयुक्त-राष्ट्र संघ में बहस का मसला हो अथवा प्रस्ताव पारित कराना अथवा इन प्रस्तावों को ‘लागू कराना’ हो। विधान के समक्ष राज्यों की असमानता, इन प्रस्तावों की असंगति और अनिरंतरता, अन्तर्राष्ट्रीय विधान की सेवा के लिये समय-समय पर अपेक्षित सैन्य-संसाधनों पर कुछ राज्यों का वर्चस्वः वर्ष-प्रतिवर्ष, दिन-प्रतिदिन हम इसे संज्ञापित करने के लिये विवश होते हैं।⁴ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की

अनुपयोगिता साबित करने के लिये ये तथ्य पर्याप्त नहीं हैं। इसके विपरीत यह उचित ही होगा कि इन संस्थाओं में कार्यरत उन लोगों के प्रति हम कृतज्ञ रहें जो इन संस्थाओं को सुधारने और मुक्त रखने की दिशा में प्रयासरत हैं और इस काम को कभी छोड़ा नहीं जाना चाहिये। इस तरह के लक्षण अभी भी कितने ही अपर्याप्त, भ्रमपूर्ण अथवा अस्पष्ट क्यों न हों, जिसे अस्पष्ट रूप से और पाखण्डपूर्ण तरीके से मानवीय कहा जाता है उसके नाम पर हस्तक्षेप अथवा दखलंदाजी के अधिकार पर जो विचार विमर्श हो रहा है, उसका अभिनंदन किया जाना चाहिये क्योंकि इस अधिकार की आड़ में ही कुछ स्थितियों में किसी राज्य की सम्प्रभुता को सीमित किया जा सकता है। हमें इन लक्षणों का स्वागत तब भी करना चाहिये जब कि हम इन नवोन्मेषों को विनियोजित अथवा गडमगडू करने के प्रयासों के प्रति चौकस निगाह बनाये हुये हैं।

यहाँ हम विचाराधीन विषय की तात्कालिक सीमा की ओर लौट रहे हैं। इस व्याख्यान माला को मैंने “नये इण्टरनेशनल” के उपशीर्षक के रूप में प्रस्तावित किया है जो उस गहन रूपांतरण का संदर्भ दे रहा है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधान, इसकी अवधारणाओं और इसके हस्तक्षेप के क्षेत्र में पिछले काफी लंबे समय के दौरान घटित हुआ है। जिस प्रकार मानव अधिकारों की अवधारणा शताब्दियों में फैली हुयी अनेक सामाजिक-राजनैतिक हलचलों (चाहे काम के अधिकार का मसला हो अथवा आर्थिक अधिकारों, स्त्रियों और बच्चों के अधिकारों आदि का मसला हो) से गुजरते हुये क्रमशः निश्चित की गयी है, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय विधान को भी लोकतंत्र और मानव अधिकारों के घोषित उद्देश्य के अनुरूप राज्यों तथा प्रेत-राज्यों की सम्प्रभुता का अतिक्रमण करते हुये विश्वव्यापी सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों को अपने भीतर समेटना चाहिये। ऊपर से ऐसा लगने के बावजूद हम यहां जो कुछ भी कह रहे हैं वह सीधे-सीधे राज्य-विरोधी नहीं है। प्रस्तुत और सीमित स्थितियों में महा-राज्य (सुपर-स्टेट), जो एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था हो सकता है, कुछ निजी समाजिक-आर्थिक शक्तियों की हिंसा और विनियोजन-वृत्ति पर अंकुश लगाने में हमेशा समर्थ हो सकता है। लेकिन राज्य और प्रभुत्वकारी वर्ग द्वारा इसके विनियोजन पर, राज्य शक्ति और राज्य तंत्र के बीच भेद पर, ‘राजनीतिक के अंत’ अथवा राज्य के क्षरण पर तथा दूसरी ओर, न्याय के प्रत्यय मार्क्सवादी विमर्श को (जो जटिल होने के साथ ही विकासमान तथा बहुवर्णी अथवा विषमांगी भी है) अनिवार्यतः पूरी तरह न स्वीकार करते हुये और साथ ही, अपने आप में न्याय के प्रत्यय पर किसी तरह का सवाल न उठाते हुये हमें न्यायव्यवस्था की कल्पित स्वायत्तता की आलोचना करने, और शक्तिशाली राष्ट्र-राज्यों द्वारा प्रौद्योगिक-वैज्ञानिक पूंजी, प्रतीकात्मक पूंजी तथा वित्तीय पूंजी, सार्वजनिक पूंजी और निजी पूंजी के संकेन्द्रण के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारों को व्यवहारतः कब्जे में लेने की निंदा करने की प्रेरणा मार्क्सवादी ‘आत्मा’ से अभी भी मिल सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान की इस संकटापन्न स्थिति के मद्देनजर एक “नये इण्टरनेशनल” की तलाश की जा रही है; यह पहले से ही मानव अधिकारों के उस विमर्श की सीमाओं की भर्त्सना कर रहा है जो नाकाफी और प्रायः पाखण्डपूर्ण होने के साथ ही मूलतः औपचारिक और तब तक अपनी मूल भावना के अनुरूप नहीं हो सकता जब तक बाजार का कानून, ‘विदेशी ऋण’ तथा प्रौद्योगिक-वैज्ञानिक, सैनिक और आर्थिक विकास में असमानता उस वास्तविक असमानता को बनाये रखती है जो आज व्याप्त असमानता जैसी ही दानवी है और जो मानवता के पूरे इतिहास में इतनी भयावह कभी नहीं रही है। आज जोर दे कर ऐसा कहने की जरूरत है क्योंकि कुछ लोग एक नई धार्मिक भावना के साथ यह प्रचारित करने का दुस्साहस कर रहे हैं कि उदार लोकतंत्र का आदर्श जो मानविय इतिहास का आदर्श है अब हकीकत बन चुका है। पृथ्वी

के और मानवता के इतिहास में इतने अधिक लोग हिंसा, असमानता, निष्कासन, अकाल और इस तरह आर्थिक दमन के शिकार कभी नहीं हुये। इतिहास के अंत के चलते पैदा हुये उन्माद में उदार लोकतंत्र के आदर्श तथा पूंजीवादी बाजार के आगमन पर स्वागत गीत गाने, 'विचारधाराओं के अंत' और महान मुक्तिकारी विमर्शों के अंत का उत्सव मनाने की जगह हमें यातना के असंख्य एकांतिक दृश्यों से निर्मित इस वृहत्तर तथ्य की अनदेखी नहीं करनी चाहिये। विकास का कोई भी रास्ता हमें यह नजरअंदाज करने की इजाजत नहीं देता कि इस पृथ्वी पर आज से पहले इतने पुरुष, स्त्री और बच्चे दमन, भुखमरी अथवा नेस्तनाबूदी के शिकार कभी नहीं हुये थे। (और थोड़े समय के लिये लेकिन अफसोस के साथ हम यहाँ उपर्युक्त तथ्य से किसी भी प्रकार अलग न किये जा सकने वाले इस सवाल को छोड़ दें कि इस इतिहास में तथाकथिक 'पशु' जीवन, 'पशुओं' के जीवन और अस्तित्व का क्या रूप बन रहा है। यह हमेशा गंभीर सवाल रहा है लेकिन अब इससे किसी भी प्रकार बचा नहीं जा सकेगा। "नया इण्टरनेशनल" केवल वह ही नहीं है जो इन आपराधों के मद्देनजर एक नये अन्तर्राष्ट्रीय विधान की तलाश कर रहा है। यह सम्बंध, पीड़ा और उम्मीद की अभी भी मौन लगभग सुप्त, कड़ी है जैसे 1848 के आस-पास यह थी लेकिन अब अधिकाधिक दृश्यमान हो गयी है, इसके एक से अधिक संकेत आज हमारे पास हैं। यह 'नया इण्टरनेशनल' एक असामयिक कड़ी है, जिसकी कोई प्रतिष्ठा, कोई पदवी अथवा कोई नाम नहीं है, जो गुप-चुप तो नहीं लेकिन बस काम भर का सार्वजनिक है, बिना किसी संविदा अथवा समझौते के, "चूल से खिसकी हुयी", किसी समन्वय, किसी दल, किसी देश, किसी राष्ट्रीय समूह (किसी राष्ट्रीय नियामन के पहले, उसके बीच से गुजरता हुआ और उससे परे का "इण्टरनेशनल"), किसी सहनागरिकता, किसी वर्ग से सामान्य जुड़ाव के बिना। "नये इण्टरनेशनल" का नाम यहां उसे दिया जा रहा है जो उन लोगों को, किसी संस्था के बिना, मित्रता के गठजोड़ के लिये बुला रहा है जो समाजवादी-मार्क्सवादी इण्टरनेशनल में, सभी देशों के सर्वहारा के सार्वभौमिक संगठन की लगभग मसीहाई-युगांतवैज्ञानिक भूमिका में या तो अब विश्वास नहीं करते अथवा कभी भी विश्वास नहीं करते थे लेकिन जो आज मार्क्स अथवा मार्क्सवाद की किसी एक आत्मा से प्रेरित हो रहे हैं (यह जानते हुए कि मार्क्स अथवा मार्क्सवाद की आत्मा एक से अधिक है) और जो एक नये, मूर्त और यथार्थ रूप में अपने को मित्रता के मोर्चे में सहभागिता के लिये, चाहे यह मोर्चा किसी दल अथवा श्रमिकों के इण्टरनेशनल के रूप में न होकर एक प्रकार का प्रति-अभिचार (सैद्धान्तिक और व्यवहारिक अर्थों में) ही क्यों न हो, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थिति की, राज्य और राष्ट्र की अवधारणों की क्रिटीक इत्यादि के लिये अपने को एक नये, मूर्त यथार्थ रूप में मैत्री-समूह में शामिल करना चाहते हैं: इस क्रिटीक के पुनर्नवीकरण के लिये और विशेषरूप से इस को क्रांतिकारी बनाने के लिये।

जिसे हमने कुछ देर पहले रहस्योदघाटन अथवा गणना करने के बहाने "ब्लैकबोर्ड चित्र", दस प्लेग, तथा इसके द्वारा घोषित शोक और प्रतिश्रुति कहा है उसकी व्याख्या करने की कम से कम दो विधियां हैं। एक ही समय में प्रतिस्पर्धी और असंयोज्य इन दोनों व्याख्याओं में से किसी एक का चुनाव कैसे किया जाय? हम क्यों चुन नहीं सकते? हम चुनाव क्यों नहीं कर सकते? दोनों स्थितियों में सवाल होता है मार्क्सवाद की किसी एक आत्मा (स्प्रिट) के प्रति वफादारी। यही, बस यही एक, दूसरा नहीं।

1. पहली व्याख्या जो सर्वाधिक क्लासिकी तो है लेकिन साथ ही उतनी ही विरोधाभासी भी, और जो फुकुयामा की भाववादी तर्कणा में अभी भी विन्यस्त है लेकिन कुछ अलग किस्म

के परिणाम निकालने के उद्देश्य से। थोड़ी देर के लिये हम इस परिकल्पना को मान लें कि जो कुछ भी आज की दुनिया में बेढंगा चल रहा है वह एक सीमा तक एक अनुभवाश्रित यथार्थ और एक नियमनकारी आदर्श के बीच की दूरी का परिणाम है चाहे उस आदर्श की फुकुयामा जैसी परिभाषा की जाय अथवा उस अवधारणा को चाकचिक्य के माध्यम से रूपांतरित कर दिया जाय। आदर्श का मूल्य और उसकी स्पष्टता पर भीतरी तौर पर अनुभवाश्रित यथार्थों की ऐतिहासिक अपर्याप्तता के नाम पर समझौता नहीं किया जायेगा। भाववादी परिकल्पना के भीतर भी एक प्रकार की मार्क्सवादी आत्मा का सहारा लेना जरूरी बना हुआ है और दूरी को यथासंभव कम करने और उसकी भर्त्सना करने के लिये, आवश्यक रूप से एक अनंत प्रक्रिया के भीतर 'यथार्थता' और 'भाववाद' के बीच ताल-मेल बिठाने के लिये इसकी आवश्यकता अनिश्चित समय तक बनी रहेगी। मार्क्सवादी क्रिटीक अभी भी फलदायी बनी रहेगी बशर्ते हमें यह मालूम हो कि नई स्थितियों के हिसाब से इसे कैसे अनुकूलित किया जा सकता है, फिर चाहे यह उत्पादन के नये रूपों का मसला हो या आर्थिक और प्रौद्योगिक-वैज्ञानिक शक्तियों और ज्ञान के विनियोजन, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के व्यवहार और विमर्श, राष्ट्रीयता और नागरिकता की नई समस्याओं आदि का मसला हो।

2. उपर्युक्त ब्लैकबोर्ड चित्र की दूसरी व्याख्या की तर्कपद्धति दूसरी होगी। 'तथ्यों' से परे, कल्पित 'अनुभवाश्रित साक्ष्य' से परे, जो कुछ भी आदर्श के अनुकूल नहीं है उससे परे, इस व्याख्या के अन्तर्गत कथित आदर्श की अवधारणा को, इसके कुछ मूल विधियों को ही सवालिया घेरे में डालना पड़ेगा। उदारण के लिये बाजार के आर्थिक विश्लेषण, पूंजी के सभी प्रकार (वित्तीय अथवा प्रतीकात्मक और परिणामतः प्रेतीय), उदार संसदीय लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व और मताधिकार के रूप, मानव अधिकारों, स्त्रियों और बच्चों के अधिकारों का नियामन करने वाली विषयवस्तु⁶, स्वतंत्रता, समता और विशेषकर बंधुत्व (जो सर्वाधिक समस्याग्रस्त है), गरिमा, व्यक्ति और नागरिक के बीच सम्बंध की प्रचलित धारणाएँ आदि इसकी सीमा में आ जायेंगे। मानवीय (और इसीलिये दैवी तथा पशु-सम्बंधी) अवधारणाओं और लोकतंत्र की कल्पना वाली इसकी नियामित अवधारण (यहां हम सभी लोकतंत्र अथवा भावी लोकतंत्र की बात नहीं कर रहे हैं) जैसी अवधारणाओं की अर्ध-साकल्यता भी इस के भीतर आ जायेगी। अब इस अंतिम परिकल्पना में भी एक प्रकार की मार्क्सवादी आत्मा की विरासत से प्रतिबद्धता एक कर्तव्य के रूप में बनी रहेगी।

मार्क्सवाद की आत्मा से प्रतिबद्धता के दो अलग-अलग कारण यहां मौजूद हैं। उन्हे एक-दूसरे में जोड़ने की बजाय उन्हें एक दूसरे जोड़ा जाना चाहिये। एक संश्लिष्ट और लगातार पुनर्मूल्यांकित की जाने वाली रणनीति में उन्हे शामिल किया जाना चाहिये। अन्यथा न तो पुनर्राजनीतिकरण हो पायेगा और न ही कोई राजनीति हो पायेगी। इस तरह की रणनीति के बिना, दोनों में से प्रत्येक कारण दुनिया की बुराई से बचाने के क्रम में हमें निकृष्टतम स्थिति की ओर अर्थात् नियतिवादी आदर्शवाद (भाववाद) अथवा अमूर्त और जड़ युगान्तविज्ञान की ओर मोड़ देगा।

तब फिर, मार्क्सवाद की कौन सी आत्मा? यह कल्पना करना आसान है कि, एक मार्क्सवादी को और उससे भी अधिक अन्य सभी लोगों को इसतरह मार्क्सवाद की आत्मा पर हमारे आग्रह से खुशी नहीं होगी, विशेषकर अगर हम यह समझाने की कोशिश करें कि हम आत्मा को बहुवचन के सार्थक रूप में और प्रेतों के अर्थ में, ऐसे असामयिक प्रेतों के अर्थ में प्रयोग करना चाहते हैं जिन्हे भगाने की बजाय उनकी क्रिटीक करने की, उनसे निकट बने रहने और उन्हे

वापस आने देने की बात करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त, हमें इस तथ्य से आँख नहीं चुराना चाहिये कि प्रेतों का निदेशन और उनका श्रेणीक्रम निर्धारित करने वाला चयनात्मकता का सिद्धान्त अपने क्रम में मारक बहिष्करण भी करेगा। अन्यो पर निगाह रखने की बजाय यह अपने पूर्वजों **ij fuxlg j [ksgqslgfo'V Hhdj nsk** और इसी क्षण, न कि किसी अन्य क्षण, वह ऐसा करेगा। विस्मरण (इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि अपराध भावना के साथ या फिर मासूमियत के साथ विस्मरण) द्वारा, पहले ही अवरोधन अथवा हत्या द्वारा इस तरह की निगरानी नये प्रेतों को जन्म देगी और यह ऐसा करेगी पहले से ही प्रेतों में से चुनकर, अपने ही प्रेतों में से अपने प्रेत चुनकर और मृतकों को मार कर। सीमितता का विधान, सीमित अस्तित्वों, एकमात्र जीवित लोगों के लिये निर्णय और उत्तरदायित्व का विधान, किसी निर्णय, किसी चुनाव, किसी उत्तरदायित्व का कोई अर्थ होता है, और ऐसा अर्थ जिसे अनिर्णयात्मकता की अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ेगा। यही कारण है कि यहां हम जो कुछ भी कह रहे हैं वह किसी को खुश नहीं कर पायेगा। लेकिन क्या किसी ने कभी ऐसा कहा है कि किसी दूसरे को खुश करने के लिये बोला, सोचा अथवा लिखा जाना चाहिये? और यहां जो संकेत करने का खतरा उठाया जा रहा है उसकी व्याख्या अगर कोई व्यक्ति मार्क्सवाद के समर्थन में देर से आये अंगविक्षेप के रूप में करता है तब उसे बड़ी बुरी तरह से गलत समझे जाने का खतरा उठाना पड़ेगा। फिर भी यह सच है कि मैं आज, यहां और अभी किसी अनिष्ट अथवा ताल रहित होने के प्रति तथा एक असामयिकता की शैली के प्रति पहले की तुलना में कमतर असंवेदनशील रहूंगा जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट होने के साथ कहीं अधिक ध्यान देने योग्य है। पहले से ही मैं लोगों को यह कहते हुये सुन रहा हूँ, “मार्क्स को सेल्यूट करने के लिये आपने ठीक समय चुना है” या फिर “समय का चुनाव ठीक ही है” या “इतनी देर से क्यों?” अनिष्टों के राजनैतिक महत्व में मेरा विश्वास है। लेकिन किसी अनिष्ट को “ठीक समय पर” घटित होने का संयोग नहीं मिल पाता अथवा यह सोचा-समझा संयोग नहीं होता तब किसी (राजनैतिक अथवा अन्य) रणनीति की अनुकूलता न्याय की साक्षी हो सकती है, कम से कम उस न्याय की साक्षी जिसकी मांग की जाती है और जिसके बारे में कुछ ही देर पहले हम यह कह रहे थे कि इसे अनिवार्यतः असमायोजित, सटीकता और विधान के लिये वृहद् होना चाहिये। लेकिन यहां वैसी निर्णयात्मक मनोवृत्ति नहीं है और हमें इन नारों के सपाट पने से अंततः अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये। जो निश्चित है वह यह कि मैं मार्क्सवादी उसी तरह नहीं हूँ जैसा कि एंगेल्स से मजाक में किसी ने कभी कहा था। क्या यह कहने के लिये कि “मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ” हमें मार्क्स को अधिकारिक साक्षी के रूप में अभी उद्घृत करना चाहिये? और कौन अभी भी ऐसा कह सकता है कि “मैं मार्क्सवादी हूँ।”

मार्क्स की किसी आत्मा से अब भी प्रेरणा लेते रहने का मतलब होता है उसमें विश्वास कायम रखना जिसने मार्क्सवाद को सिद्धांततः और प्रथमतः सदैव एक रैडिकल क्रिटीक बनाये रखा है अर्थात् वह प्रक्रिया जो अपनी आत्म-मीमांसा करने के लिये सदैव प्रस्तुत रही है। यह क्रिटीक सिद्धांत में और खुल कर अपने ही रूपांतरण, पुनर्मूल्यांकन, एवं आत्म-व्याख्या के प्रति स्वयं को खुला रखना चाहती है। इस प्रकार की आलोची “स्वयं चाहने” की बात अनिवार्यतः एक ऐसी जमीन से जुड़ती और जड़ जमाती है जो अभी आलोची नहीं हुई है भले ही वह अभी, अभी तक पूर्व-आलोची भी नहीं है। यह बाद वाली आत्मा शैली से अधिक कुछ और है चाहे वह शैली भी हो। यह ज्ञानोदय (इनलाइटेनमेण्ट) की आत्मा की वारिस है जिसे त्यागा नहीं जाना चाहिये। हम इस आत्मा को मार्क्सवाद की अन्य आत्माओं से अलग करेंगे, अर्थात्

उन आत्माओं से जो इसे मार्क्सवादी सिद्धांत के पिण्ड की ओर, इसकी कल्पित व्यवस्थागत, तत्वमीमांसीय अथवा सत्त्वमीमांसीय साकल्यता (प्रमुख रूप से इसकी “द्वन्द्वत्मक प्रणाली” अथवा “द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद”) की ओर, सामाजिक वर्गों, उत्पादन रूपों, और श्रम के विषय में इसकी मौलिक अवधारणों की ओर, और परिणामतः इसके उपकरणों के पूरे इतिहास (प्रक्षेपित अथवा यथार्थ मजदूर आन्दोलनों के इण्टरनेशनल, सर्वहारा की तानाशाही, एकमात्र दल, राज्य, और अंततः साकल्यकारी विरूपता) की ओर मोड़ देते हैं। क्योंकि, “अच्छे मार्क्सवादियों” की तरह बात करें तो मार्क्सवादी सत्तामीमांसा का विखण्डन मार्क्सवादी पिण्ड (corpus) के केवल सैद्धान्तिक-अनुमन्य तह का ही अनुवीक्षण नहीं करता अपितु हरेक उस चीज को भी ध्यान में रखता है जो विश्वव्यापी मजदूर आन्दोलन के तंत्रों और रणनीतियों के सर्वाधिक मूर्त इतिहास के साथ इस पिण्ड को सुसम्बद्ध करती है। और यह विखण्डन अंतिम विश्लेषण में कोई क्रमबद्ध अथवा सैद्धान्तिक प्रक्रिया नहीं होता। अपनी संभावनाओं में और साथ ही उस असंभावना के अनुभव में जिसने हमेशा इसे संघटित किया होगा, यह घटना के लिये कभी भी अजनबी नहीं होता, अर्थात्, जो घटता है उसके आगमन के प्रति अजनबी नहीं होता। कुछ वर्ष पूर्व अनेक सोवियत दार्शनिकों ने मास्को में मुझसे कहा था कि ‘प्रेस्त्रोइका’ का सर्वोत्तम अनुवाद विखण्डन होता है।

इस तरह के स्पष्ट रूप से तात्विक विश्लेषण के लिये जो मार्क्सवाद की उस आत्मा को अन्य आत्माओं से पूरी तरह से अलग कर लेगा जिसके प्रति हमें प्रतिबद्ध बने रहना चाहिये—और कोई भी खुशी से इस बात पर मुस्करा कर सहमत हो सकता है कि अन्य आत्माओं में लगभग प्रत्येक चीज शामिल है—हमारे प्रस्तुत विमर्श का निदेशी सूत्र एकमात्र प्रेत का प्रश्न ही होगा। स्वयं मार्क्स ने प्रेत के प्रश्न को, प्रेत की अवधारणा को कैसे सोचा था? उन्होंने इसे कैसे निर्धारित किया? और तमाम संकीर्णों और तमाम तरह के तनावों और अन्तर्विरोधों से गुजरते हुये कैसे उन्होंने इसे एक सत्तामीमांसा से बाँधा? प्रेत का यह मोह क्या है? इस बंधन का, इस सत्तामीमांसा का भौतिकवाद से, दल से, राज्य से, और राज्य के एकाधिकारवादी राज्य हो जाने से सम्बंध कैसा है?

क्रिटीक प्रस्तुत करना, अनवरत स्व-क्रिटीक के लिये आह्वान करना अभी भी प्रत्येक चीज और लगभग प्रत्येक चीज के बीच भेद करना है। अब अगर मार्क्सवाद की कोई ऐसी आत्मा है जिसे त्यागने के लिये मैं कभी भी तैयार नहीं होऊँगा तो यह केवल आलोची प्रत्यय अथवा सवाल पूछने की अवस्थिति (किसी सुसंगत विखण्डन को इन पर आग्रह करते रहना चाहिये भले ही इसे यह भी सीखना चाहिये कि यह अंतिम अथवा प्रथम शब्द नहीं है) ही नहीं है। इससे कहीं अधिक यह एक प्रकार का मुक्ति-कामी और मसीहाई संज्ञापन, इस प्रतिश्रुति का एक अनुभव है कि वह किसी मताग्रह ही नहीं अपितु किसी तत्वमीमांसीय—धार्मिक नियामन, किसी मसीहावाद से मुक्त होने का प्रयास कर सकता है। और किसी प्रतिश्रुति को अपने को पूरा करने की प्रतिश्रुति अवश्य देनी चाहिये, अर्थात् ‘आध्यात्मिक’ अथवा अमूर्तन न बने रहने की प्रतिश्रुति, बल्कि घटनाओं को जन्म देने, कर्म, व्यवहार, संगठन इत्यादि के नये प्रभावी रूपों को जन्म देने की प्रतिश्रुति। ‘दलीय रूप’ से, राज्य के किसी रूप से अथवा किसी इण्टरनेशनल से अलग होने का मतलब सभी प्रकार के व्यावहारिक और प्रभावी संगठन का त्याग नहीं होता। हमारे लिये महत्वपूर्ण है इसका ठीक उल्टा होना।

ऐसा कहना दो प्रभावशाली प्रवृत्तियों के विरोध में अपने को खड़ा पाना है। एक ओर कुछ उन मार्क्सवादियों (मुख्य रूप से फ्रेंच मार्क्सवादी अल्थ्युजे के निकट रहने वाले) द्वारा मार्क्सवाद

की बहुत सावधान और बहुत आधुनिक पुनर्व्याख्यायें जिनको यह विश्वास था कि उन्हें मार्क्सवाद को किसी भी प्रकार के सोद्देश्यवाद अथवा किसी प्रकार के मसीहाई युगांतविज्ञान (escatology) से अनिवार्यतः अलग करना चाहिये (लेकिन मेरी चिंता पहले को दूसरे से अलग करने की है)। और दूसरी ओर वे मार्क्सवाद-विरोधी व्याख्यायें जो इसे तत्वमीमांसीय अथवा सत्तामूलक-धार्मिक विषयवस्तु प्रदान कर अपना मुक्तकारी युगांतविज्ञान (escatology) निर्धारित करते हैं जो हमेशा विखण्डनीय होता है। विखण्डनवादी सोच जो इस समय मेरे लिये महत्वपूर्ण है संज्ञापन और इसी लिये प्रतिश्रुति की अलघुकरणीयता के साथ ही न्याय (प्रस्तुत संदर्भ में इसे विधान से व्यक्त करने के किसी विचार की अविखण्डनीयता का संकेत हमेशा करती है। इस तरह की सोच तब तक परिचालित नहीं हो सकती जब तक यह उग्र और अंतहीन असीमित (और जैसा कभी कहा जाता था, सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों) क्रिटीक के सिद्धांत को न्यायोचित नहीं सिद्ध कर देती। यह क्रिटीक अनुभव की उस प्रक्रिया से जुड़ी होती है जो आने वाले के पूर्ण भविष्य अर्थात् एक अनिवार्यतः अनिश्चय, अमूर्त और ऐसे मरुस्थलीय अनुभव के प्रति खुली होती है जो दूसरे और घटना की इसकी प्रतीक्षा के प्रति समर्पित होता है। औपचारिकता और अपने लिये अपेक्षित अनिश्चय में हमें इसके और किसी एक प्रकार की मसीहाई आत्मा के बीच एक तात्त्विक सम्बंध दिखई पड़ सकता है। यहाँ अथवा अन्यत्र हमने जो कुछ भी इग्जैप्रोप्रियेशन (सभी 'पूँजी' का, सभी सम्पत्ति अथवा विनियोजन का और साथ ही इस पर निर्भर रहने वाली अवधारणाओं का तथा मुक्त व्यक्तिनिष्ठता से प्रारंभ होने वाली और इस प्रकार इन अवधारणाओं द्वारा संरूपित मुक्ति की अवधारणा का उग्र अन्तर्विरोध) वह किसी भी तरह की दासता को न्यायसंगत नहीं बनाता। वास्तव में यह दासता का सटीक विरोधी है। दासता अपने को विनियोजन के साथ बांधती है। इग्जैप्रोप्रियेशन (exappropriation) दरिदा द्वारा गढ़ा गया शब्द है जिसका प्रयोग उन्होंने इस बात पर जोर देने के लिये किया है कि व्यक्ति और सम्पत्ति का सम्बंध नैसर्गिक नहीं होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी अथवा सम्पत्तिहरण का रूप होती है।

मार्क्सवाद की किसी आत्मा के प्रति वफादारी का यह भाव एक ऐसा उत्तरदायित्व है जो किसी के लिये भी निश्चित रूप से सिद्धांततः अनिवार्य है। समुदाय के रूप में मुश्किल से नामांकित किया जा सकने वाला 'नया इण्टरनेशनल'। केवल गुमनामी (अनामत्व) से जुड़ा है। लेकिन आज यह उत्तरदायित्व, कम से कम बौद्धिक और अकादमिक क्षेत्र की सीमाओं के भीतर, अधिक अनिवार्य रूप से तथा प्राथमिकता के आधार पर उन लोगों की ओर लौटता प्रतीत हो रहा है जो पिछले दशकों के दौरान एक विशेष प्रकार के मार्क्सवादी मतवाद के वर्चस्व का, इसके राजनैतिक और सैद्धांतिक रूप का, वस्तुतः इस की तत्वमीमांसा का प्रतिरोध करने में सफल रहे हैं। यह उत्तरदायित्व विशेष रूप से उनकी ओर लौटता प्रतीत हो रहा है जो प्रतिगामी, रूढ़िवादी अथवा नव-रूढ़िवादी, विज्ञान-विरोधी अथवा पुरातनपंथी लोभों का दृढ़ता से मुकाबला करते हुये मार्क्सवाद को समझाने और इसका अभ्यास करने पर आग्रह करते रहे हैं। यह उन लोगों का भी आह्वान कर रहा है जो, दूसरी ओर, अति-आलोची, अथवा, मेरे हिसाब से विखण्डनात्मक विधि से आने वाली शताब्दी एक नये ज्ञानोदय के नाम पर अनवरत रूप से आगे बढ़े हैं और ऐसा करते समय उन्होंने लोकतंत्र और मुक्ति के आदर्श को त्यागे बिना इसके बारे में नये ढंग से सोचने और इसे कार्य रूप देने का प्रयास करते रहे हैं।

एक बार फिर, उत्तरदायित्व किसी उत्तराधिकारी का होगा। इसे चाहने अथवा जानने अथवा न चाहने के बावजूद, सम्पूर्ण पृथ्वी के स्त्री पुरुष आज किसी न किसी रूप में मार्क्स

और मार्क्सवाद के उत्तराधिकारी हैं। या, जैसा कि कुछ देर पहले हम कह रहे थे, वे उत्तराधिकारी हैं परिपूर्ण एकक के साथ एक प्रायोजना के, एक प्रतिश्रुति के उत्तराधिकारी जिसका एक दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वरूप है। एक सकारात्मक धर्म के अर्थ में, यह रूप सिद्धांततः अ-धार्मिक है, यह मिथकीय नहीं है और इसीलिये राष्ट्रीय नहीं है, क्योंकि एक चुने हुये जनसमूह के सहकार से परे कोई ऐसी राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद नहीं होता है जो धार्मिक अथवा मिथकीय, अथवा व्यापक अर्थ में “रहस्यावादी” न हो। इस प्रतिश्रुति अथवा इस प्रायोजना का रूप पूर्णतयः अनोखा, अद्वितीय बना रहता है। इसकी घटना एक ही समय एकवाची, पूर्ण और मिटायी न जा सकने वाली होती है—अस्वीकार के अलावा और उस शोक कार्य के दौरान जो अपघात के प्रभाव को बिना मिटाये केवल स्थानच्युत ही कर सकता है।

इस तरह की घटना का कोई पूर्व उदाहरण नहीं है। मानवता के पूरे इतिहास में, संसार और पृथ्वी के पूरे इतिहास में, इतिहास नाम से अभिहित सामान्य रूप से उन सभी चीजों में इस तरह की घटना (यहां हम दुहरा दें, मिथक, धर्म और राष्ट्रवादी “रहस्यात्मकता” से अलग होने का दावा करने वाले दार्शनिक-वैज्ञानिक रूप में किसी विमर्श की घटना) पहली बार और घनिष्ठ रूप से सामाजिक संगठन के विश्वव्यापी रूपों (सार्वभौमिक उद्देश्यों वाला दल, श्रमिक आन्दोलन, राज्यों का महासंघ, आदि) से जुड़ी रही है। और यह सारा कुछ उस समय जब मनुष्य, समाज, अर्थव्यवस्था, राष्ट्र की अवधारणा तथा राज्य और इसके क्षण की अनेक अवधारणायें भी प्रस्वातित की जा रही हैं। इस घटना के बारे में, इसकी प्रायः भयावह असफलता के बारे में, तकनीकी-आर्थिक और पर्यावरणीय तबाहियों और इसके द्वारा जनित तानाशाही विकृतियों (जिन्हे कुछ लोग काफी लंबे समय से विकृतियां नहीं मान रहे हैं अर्थात् वे व्याधिगत अथवा आकस्मिक विकृतियां न होकर जन्म के क्षण पर मौजूद सारभूत तर्कणा का, जन्मगत वियोजन का अनिवार्य प्रयोग है - या इस परिकल्पना का विरोध न करते हुये अति संक्षेप में हम यूँ कह सकते हैं कि ये प्रेत की प्रेतीयता की सत्तामीमांसीय व्याख्या का प्रभाव है) के बारे में कोई कुछ भी सोचे, मानवीय स्मृति में आसन्न अपघात के बारे में कोई कुछ भी सोचे, यह विलक्षण प्रयास घटित हुआ था। एक मसीहाई प्रतिश्रुति ने इतिहास में एक आरंभिक और अनोखी छाप छोड़ी होगी भले ही वह उस रूप में चरितार्थ न भी हुई हो जिस रूप में उसे व्यक्त किया गया था, भले ही यह किसी सत्तामीमांसीय विषयवस्तु की ओर पूरे जोर-शोर से दौड़ गयी हो। हम इसे चाहें या न चाहें, इसके बारे में हमारी चेतना चाहे जैसी हो, हम इसके उत्तराधिकारी नहीं हो सकते। बिना उत्तरदायित्व के कोई भी विरासत नहीं होती। उत्तराधिकार सदैव ही किसी ऋण की पुर्नस्वीकृति होती है लेकिन एक आलोची, वरणीय एवं निथारने वाली पुर्नस्वीकृति और इसी कारण हमने अलग-अलग आत्माओं की बात की थी। “ऋण का राज्य” जैसा द्विअर्थी उपशीर्षक देकर हम निश्चय ही कुछ अपरिहार्य विषयों की घोषणा करना चाहते थे लेकिन इस सबसे ऊपर घोषणा करना चाहते थे ऐतिहासिक स्मृति में उकैरे मार्क्स और मार्क्सवाद जैसे व्यक्तिवाची नामों वाली आत्माओं के प्रति कभी भी न मिटाये और घुलाये जा सकने वाले ऋण की। जहाँ इस ऋण को नहीं भी संज्ञापित किया जाता है, जहाँ यह अचेत अथवा अस्वीकार्य बना रहता है, वहाँ भी यह ऋण अपना काम करता रहता है, खास तौर से राजैतिक दर्शन में जो निश्चित रूप से सम्पूर्ण दर्शन अथवा दर्शन के विषय पर सभी प्रकार के चिंतन की गुप्त रूप से संरचना करता है।

यहाँ हम विस्तार में न जाकर उदाहरण के लिये जिसे विखण्डन कहा जाता है उसके कुछ लक्षणों की चर्चा तक अपने को सीमित रखेंगे और इसकी चर्चा उस रूप में करेंगे जिस

रूप में इसने पिछले कुछ दशकों के दौरान कार्य किया है अर्थात् “व्यक्तिवाचक” का, शब्दकेन्द्रवाद (logocentrism), भाषाविज्ञानवाद (linguisticism), स्वरविज्ञानवाद (phonologism) की तत्वमीमांसा का विखण्डन, भाषा के स्वायत्तवादी वर्चस्व का विरहस्यीकरण अथवा वि-अवसादन (de-sedimentation) (एक ऐसा विखण्डन जिसके दौरान पाठ अथवा चिन्ह अथवा छाया (trace) की, उनके जन्मगत तकनीकीकरण की पुनरावृत्ति (iterability) की, क्षतिपूरक पूरक की एक नयी अवधारणा के साथ ही व्यक्तिवाचक और “अन्तर्विरोध” (इंग्लैप्रोप्रियेशन) की एक नई अवधारणा विस्तार से प्रस्तुत की जाती है)। मार्क्स-पूर्व किसी परिक्षेत्र में इस तरह का विखण्डन असंभव और अकल्पनीय होता। कम से कम मेरी जानकारी में एक प्रकार के उग्रीकरण (रैडिकलाइजेशन) के अलावा विखण्डन का और कोई उद्देश्य नहीं रहा है और जिसका यह भी मतलब होता है कि यह उग्रीकरण एक प्रकार के मार्क्सवाद की किसी एक परंपरा के भीतर, किसी मार्क्सवादी आत्मा के भीतर ही संभव हुआ है। इस तरह जिसे विखण्डनवाद के नाम से जाना जाता है वह मार्क्सवाद के उग्रीकरण का एक प्रयास है। (और कुछ लोगों के अनुसार, जिसमें भेदीय/स्थगनीय (differential) अर्थव्यवस्था और “अन्तर्विरोध” (इंग्लैप्रोप्रियेशन) की अथवा उपहार की एक प्रकार की आर्थिक अवधारणा उसी तरह की संगठनकारी भूमिका निभाती है जैसा कि भेद/स्थगन (differance) और सामान्यतया: शोक के कार्य से जुड़ी हुई कार्य की अवधारणा)। अगर मार्क्स के प्रति अपने संदर्भों की रणनीति में यह प्रयास विवेकशील और सावधान लेकिन शायद ही कभी नकारात्मक रहा है तो इसलिये क्योंकि मार्क्सवादी सत्तामीमांसा, मार्क्स नामक उपाधि, मार्क्स के माध्यम से वैधानीकरण अत्यधिक दृढ़ता से हस्तगत किया गया है। ये सभी एक प्रकार की रूढ़िवादिता, ऐसे तंत्रों और रणनीतियों में जोड़ दिये गये लगते थे जिनकी अधमतम त्रुटि केवल यही नहीं थी कि वे अपने रूप में किसी भविष्य से, स्वयं भविष्य से ही वंचित कर दिये गये थे। ‘जोड़ दिये गये’ से कोई भी समझ सकता है कि यह एक प्रकार का कृत्रिम लेकिन मजबूत जुड़ाव था जिसके घटित होने ने ही पिछली डेढ़ शताब्दियों से दुनिया के पूरे इतिहास और इस तरह मेरी पीढ़ी के पूरे इतिहास को निर्मित किया है। लेकिन कोई उग्रीकरण उस चीज का ही ऋणी होता है जिसे यह उग्र करता है।¹⁹ इसीलिये मैं मार्क्सवादी स्मृति और विखण्डन की परंपरा, इसकी मार्क्सवादी ‘आत्मा’ अथवा चेतना की बात कर रहा था। लेकिन यह मार्क्सवादी आत्माओं में से केवल कोई एक आत्मा अथवा बस कोई आत्मा भर ही नहीं है। इन उदाहरणों के विस्तार में जाने की आवश्यकता है लेकिन समयाभाव है।

यदि मेरे उपशीर्षक से “ऋण के राज्य” का रेखांकन हुआ है तो यह राज्य (State) अर्थात् राज्य की अवधारणा और ‘state’ अर्थात् किसी राज्य विशेष की अवधारणा को प्रश्नांकित भी करता है और यह काम तीन तरह से करता है। सबसे पहले, हम प्रायः इसे कहते रहे हैं, जहां तक मार्क्स और मार्क्सवाद का सवाल है, तो ऋण के राज्य की स्थापना कोई उसी तरह नहीं कर सकता जैसे स्थिर और सांख्यकीय विधि से कोई लेखा-जोखा अथवा विस्तृत दस्तावेज तैयार किया जाता है। इस तरह के लेखा-जोखा की तालिका नहीं बनाई जा सकती। किसी को किसी ऐसी प्रतिज्ञा से अपने को वचनबद्ध बनाना पड़ता है जो चुनती, व्याख्या करती और उन्मुख करती है। व्यावहारिक और निष्पादी विधि से और एक ऐसे निर्णय द्वारा जो किसी उत्तरदायित्व की तरह एक ऐसे निषेध के फंदे में फंसने से शुरुआत करता है जो पहले से ही बहुल, विषमांगी, अन्तर्विरोधग्रस्त, विभाजित है - और इसीलिये एक ऐसी विरासत जो हमेशा अपने रहस्य बरकरार रखेगी। और यह रहस्य होगा अपराध का, स्वयं इस अपराध-कर्ता का रहस्य। उसका रहस्य जो हेमलेट से उसके पिता का प्रेत कहता है—

प्रेत : मैं तुम्हारे पिता की छाया हूँ :
 एक निश्चित अवधि तक रात भर चलने,
 और दिन में आग की लपटों में बंधे रहने के लिये अभिशप्त
 जब तक मेरे वे जघन्य अपराध जल कर भस्म नहीं हो जाते,
 जो किये गये थे मेरे जीवन काल में
 पर बंधा हूँ मैं निषेधों से
 कह नहीं सकता अपने बंदी-गृह के रहस्य;
 उठा सकता था मैं पर्दा कहानी से (I , V) !¹⁰

प्रत्येक निशाचर प्रेत यहां पृथ्वी से आता और पृथ्वी की ओर लौटता सा लगता है, पृथ्वी से ऐसे आता है मानो वह किसी दफन की हुई गोपनीयता (किसी मकबरे अथवा धरती के गर्भ में छिपे बंदी-गृह) से आता है और फिर पृथ्वी पर ऐसे लौटता है मानो वह अतलतलम गहराई की ओर, अकिंचनता की ओर, गर्मी से लथपथ और अपमानित होकर लौट रहा हो। हम भी चुपचाप यथासंभव धीरे से किसी पशु के पृथ्वी की ओर लौटने से आंख बचा कर आगे निकल जायँ : किसी बूढ़े छळूंदर के रूप में नहीं (“ठीक कहा, बूढ़े छळूंदर”), न ही किसी साही के रूप में, ठीक से कहा जाय तो एक “बेचैन साही” के रूप में जिसे पिता की छाया “मांस और रक्त के कानों” से “शाश्वत कुलचिन्ह” हटाकर जादुई ढंग से गायब करने के लिये तैयार हो रही है।

दूसरा, एक और ऋण, लोकतंत्र, मानव अधिकारों पर सार्वभौमिक विमर्श, मानवता का भविष्य, आदि से जुड़े सारे सवाल केवल औपचारिक और पाखण्डपूर्ण बहाने तब तक पैदा करते रहेंगे जब तक कि “विदेशी ऋण” को एक उत्तरदायित्वपूर्ण, सुसंगत और व्यवस्थित ढंग से पूरी मजबूती से नहीं सोच लिया जाता है। इस नाम अथवा इस प्रतिकात्मक स्वरूप के साथ हम संकेत कर रहे हैं उस हित की ओर प्रथमतः सामान्यरूप से पूंजी के हित कर ओर अर्थात् आज की विश्वव्यस्था अर्थात् विश्वव्यापी बाजार के उस हित की ओर जिसने विश्व की जनसंख्या के विशाल हिस्से को अपने जुए में, एक नयी किस्म की गुलामी में जकड़ रखा है। राज्य के अथवा अन्तर-राजकीय स्तर के संगठनों में यह हो रहा है और उनके द्वारा इसे प्राधिकृत किया जा रहा है। आज, विदेशी ऋण की इन समस्याओं को - और इस अवधारणा से जो कुछ भी पहचाना जाता है उसको—बिना कम से कम मार्क्सवादी क्रिटीक की आत्मा के बिना, बाजार की क्रिटीक के बिना, पूंजी की विविध तर्कणाओं की क्रिटीक के बिना और राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान को बाजार के साथ जो जोड़ता है उसकी क्रिटीक के बिना नहीं समझा/सुलझाया जा सकता है।

तीसरा, अंतिम और परिणामतः राज्य, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्रीय सम्प्रभुता और नागरिकता की अवधारणाओं की गहन और आलोची पुनर्व्याख्या को निर्णायक बदलाव के किसी चरण के समरूप अवश्य होना चाहिये। निर्णायक बदलाव का यह कार्यभार मार्क्सवादी प्रश्न के एक सावधान और व्यवस्थित संदर्भ के बिना संभव नहीं हो सकता, चाहे राज्य, राज्य की शक्ति, राज्य-तंत्र, सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के सम्बंध में राज्य की कानूनी स्वायत्तता के छलावों के साथ ही एक ऐसे स्थान के बारे में भी जहां राज्य का प्रभुत्व नहीं है और जिसे अपने आप यह (राज्य) अपने प्रभुत्व में कभी नहीं ले पाया यदि राज्य के क्षरण या उसके पुर्नउत्कीर्णन के सम्बंध में, एक प्रकार से राज्य के पुर्नसीमांकन के सम्बंध में मार्क्सवादी निष्कर्षों का संदर्भ नहीं भी लिया जाय तो भी निर्णायक बदलाव की व्याख्या पूरी नहीं होती।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. टाइमन ऑफ एथेन्स, शेक्सपीयर का लिखा हुआ नाटक है और यह एक ऐसे आदमी की कहानी है जो तमाम लोगों से इस लिये घिरा रहता है क्योंकि उसके पास बहुत अधिक सम्पत्ति है। लेकिन जैसे ही उसकी सम्पत्ति समाप्त हो जाती है वैसे ही उसको घेरे रहने वाले लोग उसे छोड़ कर चले जाते हैं। मार्क्स ने इस नाटक को प्रायः उद्धृत किया है क्योंकि इसमें सम्पत्ति की निन्दा की गई है। प्रस्तुत उद्धरण नाटक के पहले अंक के पहले दृश्य की पंक्ति सं. 2-3 है।
2. यहां एलन ब्लूम का संदर्भ इसलिये दिया गया है क्योंकि उन्हें फुकुयामा का गुरु एवं प्रशंसक माना जाता है।
3. स्वयं द्वारा देखे गये टेली-प्रसारणों के आधार पर दरीदा का अपना निष्कर्ष। उनके अनुसार हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि मिडिया की ताकत और रफ्तार किसी स्थानीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय सटोरिये की ताकत बढ़ाने में किस तरह योगदान करती है। दरीदा के अनुसार यह सटोरिया या तो राष्ट्रीय मुद्रानीति की आलोचा करता है अथवा अकूत मात्रा में धन संग्रह करता है। टेलिफोन पर उसके द्वारा की गई बातों अथवा छिटपुट टिप्पणियों का दुनिया की विधायी संस्थाओं और सरकारों पर राजनैतिक निर्णयों पर अत्यधिक असर पड़ता है।
4. दरीदा इस बात पर जोर देते हैं कि अपने तमाम राजनैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और सैनिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिये तथा अपनी प्रशासनिक व्यवस्था बनाये रखने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह अपने सदस्य देशों पर निर्भर रहता है। वित्तिय अनुदानों के लिये वह अधिकांशतः सम्पन्न और विकसित देशों पर निर्भर रहता है। लेकिन ये देश समय पर वित्तिय सहायता उपलब्ध नहीं कराते। ऐसी स्थिति में राष्ट्रसंघ को निजी पूंजी का सहारा लेना पड़ता है और उसकी शर्तों को मानना भी पड़ता है। और इस तरह चाहे अनचाहे उसे बाजार के हितों का ध्यान रखना पड़ता है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि अनेक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की नियमावलियों में तमाम ऐसी धाराएँ-उपधाराएँ मौजूद रहती हैं जो प्रायः बाजार के हितों के अनुरूप रहती हैं। ये सवाल उठाये जा सकते हैं कि क्यों, कैसे और किस सीमा तक बाजार के हित इस संस्थाओं की कार्यनीति को प्रभावित करते हैं।
5. दरीदा के अनुसार इतिऐन व्लीबर ने अपनी पुस्तक (पेरिस, 1974) में 'राजनीति का अंत', 'राज्य की नई परिभाषा' और 'नया राजनैतिक व्यवहार' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया है।
6. 'स्त्रियों और बच्चों के अधिकारों' के उल्लेख के द्वारा दरीदा फ्रांसीसी राज्यक्रांति द्वारा घोषित 'मनुष्य के अधिकार' के उद्देश्य की व्याप्ति को विस्तृत करना चाह रहे हैं।
7. फ्रांस में यह परंपरा है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद अंतिम संस्कार के पहले शव की बड़ी सावधानी से रखवाली की जाती है।
8. न्याय और विधान के बीच अंतर करना जरूरी होता है। इस तरह का अंतर अनिवार्य होता है। विशेष रूप से कई स्थानों पर कई देशों में न्यायिक शून्य की चर्चा की जाती है मानों इस शून्य को व्यवस्था में नीचे से ऊपर तक सबकुछ को पुनः व्यवस्थित किये बिना भरा जा सकता है। इस बात से आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि इस संदर्भ में सम्पत्ति और जीवन की प्रकृति के सवाल मुख्य रूप से आते हैं। यह विश्वास करना कि इस न्यायिक शून्य को किसी भी तरह से भरा जा सकता है, यह कहने के बराबर है कि नैतिकता के सवालों को किसी नीति समिति को सौंप दिया जाना चाहिये। जबकि हकीकत में इसके अंतर्गत मानव जैविकी, जैविकी चिकित्सा, अंग-प्रत्यारोपण, मातृत्वदान (surrogate motherhood) जैसी समस्याओं से जुड़ी कानूनी जटिलताओं का संदर्भ होता है।
9. रेडिकलाइजेशन (उग्रीकरण) के बारे में दरीदा ने अपनी पुस्तक में एक लम्बी टिप्पणी दी है।

इस शब्द को बहुत उपयुक्त न मानते हुये भी वे कहते हैं कि इस शब्द से किसी न किसी रूप में आगे बढ़ते रहने और अवरोधों की चिंता न करने का संकेत मिलता है। उनके अनुसार इस संदर्भ में जो चीज दांव पर लगी है वह है मूल उत्पत्ति का क्षण, जहां तक जाना होता है और जिस ओर कदम बढ़ाया जाना होता है ताकि उन सवालों, वंश मूलक व्याख्याओं की प्रक्रियाओं को जाना जा सके जिन्हे ऐसे विमर्शों में प्रमुखता दी जाती है जो अपने को मार्क्सवादी कहते हैं। दरीदा के अनुसार प्रेत की अवधारणा जिसे बहुत पहले पहचान लिया गया था इस बात को दिशा दे सकती है। दरीदा की सोच में 1970 के पश्चात् मार्क्सवाद और विखण्डनवाद के बीच के संबन्धों को लेकर कई दृष्टियाँ सामने आयी हैं जिनके उन्नायकों में टी. कीनन, टी. लेविस, बी. मार्टिन, ए. पार्कर और माइकेल रेयॉन के नाम शामिल हैं।

10. दरीदा का मानना है कि यहां जिन 'जघन्य अपराधों' की बात राजा का प्रेत कर रहा है उन्हें करने वाला वह स्वयं था अथवा कोई अन्य। यही 'रहस्य' है जिसे प्रेत 'मेरे बंदीगृह के रहस्य' के द्वारा संकेतित कर रहा है। दरीदा के अनुसार शेक्सपीयर के नाटकों में 'शपथ', 'प्रतिज्ञा', 'निषेधादेश' और 'अभिचार' की भरमार है और इन सबके पीछे कोई न कोई रहस्य है लेकिन रहस्य के दो अनुभवों के बीच किसी पूर्ण अंतर्विरोध का रहस्य भी इसी रहस्य में छिपा रहता है : 'मैं तुमसे कह रहा हूँ कि, मैं तुमसे कह नहीं सकता, मैं शपथ लेता हूँ कि वह मेरा पहला अपराध है और मेरा पहला अपराध-स्वीकार, अपराध-स्वीकार के बिना अपराध-स्वीकार। विश्वास करो कि इनमें किसी दूसरे प्रकार को बाहर नहीं रखा जा रहा है'।

छः कविताएँ

विवेक निराला

स्थगित

लोग जहाँ-तहाँ रुक गए
बन्द हुआ
ईश्वर का सारा रोज़गार।

नदियों में न प्रवाह रह गया
न ज्वालामुखी में दाह
एक कराह भी थम गई।

प्रदक्षिणा दक्षिण में ठहर गई
और अवाम के लिए
तय बायें रास्ते पर
बड़े गड्ढे बन चुके हैं।

एक ही भभकती लालटेन
अपने शीशे के और काले होते जाने पर
सिर धुनती निष्प्रभ पड़ी है।

क्षण भर के लिए
आसमान से कड़की और चमकी

विद्युत में रथच्युत योद्धा
लपक कर लापता हुए।

जीवन अब भी अपठित है
मृत्यु अलिखित और
समय अभी स्थगित।

मुक्ति-पर्व

घाट पर कुछ सीढ़ियाँ थीं
कुछ तो दिख रही थीं
और कुछ जल में डूबी हुई।
जल में कुछ पत्ते थे
कुछ फूल और कुछ राख थी।

पानी ठण्डा था और
राख अब तक गर्म।
घाट पर कुछ लोग भी थे मगर
अपने-अपने कामों में व्यस्त।

सीढ़ियों से होकर ही
चढ़ना होता था और उतरना भी।
अभी उनमें कुछ परिन्दे बैठे थे
जिन्हें कहीं पहुँचने की जल्दी नहीं थी।
घाट पर पण्डे थे
अपने रंग-बिरंगे झण्डों के साथ
उनके पास चन्दन और
तिलक का पूरा इन्तज़ाम था।

उनमें क्षोभ था, व्यंग्य था
सदाशयता नहीं थी
मुक्ति कविता में थी और
कविता घाट के बाहर कहीं थी।

मेरा कुछ नहीं

मेरे हाथ मेरे नहीं हैं
उन पर नियोक्ता
का अधिकार है।

मेरे पाँव मेरे नहीं
उन पर सफर लिखा है
जैसे सड़क किनारे का वह पत्थर
भरवारी—चालीस कि.मी.।

तब तो मेरा हृदय भी मेरा नहीं।

फिर तो
कुछ भी नहीं मेरा
मेरा कुछ भी नहीं
वह ललाट भी नहीं
जिस पर गुलामी लिखा है
और प्रतिलिपि से
नत्थी है मेरी आत्मा।

अयोनिज

मैंने अपने एक दोस्त को
आवारा कहा
तो वह एक पंछी में
तब्दील होने लगा।

उसने कहा कि
किसी बहेलिए के आने तक
वह मेरा शुक्रगुज़ार रहेगा।

उस दोस्त की गरदन
एक दूसरे दोस्त ने पंछी की तरह
पकड़ ली।
पहला बोल नहीं पा रहा था इसलिए
बार-बार अपना

सिर झटक रहा था ।

बीच-बचाव करने आए
तीसरे दोस्त ने दोनों को अलग
करते हुए चूतिया कह दिया ।

उसके इतना कहते ही
अभी तक कुछ भी
न बोल पाने से सिर झटक रहे
दोस्ते ने जोरदार आपत्ति की
इस शब्द पर
तीसरा अपना माथा थाम कर
रोने लगा तब जाकर
चौथे ने स्पष्ट किया कि
हममें से अयोनिज कोई नहीं ।

हिजड़े

उनका लिंग अब भी तय नहीं ।

उन्हें होना तो था केन्द्र में
लेकिन, धकेल दिए गए
वे परिधि से बाहर साजिशन ।

वे किसी विमर्श में
नहीं शामिल किए गए ।

एक फटी आवाज़ में मंगलगीत
थोड़ा सा नाच और
एकाध साज़ के सहारे
वे पृथ्वी की खाली जगहें असीसों से भरते हैं ।

इस सृष्टि में उन्हें
भले ही अधूरा समझा जाए
मगर उनके आने से
उल्लास के आकश में
मुस्कराता है पूरा चांद ।

लेखन

एक जालिम तानाशाह
के ठण्डे निजी कमरे से
बरामद कुछ चीज़ों में
एक डायरी और कुछ कभी न भेजी गई
चिट्ठियाँ थीं जो
शायद उसकी प्रेमिका को सम्बोधित थीं।

डायरी के हर पन्ने पर
लिखावट
आँसुओं के रंग की थी
चिट्ठियाँ का हर अक्षर
भावुकता से भीगा था।

अगर अनुमान भी प्रमाण है
तो हर हत्या के बाद
संवेदनशील और
हरेक चिट्ठी के बाद और निर्मम
होता जाता तानाशाह
जब लिखता था
तो अपने लेखन में
वह हत्यारा क्यों नहीं दिखता था?

चार कविताएँ

शैलेन्द्र चौहान

विरासत

गाँव में हुआ जब
पहला खून,
पहली डकैती,
पहला बलात्कार

यद्यपि कुछ भी
पहली बार नहीं हुआ था
उनकी याददाश्त की
समय सीमा ही थी वह

सन्न थे सब
अवाक् !
लगा था उन्हें आघात
भय से पीले पड़ने की
हद तक
धीरे-धीरे वे सहज हुए
फिर बाद को
उनकी संतानें
अभ्यस्त हो गईं
ऐसी वारदातों की

विवश पशु

चरागाह सूखा है
निश्चिंत हैं हाकिम-हुक्काम
नियति मान
चुप हैं चरवाहे
मेघ नहीं घिरे
बरखा आई, गई
पशु विवश हैं
मुँह मारने को
किसी की खड़ी फसल में
हँस रहे हैं
आकाश में इन्द्र देव

अतीत

इतने डरावने भी नहीं थे
सब दिन
ललमुनिया नाचती थी
पहन कर लाल लहंगा,
लाल चूनर

चिड़िया सी फुदकती
लचकती बेल सी
बच्ची सी चहकती
जवान ललमुनिया
(किशोरी भी हो सकती है)
मजा ला देती

किसी ने उसका
हाथ नहीं पकड़ा
पैसे नहीं फेंके
किसी ने नहीं कहा
'हाय मेरी जान!'
नहीं कहा किसी ने रात रुकने को
उल्टे भूरे काका ने
सर पर हाथ रखकर
ढेरों आशीर्वाद दिए
बहू की एक धोती दी

डेढ़ मन अनाज दिया

कसे हुए जवान, पट्टे बैलों को
छकड़े में जोतकर
चारों तरफ कपड़ा लगा
बेटी की तरह ललमुनिया को
बिदा किया
ललमुनिया की आँख से
बह निकला समुंदर

दो बूँदें उँगली से झटक
काका ने लगाई
एड़ बैलों को

परिवर्तन

कई बार
झुंझलाया हूँ मैं
सड़क के किनारे खड़ा हो
न रुकने पर बस
गिड़गिड़ाया हूँ कई बार
बस कंडक्टर से
चलने को गाँव तक
हर बार
कचोटता मेरा मन
कसमसाता
आहत दर्प से गुजरता मैं
तेज गति वाहनों से
देखता इंतजार करते
ग्रामवासियों को
किनारे सड़क के
नहीं कचोटता मन
न आहत होता दर्प
सोचता
नहीं मेरे हाथ में लगाम
न पैरों के नीचे ब्रेक
नहीं
अब कोई अपराध बोध भी नहीं
मेरे मन में

तीन कविताएँ

वंदना मिश्रा

वो किसी छोटी बात से

वो किसी छोटी बात से शुरू
लड़ाई के बाद का सुस्ताता सा क्षण था
हाँफता सा, जैसे दरवाजे, खिड़कियाँ सब
अपने स्थान से मानों अपना शरीर बचाते हुए
थोड़ा अलग हटकर शब्दों के गोलों को दे रहे थे जगह
रूई के फाहों सा बिखरा उधड़ा पड़ा था रिश्ता
अपनी परत को फाड़ आवारा सा
ऐसे क्षण के चरम की तरह कहा गया वाक्य
कि अब नहीं रोकना तुम्हें
कि अब रहो स्वतन्त्र अपनी तरह
हालाँकि यह कहा गया वाक्य दुनिया का
तमाम दर्द अपने चेहरे पर लाते हुए
इतना कि लड़ने वाले का मन हो उठा
इतना कातर कि दौड़कर भर ले उस चेहरे को अपने हाथों में
कितनी उदास हो जाएगी दुनिया
यदि टोकना छोड़ दिया उसे तुमने
कहाँ भटकेगा तुम्हारे दिल से निकाला हुआ
और उस भटकन का आनन्द तो तभी है
जब चिढ़ जाओ तुम

तुम्हारे ताने तुम्हारी शिकायतें, कोसना
सब स्वीकार है उसे, पर तुम्हारा मौन
नहीं सह पाएगा, एक बार कह दो
कि फिर लड़ोगी तुम उसी अधिकार से
अगर मौन रही, इसी तरह तो अपना नाम तक भूल जाएगा
सारी लड़ाई से उतना नहीं टूटा
जितना इस वाक्य से
जैसे घोषणा हो रिश्ता
खत्म होने की
कह दो कि रोकोगी तुम

वह एक ऐसी लड़की थी

वह एक ऐसी लड़की थी
जिसने लड़की होने के सारे प्रतिमान तोड़ दिए
कभी नहीं नवाज़ा गया उसे अच्छी लड़की
के विशेषण या ऐसे विशेषणों को उसने
कभी नहीं लगाया पैबन्द की तरह अपनी खुशियों की चादर पर
वह लहराकर जीती रही
उसने जी भर के अभिया तोड़ी, उसकी हथेली पर टूटी कई छड़ियाँ
कई दिन उसे निकाल दिया गया कड़ी धूप में
जिसे छाँव की तरह मान उसने बनाया घरोंदा
गुड़ियों का, यहाँ तक उसे सज़ा देने वाले भी थक गए और मान लिया उसे असाध्य
उसने कभी नहीं की कोशिश लड़की की तरह रहने की, कोशिश तो लड़के की
तरह रहने की भी नहीं की
पर कहते रहे लोग ऐसा कि जीती है लड़के
की तरह
कैसी लड़की थी वह जो सिर्फ जीती रही भरपूर
जीवन अपनी तरह, लड़के लड़की के विशेषण से मुक्त हो,
उसने परवाह नहीं की लोगों की, हाँ लोग ही उसे नए-नए साँचे में फिट करने
में परेशान रहे और हर मज़बूत साँचा टूटता रहा उसकी खिलखिलाहट से।

दो लोग थे

दो लोग थे जिन्हें एक दूसरे को देखे बिना चैन नहीं था और लोगों को उन्हें
देखते देख कर चैन नहीं था वो कर सकते थे, एक दूसरे के लिए कुछ भी और
कहा गया उनसे कि भले ही करें कुछ भी दूसरों लिए, पर कर न पाएँ कुछ भी
एक दूसरे के लिए।

लोगों ने शर्त रखी एक दूसरे से दूर रखने की और बाँध दिया उन दोनों के साथ,
ऐसे दो लोगों को, जो छू नहीं पाए कभी उन दोनों का, वह दुखता हिस्सा। जिस
बड़ी मुश्किल से छिपाए थे वे, मानों उस हिस्से पर हक हो सिर्फ़ उनका।
जैस उसी हिस्से के कारण जुड़े हो वे दोनों प्रेम की जड़ इतनी मार्मिक कि टूटकर
भी नहीं टूटने देती उन दोनों को।

स्त्री ने कहा

स्त्री ने कहा सारे जीवन इंतजार करूँगी
में तुम्हारा
पुरुष ने कहा करती रहो
और जाँचता रहा उसके इंतजार को
बीच-बीच में, और जब
आश्वस्त हुआ तो, और दूर होने लगा
स्त्री ने कहा तुम किसी के भी रहो
पुरुष किसी और का हो गया
बिखर गई स्त्री
धूल से सनी पगली सी रोती
उस स्त्री को उठाया किसी अन्य पुरुष ने
और धो पोंछ कर बैठा दिया पुनः
अब जाँच करता पुरुष तमतमा उठा क्रोध से
प्रेम करती स्त्री उसे बड़ी फ़ाहशा लगी
बड़ी खतरनाक
तमाम शहर में चीखता घूम रहा है पुरुष
उस स्त्री की बेवफ़ाई की चर्चा में।

पाँच कविताएँ

अस्मुरारी नंदन मिश्र

गिनती के बाहर

उनकी गिनती तीन तक जाती थी
और मैं पहले दूसरे तीसरे में नहीं था

मेरे पहुँचने के पूर्व ही गिर चुकी थी वह रस्सी
जिसे सीने से धकेल उछल पड़ा था प्रथम
ठीक पीछे दूसरे और तीसरे भी थे
सभी के चहरे पर उल्लास था
सभी खुश थे

मैंने बस पार की अंतिम लकीर
लेकिन इसने भी अर्थ खो दिए थे तब तक
मेरी मांसपेशियाँ सहलाने वाला कोई नहीं था
किसी ने भी नहीं दी सांत्वना—
कि कुछ और तेज दौड़ना था
किसी ने उत्साह नहीं दिया
कि अभ्यास जारी रखो एक दिन तुम भी फर्स्ट होगे

तालियाँ जरूर कुछ मेरे लिए भी बजी होंगी
लेकिन मुझे नहीं पता

समय के किस बिंदु के बाद वे शिथिल हो गयी होंगी
या कर लिया हो दल-बदल

हम जो पहले तीन में कहीं नहीं थे
बिलकुल अपनी संवेदना, इच्छा और विश्वास पर
अकेले खड़े रह गए थे वहां
बचे रहने की तरह थे हम
और सारी भीड़ जश्न में डूब चुकी थी
क्योंकि रहना ही था किसी न किसी को
प्रथम
द्वितीय
तृतीय

यूँ हम भी कोई देह चोर नहीं थे
नहीं दिखाई थी थोड़ी भी उदासीनता
हमने भी पूरी ताकत लगा दी थी
झोंक ही दिया था खुद को
लेकिन अब हमारे लिए कुछ नहीं था वहां

अब हमें आगे जाना था
अपनी ही संवेदना इच्छा और विश्वास के सहारे
हमें कोई नहीं जानता था

सारी दुनिया पहले दूसरे और तीसरे के जश्न में साथ थी

मेले के बाद

मेले के बाद क्या बचता है मेले की जगह
रौंदी हुई जमीन
बिखरे बांस बल्ली
कागज गत्ते पोलीथिन
रस्सी जाले चिथड़े
फटे हुए पोस्टर
उच्छिष्ट, अपशिष्ट, अवशिष्ट
उजाड़ और विरानियाँ
उलझन और फिसलन
सड़ांध और उबकायियाँ
वैसी बहुत सारी चीजें जो मेले के रौनक के बाद बच जाती हैं

वमन की तरह
अग्राह्य और घृणित,

इन्ही-इन्ही चीजों के साथ जीवन बिताती है
दुनिया की एक बड़ी आबादी
जबकि उनके जीवन में कभी मेला भी नहीं लगा..

कौन जान दे जाकर

बरसात में तो कोई नहीं जाना चाहता वहां
जैसे - जैसे एक कच्ची सड़क पहुँची है
फिर भी धारणा यही है...
गाँव तक जाने के लिए
नापना ही होता है
कमर तक पानी

ठण्ड की बात कौन कहे
गाँव है
सीधी हवा लगती है
दांत कट-कटा देने वाली ठण्ड
हितई है तो होती रहेगी
और दिन...
अभी नहीं

गर्मी में भी कम दिक्कत थोड़ी है
पहाड़ तप जाता है
धूल धक्कड़
सनसनाती लू
और गाँव तक पहुँचने के लिए गाड़ी तक नहीं मिलेगी
ठेले को रिक्शा कहते हैं लोग
सामानों के साथ खुद भी बैठ जाते हैं
जनानी ठेले से ही जाती है
ऊ भी उतरना पड़ता है गाँव-बाहर ही

बाप रे बाप
गर्मी की रात
बड़े-बड़े डंक वाले बिच्छू निकलते हैं
साँप की भी कौन कहे वह तो

तीनों मौसम
बारो मास
कभी भी प्रगट हो जाते हैं
कभी भी अलोप

तर-त्यौहार भी क्या मनेगा
दशहरे में दुर्गा जी
दीवाली में लक्ष्मी जी
लाउड स्पीकर पर आरती
न तो हनुमान चालीसा
कोई थर-थियेटर नहीं
मीना बाजार नहीं

दीवाली की रात पहले नाटक होता था
अब सुना है सी.डी. देखते हैं लोग
होली तो एकदम से जाने का दिन नहीं है
कीचड़ फेंकते हैं
एक दूसरे पर
नाली वाला
भांग पी ढोलक-झाल पर जम कर गाते हैं फाग
गोरिया के सिंगार वाला
...फूहड़

न...
न...
जाने की जगह नहीं है
न बिजली
न बत्ती
हितई निभे,
न निभे

कौन जान दे जाकर

ऐसे ही कइयों की जान जाती है जाने में
जहाँ रहता है मेरा परिवार
बसता है
पूरा गाँव...

खुदा के वारिसों के नाम

मुझे कोई शक-ओ-शुबहा नहीं है जनाब की काबिलियत पर
ना कोई रंज हुजुर की विरासत से
ओ! खुदाओं के संजीदा वारिसो!
तुम्हारी जिम्मेवारी, फिक्रमंदी, दानिशमंदी के कायल हैं हम
खुदाओं के प्यारों! भोगो अपने-अपने खुदाओं की अकूत मिलकियत
मुझे कोई उज्र भी नहीं होगा तुम्हारी फतवेबाजी से
सिर्फ कुछ सवाल
(न जाने क्यों घुमड़ते रहे हैं मेरे जेहन में)
मुनासिब समझो तो जवाब दे देना
या कुछ कह भर देना—
खुदा ने अपनी वसीयत में क्या लिखा था?
क्या हम हाशिये पर के लोगों की कुछ खबर थी उन्हें
या हम शामिल हो गए थे उनकी मिलकियत में खेत में पड़े कंकड़ों की तरह?
किस वक्त लिखी थी वसीयत खुदा ने—
अपने आखिरी लम्हें में?
या वसीयत लिखकर कर ली थी खुदकुशी ?
खुदा कितनी देर जिन्दा रह पाया था
तुम्हें वसीयत सुपुर्द करने के बाद???

सत्य

सत्य निःसंकोची होता है
दिगंबर साधुओं से भी अधिक,
छोटे शिशु की तरह

यह दुनिया—बाहया—बाइज्जत
बिफर जाती है उस पर
जारी करती फतवों पर फतवे

लेकिन सत्य—
बड़ा ठीठ होता है
सुकरात से भी अधिक

दुनिया कहती है नकाब के लिए
तो सत्य फाड़ने लगता कमीज
और जब फतवा कमीज तक आता है

बढ़ जाता है—अधोवस्त्र निवृत्ति की ओर
वह नंगा होना चाहता है
और हो ही जाता है

यहाँ तक तो माफ भी किया जाए
उघड़े अंगों पर ललचाते हुए
(मगर) घृणा दिखलाती नजर के साथ निकल लिया जाए

लेकिन सत्य एक आईना भर नहीं होता

गुनाहगार होता है मीरा की तरह—
जो नाचती थी नीलाम कर इज्जत
खानदान भर की

इसलिए खानदानी दुनिया को नहीं सुहाता सत्य

थप्पड़ों, लाठी, जूतों से पीटती है
गाली गलौज के बेकाम गोलियाँ बरसाती है

पर सत्य सचमुच ही
बड़ा बेशरम होता है
गांधी से भी अधिक
पिट-पिटाकर फिर उसी रास्ते बढ़ता

दूब से भी अधिक
जिजीविषा के साथ
वर्षों पग तले कुचलकर भी सत्य
बिना बरसात हरा हो जाता है

सत्य सचमुच दूब नहीं है
वह एक साथ किसी पैर को सहलाता है
तो किसी में चुभ जाता है
क्योंकि सत्य—
केवल सत्य होता है

तीन कविताएँ

तरुण गुहा नियोगी

चिड़ी

दरअसल मैं एक चिड़ी लिखना चाहता हूँ
दिल के पूरे खून को उड़ेलकर
उस स्याही से लिखना चाहता हूँ
मेरी सारी नफरतें
मेरी सारी उम्मीदें
मैं बयाँ करना चाहता हूँ
मेरे जानते सभी पत्तों पर
मैं ख़त भेजना चाहता हूँ

मैं अपने परिचितों को बताना चाहता हूँ
कि अब भी गौरये जहाँ-तहाँ दिख जाते हैं
कोयल की कूक अब भी सुनाई पड़ती है
और लोग अब भी इंतजार करते हैं।

मैं बताना चाहता हूँ कि
समय की रस्सी ढीली नहीं हुई है
और कुशल नट
आज भी रस्सी पर खेल दिखा रहे हैं

मैं सब को सुनाना चाहता हूँ
डुगडुगी की थाप और बेला की तान

मैं दिखाना चाहता हूँ
नदी का रोष
और पत्थरों का क्रोध
मैं
शिद्दत से एक चिट्ठी लिखना चाहता हूँ
गो कि
चिट्ठी लिखने का अब चलन नहीं रहा

चाहत

मैं आँख बनना चाहता था
बचपन में मैं आँख बना
फिर मैंने बनना चाहा दिल
मैं दिल बना
उसके बाद मैंने बनना चाहा दिमाग
मैं दिमाग बना
अब मैं सिर्फ एक पक्षी बनना चाहता हूँ
सलेटी रंग का पक्षी
जो मेरी आवाज़ में गाता हो।

उलटबाँसी

मैंने जाना अलख निरंजन
पेड़ ने जाना था क्या?
प्रज्ञा शीतल अनुभव अग्नि
जल बुझकर मस्तिष्क की बाती
छोड़ गया आँखों में उसकी रेखा।
किस जनम की बिटिया अपनी
राह किनारे रोती-बिलखती
मुख्तसर शोषण की गाथा।
मैंने पढ़ी थी प्रेम की पाती
फाड़ दिया मजमून किसने?
अगड़म-बगड़म लिखाई-पढ़ाई
उलझी दुनिया उलटबाँसी में।

विखण्डन

राजेन्द्र दानी

विवेक की कार फ्लाई ओव्हर पर थोड़ी सी चढ़ी ही थी कि एक ऑडी कार ने ओव्हरटेक किया और उसकी कार के आगे रुकने लगी। उसने देखा ड्राइवर वाली विन्डो से एक हाथ निकला हुआ था और उसे रुकने का इशारा कर रहा था। फ्लाई ओव्हर की पीक पर उस समय सूरज डूबता दिख रहा था इसलिए विवेक की आँखें उस हाथ को देखते हुए चौंधिया गई थीं।

उसने ब्रेक लगा दिए। सामने वाली कार भी पूरी तरह रुक चुकी थी और पाँच सेकेण्ड बाद खूबसूरत सी गॉगल लगाए हुए, ऊँचा पूरा और रौबदार व्यक्तित्व का स्वामी और विवेक के शहर का सबसे बड़ा बिल्डर, सूरज खण्डेलवाल उसमें से उतरा। विवेक की नज़र जैसे ही उस पर पड़ी, उसके चेहरे पर एक अजीब-सा तनाव उभर आया। उसने दाहिने हाथ से अपना माथा पकड़ लिया और सोचने लगा कि यह सूरज कहाँ से यह नई कार ले आया, विवेक उसकी कार पहचानता था। यह बदली हुई कार न होती तो उसके लिए रुकता ही नहीं और अवाइड करके निकल जाता, लेकिन अब वह फँस चुका था। वह सूरज का स्वागत करने के लिए कार से उतरा नहीं और कार का इंजन भी जानबूझकर बन्द नहीं किया ताकि वह सूरज से कह सके कि वह जल्दी में है।

सूरज खण्डेलवाल ने उसके पास पहुँच कर हाथ मिलाया गया कहा—“क्या विवेक जी, उस रोज के बाद आप मिले ही नहीं, मैं मिलने की कोशिश में आपके मोबाइल पर लगातार रिंग करता रहा, आपने कॉल एक्सेप्ट ही नहीं की।...कोई नाराज़ी है क्या?” हँसते हुए सूरज खण्डेलवाल बोलता चला गया।

एक कृत्रिम मुस्कान विवेक के चेहरे पर उभरी और उसने कहा—“अरे नहीं, नहीं सूरज जी, हम भला क्यों नाराज होंगे...सुनाईये क्या हाल चाल हैं।”

एक व्यावसायिक भाव से तब सूरज ने दोनों हाथ जोड़े और कहा—“हाल-चाल तो आप

लोगों की कृपा से चंगे हैं...मैं तो पूछना चाहता था कि हमारे प्रपोजल पर विचार किया कि नहीं जी, टाइम गुज़र रहा है आप तो समझ रहे हैं न!...आपने कहा था छोटे भाई से बात करेंगे, इस बात को दो-अढ़ाई महीने हो गए हैं जी!”

सूरज की इस पूछ-ताछ से विवेक खुश हो गया क्योंकि उसकी पूछताछ में विवेक के लिए एक बहाना छिपा हुआ था। जिसे शायद सूरज समझ नहीं सकता था। उसने फौरन कहा—“उससे कहाँ बात हो पाई, वह तो अपनी कमानी का प्रोजेक्ट पूरा करने यू.एस. निकल गया था पन्द्रह दिनों बाद ही। इसके पहले हफ्ते भर तो वह पूना में था। अभी एक हफ्ते बाद ही उसकी न्यूयार्क से फ्लाइट है। पन्द्रह को वह दिल्ली पहुँचेगा फिर अठारह को ही यहाँ आ पायेगा। आप निश्चिन्त रहें, तब मैं उससे बात करके आपको बताता हूँ, अभी ज़रा जल्दी में...।”

विवेक आखिरी वाक्य पूरा नहीं कर पाया और हाथ जोड़े हुए ही सूरज खण्डेलवाल ने कहा—“कोई बात नहीं जी, पर अब की बार बात जरूर कर लें जी, मैं बीस-बाइस को आपको काल करता हूँ।”

“ओ.के.” विवेक ने कहा और अपनी कार आगे बढ़ाने के पहले, सूरज को खुश करने के लिए पूछा—“बड़ी शानदार गाड़ी है, कब ले ली?”

—“इसे तो छै महीने हो गए हैं जी। मेरा प्रपोजल नक्की कर दें, तो इससे बढ़िया गाड़ी आप ले लेंगे।” सूरज खण्डेलवाल ने पूर्ववत् हाथ जोड़े हुए ही कहा।

विवेक मुस्कुराया और दुबारा ओ.के. कहकर आगे बढ़ गया, पर न जाने क्यों सूरज खण्डेलवाल की आँडी और उसका अन्तिम वाक्य उसके साथ ही चलते रहे काफी देर तक। वह अड़तीस की उमर पार कर गया है। छोटा भाई समीर अभी तैंतीस पूरा करके चौँतीस में चल रहा है। वह खुद बी.एस.एन.एल. में सीनियर एस.डी.ओ. है और उसकी सेलरी लगभग पचासी हज़ारी रुपये बनती है। छोटा भाई एक एम.एन.सी. में साफ्टवेयर इंजीनियर है और उसका एनुअल पैकेज बीस लाख का है। दोनों का विवाह हो चुका है। उसके तीन बच्चे हैं दो लड़कियाँ और एक लड़का जबकि अभी समीर का एक ही लड़का है, वह के.जी. में है। विवेक का लड़का जो उसके बच्चों में सबसे बड़ा है, इस साल कॉलेज में गया है और लड़कियाँ स्कूल में पढ़ रही हैं। लड़के को अगले साल अब्राड भेजना है आगे की पढ़ाई के लिए। भविष्य में खर्च ही खर्च हैं। कुछ ही साल तो बचे हैं लड़कियों की शादी की तैयारियाँ शुरू करनी पड़ेंगी। यह सब सोचते हुए प्लान करते हुए विवेक के अन्दर तनाव घर कर जाता है अक्सर। अब घर का एक स्टेटस है उसे छोड़कर कोई मितव्ययिता तो बरती नहीं जा सकती, इसलिए खर्च हमेशा बढ़े हुए रहते हैं।

दूसरी ओर समस्या यह है कि वह खुद तो कुछ नैतिकताओं के साथ चलने की कोशिश करता है पर समीर! वह तो साफ कहता है कि भैया यह सब तो अब बिल्कुल चलने वाला नहीं है। जब वह विवेक के सामने इनके तर्क रखता है तो उसे भी सोचने पर मजबूर होना ही पड़ता है। उसे भी लगता है कि व्यवहारिक होने की जरूरत है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि इस व्यावहारिकता के पीछे आज के तमाम दंद फंद छिपे हुए हैं जिनकी चर्चा को अक्सर नहीं हमेशा पापा से छिपाना पड़ता है। वे तो व्याख्याता थे न, विश्वविद्यालय में। वह भी समाजशास्त्र के। अभी तिरासी चौरासी के हो रहे होंगे, पर एकदम कड़क हैं और सुखी हैं। अभी तो माँ भी हैं और माँ ने, उसने खुद या समीर ने कभी उनके सामने मुँह नहीं खोला। वे पूरी तरह आदर, प्रेम और नैतिक परिस्थितियों में जी रहे हैं और खुश हैं। यह खुशी अब

तक कभी भी कम नहीं हुई। उनको बच्चों के साथ खेलते या अपने घर के आगे विशाल बगीचे में सुबह को शाम करते देखा जा सकता है।

जब दस मिनट बाद विवेक ने गेट खोल कर कार अन्दर की तब पापा हरे भरे लॉन पर आराम कुर्सी में बैठकर कोई किताब पढ़ रहे थे। अभी शाम का साढ़े छे बजा था और गर्मी के मौसम की वजह से रौशनी भरपूर थी।

गेट खोलने की आवाज पर उन्होंने अपनी नजरों के आगे से किताब हटाकर विवेक को मुस्कुराते हुए जब देखा था तब विवेक को लगा था कि सूरज खण्डेलवाल से मिलने के बाद के विचारों को उसे तुरन्त मिटा देना चाहिए। पता नहीं वह यह सब क्या सोचता चला आया। वह किसी तरह के दोगलेपन की ओर नहीं जाना चाहता चाहे उसे कई तरह के दूसरे समझौते करने पड़े। वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि वह या उस जैसे बेहतर परिस्थिति के लोग, जिसे समझौता कहते हैं वह समझौता नहीं है बल्कि जरूरत के अतिरिक्त जिसकी कामना होती है उसके न मिलने पर संतोष कर लेने की स्थिति को समझौता कहा जाता है।

उसने अपने सिर को झटका दिया ताकि वह हल्का हो सके। उसे ग्लानि भी हो रही थी कि वह सूरज खण्डेलवाल से बेहद नकली ढंग से मिला और बहुत लम्बी झूठी कहानी गढ़ी, उसे टालने के लिए। वह खुद ही समझ नहीं पाता कि वह खण्डेलवाल के प्रस्ताव को अस्वीकृत क्यों नहीं कर देता। साफ-साफ मना करने में उका क्या जाता है। यह ठीक है कि सूरज खण्डेलवाल के प्रस्ताव को मानने से पहले समीर से बात करनी पड़ेगी, लेकिन पापा...! उनसे कौन बात कर पाएगा?

पापा ने अपने जीवन में सारे काम सही वक्त पर पूरे किए। लोग अक्सर उन्हें इसीलिए भाग्यशाली भी कहते हैं। विवेक से दो साल बड़ी बहन नीरजा की शादी भी उन्होंने बिना किसी विशेष दौड़ भाग और भटकन के, जब वह 25 साल की भी नहीं हो पाई थी, कर दी। यथा सम्भव उसके लिए किया। उसकी ससुराल के लोग बहुत सहयोगी मिले और कभी भी उनके अन्दर कोई लालच उन्होंने नहीं पाया।

अब वे लोग विश्वास नहीं कर पाते कि लगभग 50 साल पहले सिर्फ साढ़े तेरह सौ में उन्होंने वह सात हजार वर्गफुट की जमीन खरीदी थी जिस पर उनका घर बना हुआ है। वह भी छोटा नहीं है पूरे तीन हजार वर्गफुट का उसका कारपेट एरिया है। वह समय भी आज की तरह आसान नहीं था कि बैंक से लोन लिया और अपना आशियाना बना लिया। उस दौर में लोगों ने अपना कीमती सामान बेचकर या गिरवी रखकर अपने मकान बनवाये थे। उसके पापा ने भी यही सब किया था। उस दौर का समाज आत्मकेन्द्रित नहीं था इसलिए मदद हमेशा उपलब्ध रहती थी। यह सब धीमी पर पुख्ता प्रक्रिया होती थी जिसके परिणाम आज भी लोग गुणवत्तापूर्ण स्थापत्य में देख सकते हैं।

अब जहाँ मकान बना है वह शहर का सबसे पॉश इलाका बन गया है। कीमतें सैकड़ों गुना बढ़ गई हैं। विवेक का संयुक्त परिवार इस सबसे अनभिज्ञ कैसे रहा आया यह बताने पर नए लोग आश्चर्य से भर उठते हैं। अब इस मकान के ईदगिर्द कोई एक मंजिला मकान नहीं बचा। आठ आठ, दस दस मंजिला अपार्टमेंट बने हैं जिनके फ्लैट पचहत्तर अस्सी हजार से लेकर एक करोड़ तक में बिके हैं। आठ दस वर्षों पहले जब ये बन रहे थे तब पापा के सामने अपने मकान को बेच देने के अनेक लुभावने प्रस्ताव आए थे पर उन्होंने सभी को अस्वीकृत कर दिया और अपने घर के सामने लगभग तीन हजार वर्गफुट में बने बगीचे में पौधे रोपते रहे, फूल उगाते रहे और खुश होते रहे। यह वह दौर था जब पैसा और सम्पत्ति क्या होती

है इस तथ्य से विवेक और समीर एकदम अपरिचित थे। अब देर से ही भले पर सामने रोज धूप आती है, ठंडी हवा के आ जाने के लिए खूब सारी जगह है और जीवन के लिए अनिवार्य नमी बगीचे से होते हुए घर में प्रवेश करती है। यह सब पापा के लिए अब भी मूल्यवान बनी हुई स्थितियाँ हैं जिन्हें वे अपने जीते जी नहीं छोड़ना चाहते। यह वे अनेक बार प्रकट भी कर चुके हैं।

विवेक और समीर पापा के इस विश्वास से भली-भाँति परिचित हैं और उनके विश्वास को तोड़ने का प्रयास उन लोगों ने कभी नहीं किया। पापा अपने परिवार में प्रेम और शत्रु प्रतिशत भरोसा चाहने वालों में हैं और खुश किस्मती से उन्हें यह मिला हुआ है।

इसी बीच समीर या विवेक ने कभी भी नई अचल सम्पत्ति के बारे में कोई विचार इसलिए नहीं किया कि घर इतना बड़ा था कि अब दस लोगों के रहने के बाद भी छोटा नहीं पड़ता। विवेक के बेटे को अब अलग कमारा मिल गया है। उसकी पीढ़ी की वांछित वैयक्तिकता अब उसे मिली हुई है जिसका संतोष उसके चेहरे पर हमेशा नजर आता है। पिता की छत्रछाया में जैसे भी वे स्वतन्त्र रूप से सम्पत्ति के बारे में सोचना नहीं चाहते थे।

अभी छः महीने पहले एक दिन समीर सिर्फ विवेक की हाँ में हाँ मिलाता रहा जिस दिन पापा ने उन दोनों को यह बताया कि “मैंने अपनी वसीयत कर दी है, और तुम लोगों की बहन से भी पूछा था तो उसने कुछ भी हिस्सा लेने से मना कर दिया है और अब मैं सब कुछ तुम लोगों के नाम करके निश्चिन्त हूँ।

सभी ने पापा की इस हरकत पर आश्चर्य जताते हुए ऐतराज किया क्योंकि उस घर में पापा के न रहने की कल्पना किसी ने नहीं की थी। उनकी इस हरकत पर सभी दुखी हो गए थे पर वे सिर्फ मुस्कराते रहे थे। मुस्कराना उनकी अपनी गम्भीरता थी जिसका पालन वे कभी नहीं छोड़ते थे।

तब बाद में पापा से दूर होकर और उन पर गर्व करते हुए विवेक ने नम आँखों के साथ, समीर को यह समझाने का प्रयास किया था कि ये वे जीवन मूल्य हैं जो जुड़े रहने का संबल देते हैं और समय पर अपने दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा भी देते हैं। शायद पिता के परोक्ष प्रशिक्षण ही ने समीर को ऐसे वक्त पर चुप रहने की शिक्षा दी थी और इसीलिए छोटे बड़ों के बीच की मर्यादा को वह समझाता था अन्यथा विवेक और उसके बीच के उम्र के अन्तर का जो समय था उसने बहुत कुछ बदल दिया था।

तब तक विवेक, समीर या उस पर घर के किसी अन्य व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं था कि वे सब सूचनाओं के समय में जी रहे हैं और उनके घर में घट रही घटनाओं से अन्य लोग भी अनभिज्ञ नहीं हैं।

शायद पापा के वसीयत कर देने के बाद के पन्द्रह बीस दिन ही गुजरे होंगे कि एक दिन सूरज खण्डेलवाल विवेक के ऑफिस में प्रकट हुआ। उसके जाने के बाद विवेक को पता चला था कि वह आया था उसी से मिलने पर दरसा ऐसा रहा था कि वह किसी दूसरे जरूरी काम से वहाँ आया था।

विवेक ने अपने कमरे में बैठे-बैठे ही सुना था कि वह बाहर किसी से पूछ रहा था कि विवेक रस्तोगी साहब कहाँ बैठते हैं। जब वह विवेक के कमरे में आया तो विवेक उसे पहचान नहीं पाया। वह उन लोगों की पहली मुलाकात थी।

उसने अपना परिचय दिया तो विवेक ने कहा—“बताइये मैं क्या सेवा कर सकता हूँ आपकी?”

—“ना...ना..., विवेक जी, सेवा तो मैं आपकी करना चाहता हूँ, आप कराने के लिए राजी हों तो।” खण्डेलवाल ने जब यह कहा तो विवेक को आश्चर्य हुआ, वह कुछ समझ नहीं पाया तो उसने हिचकते हुए कहा—“मुझे आपकी बात समझ में नहीं आ रही है खण्डेलवाल साहब, आप क्या चाहते हैं स्पष्ट बताएँ।”

—“मैं तो जी अपने काम से यहाँ आया था तो पता चला कि आप यहाँ पोस्टेड हैं तो सोचा कि आपसे भी मिलता चलूँ। फिर एक बात याद आ गई तो सोचा कि आपसे उस सम्बन्ध में बात कर ली जाए।”

—“हाँ हाँ बोलिये वह क्या बात है?” विवेक ने प्रश्न किया।

—“जी मुझे पता चला है कि आपके पिताजी ने वसीयत कर दी है और आप दो भाई करोड़ों की सम्पत्ति के मालिक हो गए हैं...यह सब तो ठीक है लेकिन मैंने सुना है कि आप अपना मकान बेचना चाहते हो जी...तो सोचा इतनी अच्छी जगह और किसी के पास क्यों जाए, मैं ही उसे ले लूँ...उस पर बड़ा बढ़िया प्रोजेक्ट बन सकता है एक बड़े अपार्टमेंट का...!” खण्डेलवाल बोलता चला गया।

अपने नाम के अनुरूप खण्डेलवाल के सफेद झूठ बोलने के कारण अपने अन्दर उठे तेज गुस्से के उबाल को विवेक ने भरसक दबाया और फुर्ती से पूछा—“वसीयत की खबर आपको किसने दी, और किसने कहा कि हम लोग मकान बेचने वाले हैं?” वह घनघोर विस्मय में भी था।

खण्डेलवाल समझ गया था कि विवेक गुस्से में आ गया है इसलिए अकबकाते हुए कहा—“ये सब चीजें छुपती कहाँ है जी...अगर आपकी इच्छा हो तो पाँच करोड़ तक मैं भी सोच सकता हूँ।” यह कहे हुए तिरछी निगाह उसने विवेक पर डाली। लेकिन विवेक कुछ कहता इसके पहले उसके मोबाईल की घंटी बज उठी। उसने देखा उसके जी.एम. साहब का कॉल था। कभी-कभार आने वाला उनका कॉल अर्जेंट ही होता है इसलिए उसने बिना कुछ सोचे विचारे फोन रिसीव करने के पहले खण्डेलवाल से कहा—“देखिये खण्डेलवाल जी मैं आपसे बाद में बात करता हूँ, जी.एम. साहब अभी लाईन पर हैं...ओ.के.!”

खण्डेलवाल हड़बड़ा कर खड़ा हुआ और “ओ.के. जी, ओ.के. जी” कहते हुए बाहर निकल गया।

जी.एम. साहब ने सिर्फ तीन चार मिनट की बात की और कल की मीटिंग की तैयारी के बारे में कुछ आवश्यक निर्देश दिए और फोन काट दिया। विवेक उस मीटिंग की तैयारी पहले ही कर चुका था इसलिए निश्चिन्त था।

मोबाईल पर बात करने के बाद इसके पहले के खण्डेलवाल वाले घटनाक्रम को वह बैठकर याद करने लगा। एक सरकारी विभाग में काम करते हुए उसे यह अनुभव तो था ही कि अपने स्वार्थों के लिए निषेधात्मक जानकारी भी लोग किसी न किसी तरह हासिल कर ही लेते हैं, लेकिन यह इतनी पेचीदा प्रक्रिया होती है कि इसमें लम्बा समय लगता है। लेकिन उसके घर की वसीयत वाली घटना, जो कि एकदम व्यक्तिगत है, इतनी जल्दी खण्डेलवाल को कैसे पता चल गई और यह झूठ उसने कैसे गढ़ा कि हम लोग अपना मकान बेचने वाले हैं! उसने यह झूठ नहीं गढ़ा तो उससे यह झूठ किसने कहा! वह घर के किसी भी व्यक्ति पर किसी भी परिस्थिति में सन्देह नहीं कर सकता। इस पर बड़ी देर तक सोचने के बाद विस्मय के अलावा उसे कुछ हासिल नहीं हुआ।

इसके अलावा अपनी अनभिज्ञता पर भी उसे बेहद आश्चर्य हो रहा था। उसने कभी

आकलन नहीं किया था कि उनका अपना घर अब पाँच करोड़ की कीमत का हो गया है। खण्डेलवाल की धूर्तता ने जैसे दूसरी ओर एक अजीब सी खुशी भी दे दी थी। काफी देर तक वह इस खुशी में डूबा रहा और सोचता रहा कि यह बात अगर घर में बताई तो क्या होगा। क्या उसकी तरह सब खुश होंगे क्योंकि वे पहले भी अनेक बार अपनी यह बात कह चुके हैं कि पैसा उनके लिए जीवन में कुछ नहीं है। वह बार बार उदाहरण सहित पूरे घर को समझाते रहे हैं कि पैसा खुशहाली का पर्याय बिल्कुल नहीं हो सकता।

यहाँ तक पहुँचकर उसका सोचना रुक गया। फिर वह अपने ही अन्दर एक अजीब सी ग्लानि और गहरे अपराध बोध में डूब गया और महसूस करने लगा कि वह पापा के विश्वासों के परे जाकर सोच रहा था। न जाने कैसे वह पैसे की बात सुनकर खुश हो रहा था जबकि फिलहाल उनके घर में कोई अभाव नहीं है और पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि पूरी जिन्दगी खुशहाल ही रहेगी, इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

थोड़ी देर बाद ही उसने सफलतापूर्वक अपने आप को सोच की इस गलत दिशा से बिल्कुल अलग कर लिया और अपने रोजमर्रा के कामों में व्यस्त हो गया। लेकिन सूरज खण्डेलवाल जैसे लोग असफलता के बारे में विचार नहीं करते। उन जैसों का काम यह होता है कि उसे किसी भी कीमत पर करना है।

सम्भवतः आठ-दस दिनों बाद ही एक रेस्त्रां में विवेक को उसने देख लिया। विवेक उसे देख कर घबरा गया और अनदेखी करके जाना ही चाहता था कि सूरज खण्डेलवाल ने पीछे से आकर उसके कन्धे पर हाथ रखा और कहा—“रस्तोगी साहब नमस्कार!”

आश्चर्य दर्शाते हुए विवेक पल्टा और मुस्कराते हुए खण्डेलवाल के बढ़े हुए हाथ को पकड़ते हुए कहा—“कहिये भाई खण्डेलवाल साहब, क्या हाल चाल हैं?”

—“जी, ठीक हूँ...उस दिन हमारी बात अधूरी रह गई थी...मैंने सोचा आप फुर्सत में हों तो पूछ लूँ...कोई विचार बना आपका?”

इस पर समझाने की तर्ज पर विवेक ने कहा—“दरअसल मैं अकेला कैसे यह सब सोच सकता हूँ...आप जानते हैं मेरा एक छोटा भाई भी है...मदर फादर भी हैं, सबसे बातचीत तो करनी ही पड़ती है इन सब मसलों पर और फिर...!”

—“हाँ जी, बिल्कुल यह सब करना ही पड़ता है लेकिन आपको सिर्फ गम्भीर बात तो छोटे भाई से ही करनी पड़ेगी। यदि वे तैयार होंगे तो जी कोई बात ही नहीं है।” सूरज खण्डेलवाल ने विवेक के समझाने पर अपने तर्क दिए।

एक बार फिर यह सब सुनकर विवेक को गुस्सा आया और इस बार भी उसने कुचल दिया—“अच्छा ठीक है, देखता हूँ क्या हो सकता है।” उसने लगभग टरकाने के अन्दाज में जल्दी-जल्दी कहा और आगे बढ़ गया। थोड़ी देर बाद अपनी कार की ओर चलते हुए उसने एक बार पलट कर देखा कि कहीं खण्डेलवाल उसके पीछे तो नहीं आ रहा है। उसे राहत मिली जब उसने अपने पीछे नहीं पाया।

फिर इसके बाद खण्डेलवाल जब बहुत दिनों तक नहीं टकराया तो विवेक उसके प्रस्ताव को लगभग भूल ही गया था और यह सोचकर खुश होता रहा था कि खण्डेलवाल ने भी मामले को खारिज कर दिया होगा। उसका मोबाइल नम्बर चूँकि वह नहीं जानता था इसलिए उसने उसके कॉलस् एक्सेप्ट नहीं किए। चूँकि बी.एस.एन.एल के उपभोक्ता कम्प्लेन्ट सेन्टर से निराश होकर यदाकदा उसे सीधे फोन करते रहते हैं इसलिए वह अज्ञात नम्बर से आए कॉलस् को एक्सेप्ट नहीं करता। यह उसके विभाग के उसके स्तर के सभी अधिकारी करते हैं।

वह अन्दर अपने कमरे में आ गया है। एक रूटीन की तरह जब उसकी पत्नी चाय लेकर उसके पास आई तो उसने उससे पूछा—“समीर आ गया क्या?”

इस पर आश्चर्य चकित होते हुए एक मजाकिया लहजे में पत्नी ने उल्टा प्रश्न किया—“तबियत ठीक नहीं है क्या आपकी...समीर भैया कभी नौ बजे रात के पहले आएँ हैं क्या जो आज आ जाते।”

पत्नी की तरफ जब उसने देखना चाहा तो वह कमरे से बाहर निकल गई थी। उसने सोचा कि वह किस तरह के उहापोह में अकारण फँस गया है। वह यह सोच नहीं पाता कि क्यों वह बिलावजह खण्डेलवाल को टकरा रहा है। उसे नहीं मालूम कि खण्डेलवाल के प्रस्ताव में ऐसी कौन सी बात छिपी है कि वह सीधे-सीधे मना नहीं कर पा रहा है, कि भाई रहने दे, हमें हमारा घर नहीं बेचना, आप आईदा सम्पर्क न करें। दूसरी ओर उसे गहरी शंका यह होने लगी कि कहीं खण्डेलवाल मेरे इस तरह टरकाते रहने से किसी दिन सीधे समीर से मिलकर बातचीत न कर ले। तब पता नहीं क्या हो? शायद समीर उस पर ही सन्देह करे कि भैया ने यह बात उसे क्यों नहीं बताई।

बड़ी देर तक चेयर पर बैठकर वह अपने हाथों से अपने माथे को पकड़े रहा और अन्त में यह सोचते हुए उठ खड़ा हुआ कि आज वह इस सम्बन्ध में समीर से बात कर ही लेगा। उसे विश्वास था कि समीर भी खण्डेलवाल के प्रस्ताव से सहमत नहीं होगा, तब वह पूरे आत्मविश्वास से खण्डेलवाल को दो टूक जवाब देकर मना कर सकेगा। यह सोचकर सामने टेबिल पर रखी हुई ठंडी हो चुकी चाय को वह गटागट पी गया।

रात नौ बजे जब उसने समीर को घर में आया हुआ पाया तो पत्नी से कहा—“भैं छत पर जा रहा हूँ, समीर को खाना खा लेने के बाद छत पर भेज देना, कुछ जरूरी बात करनी है उससे।”

पत्नी ने ‘हाँ’ कहा पर उसे हैरत से देखती रही कि आखिर क्या बात है जो समीर से बात करने के लिए विवेक उसे छत पर बुला रहा है।

विवेक जब छत पर पहुँचा तो न जाने कैसे गर्मी के दिनों के बावजूद हवा में ठंडक थी और आसमान में पूर्णमा के पहले का चाँद पूरा होता हुआ छिटका था। आसपास के अपार्टमेंट्स की खिड़कियों से हल्की-हल्की रोशनी बाहर आ रही थी। उनके घर के आगे की सड़क अब सुनसान होने लगी थी। विवेक को ताजगी महसूस हो रही थी। वह धीरे-धीरे तीन हजार वर्गफुट की उस बड़ी छत पर टहल रहा था। कुछ ही देर बाद समीर छत पर आया। वह भी भैया के इस तरह के व्यवहार से अचम्भित था। उसने आश्चर्य के साथ पूछा—“क्या बात है भैया, आपने इस तरह छत पर क्यों बुलाया?”

—“अरे यार समीर, बात ही ऐसी है कि सबके सामने कहूँगा तो पता नहीं उसका क्या परिणाम निकलेगा, इसलिए सोचा तुमसे ऐसी जगह पर बात की जाए जहा सुकून और शान्ति हो तो छत से ज्यादा आसान जगह घर में और कोई नहीं।”

विवेक ने सोचा समीर से अपनी बात कहने में कोई भूमिका बनाने की जरूरत नहीं है तो उसने सीधे कहना शुरू किया—“असल में एक बिल्डर है सूरज खण्डेलवाल, तुमने उसका नाम सुना होगा, वह बहुत दिनों से पीछे पड़ा है कि...कि वह चाहता है कि हम लोग उसे अपना मकान बेच दें, पाँच करोड़ की कीमत लगा रहा है फिलहाल...एक बड़ा अपार्टमेंट बनाना चाहता है, इसलिए सोचा कि...।” यह कहते हुए विवेक अटक गया। वह देखने लगा कि यह सुनकर समीर के चहरे का विस्मय कम नहीं हुआ है। बल्कि बढ़ता ही जा रहा है। पर उसका

रूप जरूर बदल रहा है, जहाँ उसमें अप्रत्याशित खुशी भी घुल रही थी, जिसे देखकर विवेक के अन्दर एक निराशाजनक हैरत सी छाने लगी। इसके पहले कि वह आगे कुछ बोलता समीर ने कहा—“क्या कह रहे हैं भैया, हमारा मकान पाँच करोड़ का है, मैं तो यह सपने में भी सोच नहीं सकता था...।” उसने खुशी में अपनी हथेलियों को एक-दूसरे से जकड़ लिया और आसमान की ओर देखते हुए गोल-गोल चक्कर लगाने लगा। उसकी खुशी का ठिकाना नहीं था। अचानक वह रुका फिर विवेक से पूछा—“तो भैया आप क्या सोचते हैं?...मैं तो सोचता हूँ हम दोनों उसी अपार्टमेंट में अपने अपने लिए एक-एक फ्लेट ले लेंगे और...।”

—“और क्या?” विवेक ने बीच में टोकते हुए पूछा।

—“और सुख से रहेंगे...और क्या? समीर ने तत्परता से जवाब दिया।

विवेक यह सुनकर अवाकू रह गया। उसकी फटी हुई आँखें समीर को एकटक घूर रही थीं। आसमान में चाँद तभी बदली में छुप गया था और आसपास के अपार्टमेंट की खिड़कियों से आती रोशनी धीरे-धीरे गुल होने लगी थी।

राधा की हँसी

भवानी सिंह

गोपालपुरा की ठकुरास तो जानी ही थी, पक्की ठहरी...“गाँधी बाबा हमारा क्या बिगाड़ेगा भला...आजाद कराये दिल्ली को, गोपालपुरा से उसे क्या लेना देना...” ठाकुरों की सोच थी यह। पर गोपालपुरा के ठाकुर भोले ठहरे, उनकी जागीर है कि कितनी दूर दिल्ली से...चालीस कोस ही ना। अलौर (अलवर) रियासत का आखिरी गाँव था गोपालपुरा नांगल। पूरे 12 गाँव की जागीर। दिल्ली में आजादी का बिगुल बज गया था...15 अगस्त, 47 की रात ठीक 12 बजे भारत आजाद हो गया। पर गोपालपुरा के ठाकुरों के जूँ तक नहीं रेंगी। चमार जूती गांठा करे थे दिल्ली में, उनके बुजुर्ग तो खेती करते ही थे गाँव में, खेती भी क्या, बेगारा करते थे, जितना अनाज मालिक ने दे दिया सिर माथे। नौनिहाल जूती गठियाते दिल्ली में...आजादी के बाद सभी आए थे घर, आजादी के माने समझ कर दिल्ली से...होली दिवाली तो आते ही थे। खुशी तो हुई है न आजादी की उन्हें भी, चलो गाँव ही चलते हैं जसन मनाने। यों तो वे आजादी के माने नहीं समझ पाये थे, फिर भी अब राजाओं का राज नहीं रहेगा, न अंग्रेज रहेंगे न राजे रजवाड़े...पर उनकी जिनगी पर तो कोई खास असर दिखाई दिया नहीं। पण्डित नेहरू को आधी रात को वे भी सुनने गए थे। लोग सुबह तक झूमते रहे थे...नाचते रहे थे। उनकी समझ में न तो नेहरू जी का भाषण ही आया था न ही लोगों का नाच-गाना। “ससुर के है यो आजादी..पर परधानमंत्री बन गए पण्डीऽऽ जी। हमरी भी सुध लीजो पण्डीऽऽ जी महाराज...सुन जो म्हारी भी अरज...।” सुबह अपनी दुकानों पर जूती गठियाते रहे थे...ऊँघते रहे थे...काम ना कम आया न जियादा...गठियाने की अठन्नी चुअन्नी जियादा माँगी तो हड़का दिए गए थे मालिकों द्वारा...“ससुरा आजाद देश हुआ है तै थोड़े ही ना हो गया आजाद, जो मजूरी के चवन्नी अठन्नी बढ़ा दी...।”

लौण्डे लपाडे थे दिल्ली में। सारे के सारे जसन मनाने पहुँच गए थे गाँव...राजा रजवाड़े नहीं रहेंगे अब, समझे काका...समझे बाबा...राजाओं के राज गए गंगा नहाने...रियासत गई तेल

लेने। अब तुम ही करो राज। छोरों ने चमरटोली में रात भर की थी धींगा मस्ती। मचाया था हुडदंग। हथकढ़ी के साथ-साथ दिल्ली से लायी पक्की लाल परी भी पी गई थी। छोरे छपारे बार-त्यौहार गाँव आते तो अपने साथ कच्ची-पक्की, केसर-कस्तूरी, लाल परी या हरी-परी जरूर लेकर आते थे...दो तीन महीनों में जो वह पेट काटकर कमा कुमाकर लाते, उसे हड्डियाँ चबाने और इसी हरी परी और लाल परी में बहा बुहू कर फिर से चल देते थे दिल्ली कमाने-खाने...। अपनी मेहरारू के लिए साबुन, 'पौडर', 'करीम', 'तेल', 'फुलेल' लाना नहीं भूलते कभी भी...दूसरे तीसरे दिन बचे-खुचे इसी सामान में से अपनी बहुओं से छुपा-छुपु कर, चोर-चार कर बूढ़ी चमारिनें मालकिनों को खुश करने वास्ते सौगातें लेकर पहुँचती हवेली ताकि मालकिनें खुश रहें और बखसीस में कुछ ना दे सकें ना सही, बेगार में तो ना खटायेंगी, डॉट-डपट तो नहीं करेंगी।

ठकुरानियों की बीनणियाँ भी नहा लेती साबुन और तेल फुलेल से। 'पौडर-करीम' लगाकर गमकती रहती रात भर, इसी आस में कि कभी तो भरतार, हथकढ़ी के झोंक में सही...उन्हें भी सूँघ-सौँघ लें...सार संभार लेंगे...पर चमारों के छोरे-छापरे मरदों वास्ते भी तो सौगात में कुछ कच्ची-पक्की बोतलें लाते ही थे। हंडिया पकती...और पी जाती चमारों के छोरे-छपारों द्वारा लायी गई गच्ची पक्की। हंडिया में उनके हिस्से का भी पकता सालन, गोशत-मांस...यह बात दूसरी थी अधिक पीने के बाद मांस हजम होता ही नहीं था छोरे छपारों के। हाँ पुराने पापी जो हथकढ़ी के होते थे शौकीन, अंग्रेजी को भी पचा जाते, हरी, गुलाब, केसर-कस्तूरी को भी...।

पर अबकी बार चमारों के छोरे छपारों की लायी गई लालपरी, केसर-कस्तूरी को पीना तो दूर, चखी भी नहीं थी किसी ने। बस लेकर रख भर ली थी...ऐसे ही बहू बीनणियों ने भी नहीं किया खूसबू मारते साबुन, पौडर, तेल-फुलेल का इस्तेमाल। गंधाती सीसी भी पड़ी रही थी आले-दिवाले। क्योंकि अबकी बार छोरे-छापरे आजादी का सपना भी साथ लेकर आए थे...ठाकुर की औलादें, न ही ठाकुर जाने आजादी का 'अरथ', न चमार, न चमारों की औलादों को मालूम आजादी के 'माने'। बस सबके सब इतना जरूर जान गए थे-आजादी कुछ होती जरूर है, जो चमारों के मुहले में बिना होली दीवाली के भी भराती रही हैं सांग, कराती रही है गाना-बजाना, भजन-भाव, हँसी-ठठ्ठा। और इसी आजादी का मारा ठाकुरों का मौहल्ला पीने पिलाने के बाद, रोज दारू की बदबू से बज-बजाता रहता था...गाली गलौज होती रहती थी और होती रहती थी मार धाड़ भी, आज सुनसान पड़ा था...ऊँघ रहा था...आजादी काठ जो मार गई थी ठाकुरों के...आज न तो हथकढ़ी सिर चढ़ कर बोली थी न अमल-पोस्त ही चढ़ पाया था। न चढ़ता देख अमल-पोस्त...एक-एक खुराक और ली थी बूढ़े ठाकुरों ने, फिर भी नशा कोसों दूर था उनसे। बिना नशे पते की भी सबके सब दुबके पड़े थे अपनी-अपनी खाटलियों में-आजादी के डर के मारे...कोई भी उपाय नहीं सूझ पाया था, जो बचाले जाए उन्हें इस नए-नए उभर आए आजादी के डर से...। अंग्रेजों को ही भगा दिया, तो भागना उन्हें भी पड़ेगा ही एक दिन...कोई उपाय करे तो भी चलने कौन देगा। पहली बार डर समा गया था ठाकुरों के खोपड़ों में...पहली बार ही आया था दुराव ठाकुरों और चमारों में। न चमारों ने जुरत की थी अभी डराने धमकाने की। न ही ठाकुरों ने किए थे कोई नए उपाय चमारों को डराने धमकाने के...पर फिर भी दोनों में दुराव जनम ले चुका था...दबे-दबे ही सही...ठाकुर डर रहे थे, तो चमार हुलस रहे थे। हाँ चमारों के छोरे छापरे करेंगे चू-चपाड़ तो...डरा धमका दिए जाएँगे...ज्यादा चढ़ेंगे सिर पर तो थप्पड़-मुक्का ही भारी पड़ेगा इनके लिए। सोच भर रहे थे बूढ़े ठाकुर और उनकी औलादें।

चमारों को तो मार भगायेंगे, पर हीर गूजरों को क्या होगा...? इन बारह गाँवों में ज्यादा में हीर ही थे काश्तकार...काठ मार गया था ठाकुरों को, कैसे निपटा जाएगा हीर-गूजरों से...कोई अच्छा सा उपाय नहीं पा, बस नशे की खुरा बढ़ा-बुदु कर दुबके पड़े थे मारे डर के...बूढ़ी चमारिनें साबुन, तेल, पौडर लेकर आयी थी तो संग में आजादी के किस्से भी लेकर आयी थी। अब चमार, बामन, बनिए सब बरोबर हैं। ठाकुर चमकार में कोई अन्तर नहीं। ठकुराइनों ने ताजुब किया था—“भाई पतो नहीं आजादी तो के हुया करे, पर बताओ, तुम ही बताओ शेर और बछड़ा एक ठाँव पानी कैसे पीवेंगे। पी ही नहीं सकते। दोनों एक साथ तो रह ही नहीं सकते। शेर अकेला घूमता आया है, अकेला ही घूमता रहेगा। चमारिनों ने ऐतराज किया था। अब बछड़ा भी अकेला चरेगा-घूमेगा, खायेगा-पीयेगा, शेर मार नहीं सकेगा उसे।

बस ये ही माने थे आजादी के गोपालपुरा में। हमेशा की तरह चमारों के छोरे-छापरे जो कमा धमाकर लाए थे। महीने-पन्द्रह दिनों में खा-पीकर, हंडिया चाट चूट कर, जेबें खाली कर-कुराकर जा रहे थे दिल्ली कमाने। पर अबकी बार दुःखी मन से नहीं गए थे। हुलस रहे थे। अपनी घरवालियों से कह रहे थे अगली बार आवेंगे तो आजादी के ठीक-ठीक ‘माने’ लेकर आवेंगे। बुजुर्ग भी थोड़ा भोत माने समझ गए थे आजादी के...छोरे छापरे से ठाकुरों द्वारा अबकी बार हाथापाई नहीं की गई थी, थप्पड़ मुक्का तो मारना दूर रहा...हाथ तक नहीं उठाय गया था। हाँ, नशे पते में हँसी ठिठोली जरूर की गई थी, तथा गाँव के रिश्ते में रिश्ते के मुताबिक माँ दादियों से रिश्ते भी जोड़े गए थे पर वे बस माँ दादी तक ही रह थे—बहन-बुआ तक नहीं जा पाये थे अब की बार।

इसका मतलब सीधा सा यह था कि आजादी अहमियत जरूर रखती है कुछ...चमार जहाँ आशान्वित थे वहीं ठाकुर चौंक गए थे। आजादी के इस आधे अधूरे मतलब से...।

पर दिल्ली से अलौर रियासत तक...मात्र चालीस कोस चलने में आजादी ने पूरे छः महीने ले लिए थे। राजा समझदार था। नए-नए फायदे नए-नए सुधार कर रहा था। प्रजा मण्डल में शोभाराम प्रजापत जैसे लोग थे, अच्छे स्वभव के लोग, जो-जो सुधार करने का प्रजा मण्डल ने कहा, राजा ने लागू कर दिए। राजा और प्रजा मण्डल में यहाँ दूरियाँ अधिक नहीं बढ़ पायी थी। प्रजा मण्डल ने थोड़ी बहुत आँख दिखाई तो राजा ने थोड़े बहुत सुधार कर दिखाये। राजा ने घुड़की लगाई, खोरकाया, धमकाया तो झिझक गई प्रजा मण्डल। इस प्रकार से दोनों के बीच की लड़ाई चूहे बिल्ली जैसी ही चलती रही थी। कुत्ता बिल्ली की लड़ाई का रूप नहीं ले सकी थी। लड़ाई खतम हुई मत्स्य राज की स्थापना से। अलौर, भरतपुर, धौलपुर, करौली रियासत ने मिलकर 1954 में स्थापना की मत्स्य राज्य की। अलौर बनी राजधानी तो यहीं के शोभाराम प्रजापत बने पहले प्रधानमन्त्री। इन रियासतों के शासक काफी समझदार थे। राजपूताना की ये रियासतें सबसे पास जो पड़ती थी दिल्ली के, सो सुधार नहीं करने पर जनता जड़ से भी उखाड़ सकती थी इन रियासतों को इसलिए मजबूरी में ही बना था मत्स्य राज्य।

पर गोपालपुरा के ठाकुर अभी भी तानकर सोते रहे, ऊँघते रहे। 1956 में जब जमींदारी एक्ट लागू हुआ तब जाकर खुली नींद ठाकुरों की...मारे डरके लगे पोंकने। गोपालपुरा गाँव की जमीन, जो चमार धानकों के पास थी, खोस ली गई पर शेष गाँव के जोतदार निहाल हो गए। हीर-गूजर बन गए मालिक अपनी-अपनी जोतों के। थोड़ी बहुत जेबखर्ची या प्रीवी परस मिला उसको हड़प गए ठाकुरों के टिकाई बेटे...दूसरे तीसरे नम्बर के बेटे देखते के देखते रह गए। ठाकुरों ने थोड़ी बहुत जमीन चमार धानकों से छीन ली थी वहीं छोटी-छोटी पट्टियाँ रह गई थी उनकी मिलकियत। उससे तो खाना पीना ही हो सकता था न...दारू कहाँ से पी जाती।

रिछपाल सिंह, गोपालपुरा के छोटे-मोटे ठाकुर ने, दुकान डाल ली बहरोड़ के पास—गाड़ी ठीक करने की। दिल्ली से जैपुर का नया रोड नेशनल हाइवे नं. 8 पर थी रिछपाल सिंह की दुकान—रिछपाल सिंह राधोऽऽ साब की दुकान। राधोऽऽ साब की चूँकि बहरोड़ में पहली दुकान थी, चल निकली। पण्डित पुजारियों ने देखा मालिक लोग ही सड़क पर आ गए, तो हमारे मन्दिर में पूजा पाठ कौन करायेगा, कौन चढ़ायेगा चढ़ावा सो बामनों के भी दो तीन खोखे लग गए—रिछपाल के खोखे के पास। चूँकि रिछपाल सिंह ने ट्रैक्टर चलाया था, मोटर गाड़ी चलायी थी, अलौर महाराज के यहाँ मोटर गाड़ी का ड्राइवर रहा था, चल निकला। टरक ठीक करने लगा...रिछपाल राधो की बालपन से ही सबसे बड़ी खासियत थी चीजों को तोड़-मरोड़ कर देखने की। वह टार्च से लेकर छते तक को तोड़-ताड़ कर उसकी बुनावट देखता...इसके बाद में साइकिल की तोड़ फोड़ की। राजा की गाड़ियों को बिगाड़-बुगाड़ कर, ठीक करना सीख-साखकर एक अच्छा मिस्तरी बन गया था। बचपन की खुराफातें अब फलीभूत हो रोजी-रोटी कमाने में मदद दे रही थी। सबसे पहली दुकान भी उसी ने खोली थी। बहरोड़ के हीरो व जाट बहराड की नई-नई बसों की सार-सवार भी रिछपाल ने ही की थी। रिछपाल राधो का खोखा विकास करता-करता अच्छी पक्की दुकान में तब्दील हो गया था। एक से दो...दो से तीन दुकानों में फैल चुका था दस साल में रिछपाल का खोखा। रिछपाल के छोरों की मूँछें भी लगी थी मुड़कने। पढ़ने लिखने में रुचि थी नहीं उनकी सो तीनों दुकानों को बाप बेटे लगे सँभालने...कुछ चमार हीरों के छोरे-छापरे भी झाड़ पूँछ करते-करते मिस्तरी बन, अपने खोके खोल लिए थे। नेशनल हाइवे पर ट्रैफिक बढ़ता गया उसी दर से मरम्मत करने वाली दुकानें भी...।

रिछपाल ने अच्छा विकास किया था। एक से तीन दुकानें ही नहीं बनाई थी बल्कि कुछ खेती की जमीन भी खरीद ली थी। पुराने-धुराने ट्रैक्टरों की बाँड़ी को नए कल पुर्जे लगाकर खेती बाड़ी के योग्य बना लिए थे। पचास के बराबर उमर हो गई थी रिछपाल की, दुकान ने जितनी तरक्की की उसकी ठकुरानी उतना ही पिछड़ती गई। वह बूढ़ी होती जा रही थी तो रिछपाल रुपये की गरमी से जवान। विचित्र समस्या उत्पन्न हो गई थी, रिछपाल इधर-उधर मुँह मारने लगा। ठकुरानी भला कैसे रोक पाती धन से जवान हुए पति को सो अपने दुःखों को गलाने हेतु दारू पी-पी कर लगी गलने। रोती कलपती ठकुरानी तीन अदद बेटों और दो अदद बहुओं के सहारे रिछपाल को छोड़कर स्वर्ग सिधार गई...बेटे ठीक थे, तीनों के तीनों सपूत। तीनों दुकानों को सँभाल चुके थे। रिछपाल का दिन तो बेटों की दुकानों पर सीख देते, समझाते बीत जाता कभी कभार चले चपाटों की दुकान पर भी जाकर बैठ जाते, 'चा-पानी' पीते, शाम ढले तक वहीं बैठे रहते तो 'चले-चाटी' पीने-पिलाने का जुगाड़ भी बैठा ही देते...। दारू की बोतल देखकर हंस देते मीठी हँसी, सिर चढ़कर बोलन लगती दारू। ठाकुर रिछपाल की मंद-मंद मुस्कान दारू के नशे के साथ-साथ पहले रेशमी हँसी में बदलती...फिर गुलाबी हँसी में...नशा चढ़ता जाता...हँसी भी चढ़ती जाती। रेशमी मखमली हँसी हँसना छोड़कर फुल नशा होने पर फूहड़ हँसी हँसने लगते ठाकुर। और अन्त में सभी प्रकार की हँसियों को पीछे छोड़ रोने लगते ठाकुर, जोर-जोर से...“बिना औरत के रात काटने को दौड़ती है मुझे। तीनों के तीनों बेटे अपनी-अपनी बीनणियों को बगल में दबाकर सोते हैं। मैं अकेला कैसे निकालूँ रात। रात खाने को दौड़ती है रे।” चले चाटी भी रोने लगते रिछपाल के दुःख में। दूसरे ब्याह की बोलते चले चाटी, पर ठाकुर दिन में नशा नहीं होने पर बिदक जाते...“नहीं रे नया ब्याहा नहीं...छोरों को परेशान करेगी नई लुगाई...” चले चाटीनई लुगाई नहीं ला सके...पर अचानक एक दिन बात बन गई थी...।

बिहार के लखनडीह की लाखो डोमनी, गाँव के यादवों के छोरों के चक्कर में चढ़ बैठ आयी थी 'टरक' में, वही 'टरक' बाया बिहार, यू.पी., दिल्ली होते होते चार दिन में पहुँचा था बहरोड़। बहरोड़ की सर जमीं को छूते ही टरक का पीछे का एक टायर बोल गया था। पंचर निकलवाना पड़ेगा। पर वे डर गए थे कहीं लाखों रोला-दंगा नहीं कर दे। उसी समय नशे में धुत्त ठाकुर रिछपाल लुगाई की चाहत में जार-जार रो रहे थे। चले-चपाटी चुप कराने लग रहे थे। ठाकुर मान ही नहीं रहे थे। आँसू झरबेरी से लगातार बह रहे थे। एक बोतल और गटक के भी रोना बन्द नहीं हुआ था। उसी समय पंचर ठीक कराने की सोच बिहारियों ने टरक खड़ा कर दिया था। टरक तीन टायरों के कब तक खेंचता बोझा...सो ठीक कराने में भलाई समझी। उनके समझ में आयी थी ठाकुर की परेशानी, ड्राइवरों की परेशानी और ठाकुर की परेशानी क्यों न एक साथ ठीक कर दी जाए...लाखो से पेट भर गया था चारों ड्राइवरों का। पता नहीं कितनी बार दो चार हो चुके थे चारों। पर लाखों की जिद थी ब्याह करो, नहीं तो मैं रार मचाऊँगी। उन्होंने लाखो के नए शरीर को भोगते-भोगते पुराना बना डाला था। चारों का जोश ठण्डा हो गया था...चारों ही तैयार नहीं सात फेरे लेने के लिए लाखो से...सो उन्होंने इस बीमारी को ठाकुर को बेचने की ठान ली। ठाकुर दो बोतल चढ़ाने के बाद वहीं शिला पर पसर कर सो गए थे। चले से बात की। "तुम्हारे ठाकुर के लिए लुगाई लाया हूँ रंग-रूप देख लो नाक-नक्स देख लो, रुपये लूँगा पूरे पाँच हजार।" "उस्ताद तुम भी परेशान करो हो, यहाँ जंगल में कहाँ पाँच हजार...।" पाँच से तीन पर और तीन से फिसलते-फिसलते मामला पाँच सौ पर छूट गया था। पाँच सौ के बदले छोकरे सोती लाखो को उतार भाग गए थे। हारी थकी, चार-चार जवानों द्वारा रौंदी गई लाखो जब तक हकीकत समझ पाती उसके यारों का टरक बहरोड़ के कांकड़ को पार कर चुका था। इधर-उधर भागने, रोने-पीटने पर पिटाई कर दी गई थी। बिहारियों के साथ भाग जाने पर जान लेवा शीत से इतनी नीली पड़ चुकी थी लाखो कि उसका चेहरा एकदम से पीला पड़ गया था, मुर्दे सा पीला।

लाखो सब कुछ समझ गई थी। पाँच सौ में खरीदी गई लुगाई भर थी वह अब। बस सुबह ठाकुर रिछपाल को नई घरवाली पकड़ा दी थी चेलों ने। ठाकुर हैरान परेशान, छोरे क्या कहेंगे...गोपालपुरा के ठाकुर मुँह पर थूकेंगे। पर दिन भर बेटों की दुकान पर खटते रिछपाल लुगाई की भूख में हारे थके होने पर भी खुश-खुश पहुँच जाते चेलों के खोखे पर, घर नहीं जाते रिछपाल, बहुत दिन हो गए घर को छोड़े, बिना लुगाई के घर सांय-सांय करता है, कटखने कुत्ते सा काटने को दौड़ता है। चेला-खुश...ठाकुर एवं लाखो के सहारे खोखा छोड़ घर चला जाता है वह भी अपनी लुगाई के पास। कोई गाड़ी घोड़ा ठीक-ठाक कराने रुकता भी तो लाखो की मदद से ठाकुर ठीक कर-करा देते...लाखो एक अच्छी लड़की थी। विवाह के चक्कर में भागी थी...अपने भाग्य से समझौता कर लिया था। ठाकुर बूढ़ा ही सही...उन चारों से ज्यादा जिसमानी ताकत रखते थे। सबसे ठीक बात ये थी कि ठाकुर ने उसके खाने पीने रहने सहने की अच्छी व्यवस्था कर दी थी। आगे का समय काटने के लिए बुरा नहीं था ठाकुर रिछपाल सिंह। पूछने पर इतना ही बताती लाखो—लखन डीह की पसुपत डोम की बेटी हूँ। जिला, परगना हमें पता नहीं है। लौटना हम चाहते नहीं...बस ठाकुर के साथ सात फेरे ही नहीं लिए थे लाखो ने बाकी सब ठीक-ठाक चल रहा था...चले के खोखे के पास ही ठाकुर का नया खोखा डल गया था। छोरे भी पचा गए थे नई माँ को, बाप बिना लुगाई रह नहीं सकता...तीन-तीन दुकानों को ही नहीं, रिछपाल ने खेती की जमीन भी छोरों के नाम करा दी थी...छोरे कुछ 'चूँ-चपड़' करते उससे पहले ही सब कुछ मिलिकियत का मालिक बेटों को बना कर ठाकुर रिछपाल अपने नए खोखे पर रहने लगे थे। गोपालपुरा के ठाकुरों ने 'रोला-बैदा' किया था...छोरों ने खिला-पिला

कर उनका भी मुँह बंद कर दिया था। जैसे वाला जो भी करम करे सब शुद्ध मान लिए जाते हैं। लाखो अपना ली गई थी। यहाँ की 'बोली-ठोली' भी समझ गई थी लाखो। ठाकुर की ब्याहता सिद्ध करने के लिए माँग में ढेर सारा सिन्दूर भरे रखती, आँखों में काजर डाले रहती, बड़ी सारी लाल बिंदिया माथे पर टाँके फिरती, यही नहीं मंगल सूत्र (चाँदी का छल्ला जो ठाकुर ने पहनाया था) को हमेशा ब्लाऊज से बाहर रखती...पैरों की अँगुलियों में पहने बिछियों को सहलाती रहती, लोगों को दिखती रहती...राजपूती कट के कपड़े भी पहनती ताकि सोलह आना ठाकुर रिछपाल की ब्याहता लगे...पता नहीं लोगों को वह ठाकुर की ब्याहता लगती या नहीं, पर ठाकुर रिछपाल लाखो की सजी धजी सूरत पर जान छिड़कते और परिणाम स्वरूप रात को रोज धोंकनी से धोंकते रहते, खाँसते रहते।

यों तो लाखो के सुलाये सोते ठाकुर और लाखो के जगाये ही जगते, पर मरद जात बे-प्रीत होती है और वह भी जात से ठाकुर हो तो...बे-प्रीत होना ही होना है, सो ठाकुर को खूँटे से बाँधे रखने के लिए लाखो डोमनी अपने शरीर को हमेशा बना-संवार कर रखती। उसे मालूम था उसका धणी ठाकुर है, जिनके लिए औरतें खालिस जूतियाँ भर होती हैं पहनी और उतार फेंकी। अतः वह समझ गई थी जिस्म ही उसकी एक मात्र पूँजी है और इसी पूँजी के पीछे बूढ़ा ठाकुर उसका पति उसे भाव देता है और देता रहेगा।

ठाकुर की गाड़ी ठीक करने की दुकान तो चल ही रही थी कुछ और आमदनी के जुगाड़ हेतु लाखो की सहायाता से एक चाय की थड़ी भी डाल ली गई थी। एक चमार के दस बरस के छोरे को दुकान पर रख लिया था...ठाकुर दिलो जान से चाहते थे लाखो को, परिणाम स्वरूप बरस भर बाद लाखो ने बेटी को जनम दिया था। लाखो खुश थी।

सुंदर सलोनी 'बिलांद' भर की उसकी बेटी बाप की बुढ़ापे की औलाद थी तो क्या, उसकी जवानी की थी। खुला-खुला सा रूप-रंग, तीखे नाक-नक्श, नपी-तुली कद-काठी, रस भरे गुलाबी होंठ और प्यारी सी मीठी हँसी सबका सब उतर आया था लाखो का अपनी बेटी में। खुश होती लाखो। वह डोम थी तो क्या बेटी तो ठाकुर की ठहरी ना। ब्याहता नहीं है लाखो अतः वह तो ठकुरानी नहीं बन, सकी। पर बेटी तो सोलह आना ठाकुर की औलाद थी, सो बड़े लाड़ प्यार से पाली गई बेटी। ठाकुर दिन भर लादें फिरते अपनी बेटी को...गुदगुदाते रहते, खड़-खड़ हँसती बेटी...राधा सी हंसी चेहरे पर पसरी देख ही रिछपाल ने नाम रखा था बेटी का—राधा। पर ठाकुर बेटा नहीं दे पाये लाखो को। दस बरस बाद दारू पी पीकर जिस रोग से ठकुरानी मरी थी उसी रोग ने उन्हें भी लील लिया...लोग कहते ठकुरानी तरस तरस कर मरी थी—'सराप' दिया था, वही 'सराप' फला है। जो भी कुछ हुआ हो, शराब लील गई ठाकुर को...। दस बरस की बेटी को लेकर कहाँ जाए लाखो अब...ठाकुर के छोरो ने ठाकुर के रहते ही उसे माँ नहीं माना था अब कैसे मानते...लाखो ने ठाकुर के बेटों के लिए कोई झमेला नहीं किया तो, बेटे भी क्यों करते झमेला...सो सब अपनी-अपनी ठौर जमे रहे।

'रण्ड रण्डापा काट ले पर रण्डुअे काटने दे जब न' बहरोड़ का यह मुहावरा पूरा-पूरा सही निकला। लाखो के मामले में भी। चेला, ठाकुर का चेला, चेताराम यादव या कहे राव चेताराम ने लाखो पर दस साल पहले जो पाँच सौ का मोल चुकाया था उसे ब्याज समेत वसूलने पर तुल गया था। ठाकुर के बेटों ने पक्ष लिया लाखों का पूरा-पूरा। वे उसे अपनी महतारी चाहे नहीं माने पर उनके बाप की रखैल को दूसरा कैसे हाथ लगा सकता है, हाथ तोड़ नहीं डालेंगे वे उसका। पर लाखो भी मरद खोर हो चुकी थी। पाँच सौ रुपये का ब्याज चुकाती ही रहती चोरी छिपे चेताराम को...ठाकुर के बड़े छोरे ने भी उसे अपनी मिलकियत समझा सो

वह भी पहुँचने लगा लाखो के पास...। ठाकुर के बेटे को भला बुरा औछा-बड़ा समझाया भी लाखो ने। पर छत्तीस की लाखो का गठा शरीर उसे समझने दे जब न।

“यह क्या चल रहा है, हर ऐरे-गैरे से इश्क फरमाया जा रहा है...” कड़वा मुँह बना कर बोला था ठाकुर का बड़ा बेटा।

“बेटा, क्या माँ से ऐसे बोला करते हैं...” समझाने के नरम स्वर में बोली थी लाखो।

“तुम मेरी माँ नहीं हो...माँ केवल जन्म देने वाली ही होती है...और वह इस दुनिया में नहीं है अब...” और भी तुर्शी में बोला था बेटा।

“मैं तुम्हारे बाप की लुगाई तो हूँ...माँ न सही...” लाखो भी गुस्सा गई थी।

“मेरे बाप की लुगाई हो, इसलिए ही कह रहा हूँ हद में रहो...” बेटा थोड़ा नरम पड़ गया था।

“क्यों क्या मैं तुम्हारी मिल्कियत हूँ...” लाखो फिर से भिन्ना उठी थी।

“हाँ, तुम मेरे बाप की रखल होने के नाते मेरी मिल्कियत हो जैसे जमीन, दुकान यह चाय का खोखा भी मेरे बाप की मिल्कियत होने के नाते, आज मेरी हो चुकी है...इसी प्रकार से तुम भी...” हँसा था ठाकुर का बेटा एक फूहड़ हँसी।

“ओ...तो यह बात है, कल तुम राधा को भी अपनी मिल्कियत समझोगे” व्यंग्य कसा था लाखो ने।

“होश में बात करो, राधा मेरी बहन है और उसके बारे में मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहूँगा...बमक उठा था ठाकुर का बेटा।

सो लाखो ने अपनी बेटी की सलामती के लिए ठाकुर के बेटे को लगभग ठाकुर की जगह अपना लिया था। ज्यों-ज्यों बेटी बड़ी होती गई ठाकुर का बेटा उसके बड़े भाई का रोल निभाता रहा बखूबी। लाखो भी चोरी से ही सही हम बिस्तर हो अहसान चुकाती रही इसका। पर जनता तो माजरा समझ ही रही थी।

लाखो की बेटी राधा, प्यार से लाखो बोलती रधिया, तो ठाकुर नाराज होते क्या डोमनी वाला-चमारिनों वाला नाम बुलाती है लखिया तू भी, यह रधिया नहीं, राधा है—राधा रानी, देखना बड़ी होने पर जब इसका सोने सा रूप दिप-दिप दमकने लगेगा, कोई ठाकुर का कुँवरा आएगा और इसके रूप की गंध में बिन्ध मर मिटेगा। ठाकुर की बेटी तो ठाकुर ही हुई ना। देखना एक दिन मेरा कहा सच निकलेगा। सोलह आना सही। पर ठाकुर के रहते सपना सच नहीं हो सका था। ठाकुर राधा को लाखो के कमजोर हाथों में छोड़ स्वर्ग सिधार गए थे।

अन्तिम साँस तक लाखो यह तय नहीं कर पायी कि वह डोमनी की डोमनी है या डोमनी नहीं रहकर ठकुरानी बन गई है...उसकी यह लड़ाई मन ही मन चलती रहती, वह लहुलुहान हो-हो कर जाती रही थी...इसी मन की लड़ाई को जीतने की चाह में वह पगला गई थी। पर अपनी बेटी को ठाकुर की औलाद सिद्ध कर गई थी। बीज पर मालिक का ही असली हक होता है...अतः बेटी सोलह आना ठाकुर की बेटी थी। जिसे बाद में ठाकुर के बेटों ने भी मान लिया था और राधा की ठाठ-बाठ से डंके की चोट ठाकुर से ही विवाह किया है।

सोलह आना सच निकली थी ठाकुर की बात। अलौर के एक ठाकुर के बेटे ने डाली थी सीमेन्ट फैक्ट्री। फैक्ट्री तो नहीं चल पर ठाकुर का बेटा मर मिटा राधा के रूप-रंग पर। कॉलिज जाती राधा को एक दिन मिल गया था फैक्ट्री वाले ठाकुर का बेटा...।

“क्या नाम है आपका...” प्यार की सीटी सी बजाता बोला था हरि प्रताप”

“राह चलती लड़कियों से नाम नहीं पूछा करते...” धमकी भरी आवाज में बोली थी राधा।

“अच्छा, तो हमारी बुलबुल चहकने की जगह गुस्सा करना भी जानती है...” और भी चहका था हरि प्रताप...।

“मैं बुलबुल नहीं हूँ समझे मिस्टर...जो भी नाम हो आपका...” और भी गर्म हो गई थी राधा।

“मैं भी सैयाद नहीं हूँ...और मेरा नाम मिस्टर नहीं, मिस्टर हरि प्रताप है...हरि प्रताप सिंह चौहान वल्द तेज प्रताप सिंह...।”

“मैंने यह सब नहीं पूछा था...” थोड़ी नर्म पड़ चुकी थी राधा।

“पर मैंने केवल आपका नाम जानना चाहा था...” चहका था हरि प्रताप।

“कम से कम बुलबुल तो नहीं है मेरा नाम...” बिल्कुल ही नरम पड़ चुकी थी राधा। मुस्कुराया था हरि प्रताप...राधा भी मुस्कुराई थी। राधा की मुस्कान बावला बना गई थी हरि को।

“आपकी मुस्कान तो कहती है राधा होना चाहिए आपका नाम...पिताजी का नाम स्व. रिछपाल सिंह जी...”

बीच में ही बोल पड़ी थी राधा...“तो नजूमी हैं आप...”

“हाँ बुला सकती हैं आप नजूमी भी, बुरा नहीं, चलेगा...कम से कम सैयाद से तो बुरा नहीं...”

“तो और भी कुछ जानते होंगे मेरे बारे में नजूमी साहब...”

“हाँ जानता हूँ...बहुत कुछ जानता हूँ...राधा रानी शीघ्र ही विवाह बंधन में बँधने जा रही हैं किसी मिस्टर हरि प्रताप नाम के छोकरे से...” पूरा नहीं बोलने दिया था राधा ने... और अमर को अपनी ओर आता देख, खिसक ली थी राधा।

“वह कोई नजूमी-उजूमी नहीं है सैयाद है साला पूरा का पूरा बहेलिया। मीठी-मीठी बातें कर लड़कियों को फँसाना भर जानता है...” अमर ने राधा को समझाना चाहा था।

“यहाँ तो सब बहेलिये ही बहेलिये घूम रहे हैं मेरे आस-पास...” अमर की ओर इशारा कर गुस्से में बोली थी राधा और भाग गई थी। क्या करें अब ठाकुर। जिद्दी बेटा मानने से रहा। राधा भी है तो आखिर ठाकुर की बेटे ही ना, उसके सौतेले भाई कसर थोड़े ही ना रखेंगे ब्याह में। फैक्ट्री का नफा-नुकसान क्यों ना बेटे के ब्याह से चुकता कर लिया जाए राधा के भाइयों ने धूम-धाम से रचाया था अपनी सौतेली बहन का ब्याह। लाखों का माल असबाब दिया। राधा चली गई अपने प्रेमी के साथ पगली लाखों को निपट अकेली छोड़।

प्रेम विवाह का जो हथ्र होता है इसका भी वही होना था...ठाकुर का कुंवारा रंग-रूप, देह-गन्ध का रसपान कर, लगा था करने नखरे...दूध देती गाय बन गए सौतेले सालों को लगा दुहने। साल भर से अधिक नहीं चला दोनों का प्यार और अधिक दहेज की माँग के चक्कर में निकाल फँका राधा को...राधा से राधिका बनी और राधिका से रुकमणी बनने के बाद और अपने आप बाप जाए भाई से और दहेज नहीं देने पर त्याग दी गई राधा...मुकदमाबाजी भी हुई पर बदनामी के अलावा कुछ नहीं मिला...। मंद मंद मुस्कुराने वाली राधा की गुलाबी हँसी बिंदास हँसी में बदल चुकी थी। पगली लाखों अपनी बेटे की यह बरबादी देख फफक पड़ी।

कुछ लोग कहते हैं, राधा के बाप की दुकान पर कप-प्लेट धोने वाला, गणेश चमकार का छोकरा भी मर मिटा था राधा पर...पति द्वारा त्याग दिए जाने के बाद हर जवान राधा को अजनबी नजरों से घूरता हुआ लगता...यहाँ तक कि राधा को उसके सौतेले भाई भी ललचाई नजरों से, भूखी नजरों से ताकते भेड़िये जैसे लगते...पर ऐसा था नहीं...उसके भाई लाख सौतेले हों, पर राधा को अपनी माँ जाई सगी बहन से भी अधिक चाहते...इसी प्रेम के वशीभूत हो राधा के ब्याह में लाखों लगाये थे...उसके विवाह के टूटने का दुःख राधा से ज्यादा उसके भाइयों

का था...वे गुस्से में भी घूमते, राधा का पति, हरिप्रताप यदि कहीं उन्हें मिल जाए तो साले को काटकर रख देंगे...इसके लिए चाहे बाद में वे जेल ही में क्यों न डाल दिए जाएँ।

पर राधा हर पुरुष जात को अपना दुश्मन मानती, उसे पति द्वारा त्यागे जाने पर लोग ऐसा कर रहे हैं...उसे स्वयं पर दया आने लगी थी...ब्याह पर खनकती चूड़ियों सी उसकी खनकती हँसी एक करुण हँसी में तब्दील हो चुकी थी...हर पुरुष उसे अपना दुश्मन लगता...उसके पेट में पल रहा बच्चा भी कहीं पुरुष हुआ तो...वह इसी कल्पना से सहम-सहम जाती...गुस्से में भर-भर जाती। अपनी औलाद से भी बदला लेना चाहती वह। यह साला भी बड़ा होकर बहन बेटी पर आँखें पैनायेगा, क्यों न खत्म किया जाए इसे। सो हमल गिरा मुक्त हो गई थी। पर उसकी सुन्दरता दमक रही थी। खुशबू से गमक रही थी। बच्ची का सोने-सा रंग दिप-दिप कर रहा था।

लाखो अपनी जात डोमनी को यादव में बदलने हेतु यादवों के छोरों के साथ भागी थी। छिनार नहीं थी वह। ना ही जौबन की दीवानी। पर नीची जात से घिन्न थी उसे। बचपन में निहायत खूबसूरत होने पर भी ऊँची जात वाले मुँह बिचकाते...खूबसूरती का अपमान ऊँची जाती वाले करे, कैसे सहन करती लाखो। सो भागी थी यादवों के साथ। बन बैठी थी ठकुरानी। बेटी जो उससे सुन्दरता में इक्कीस थी...गुलाबी हँसी में हँसने वाली संगमरमरी देह...पर ठाकुर का बेटा लील गया था उसकी सुन्दरता को। लाखो डिप्रेश होने पर भी सपने देखती...राधा के पेट में पल रहा बच्चा, शायद बेटी ही हो, पर लाखो के सभी सपने सीसे की भाँति चिटक कर चकनाचूर हो गए थे। उसके सपनों की हत्यारिन खुद उसकी बेटी राधा थी।

ऊँची जात वालों की बहू बनने का लाखो का सपना नेस्तनाबूद हो चुका था। अपनी बेटी को भी ठाकुर की बहू बनाने का सपना भी दफन हो चुका था। राधा चोरी छिपे गणेश चमकार के बेटे अमर के साथ हम बिस्तर हुई थी। लाखो को दोनों ने पगली समझ उसके सामने ही दो शरीर एक जान हुए थे...तड़प उठी थी पगली। लाखो अमर के साथ हम बिस्तरी से तड़पी थी या राधा द्वारा पेट में पल रहे हमल को गिराने पर...पता नहीं...पर माँ की मौत छील कर रख गई थी राधा को। वह ठाकुर जात को समूल नष्ट करने पर तुल गई थी। उसका इरादा परशुराम की प्रतिज्ञा जैसा कठोर हो चुका था। उसका पति जो कभी उसके तलुअे चाटा करता था। उसके पूरे यौवन को साल भर चाटने के बाद विरक्त हो गया था। अधिक दहेज के चक्कर में राधा को घर से निकाल दिया था उसी हरि प्रताप को जो अभी भी उसका कानूनन पति था नीचा दिखाने के लिए बदला लेने के लिए अमर से विवाह कर लिया था राधा ने।

अमर के राधा से ब्याह करने के और भी कारण रहे हैं। उसे राधा का खुला-खुला सा चटक धूप सा रंग, उस पर खुली धूप सी चटक गुलाबी हँसी प्यारी लगती थी। अमर बचपन में ही जब वह चाची लाखो की दुकान पर आया था यानि ठाकुर रिछपाल की दुकान पर झाड़-पौछा करने, कप-प्लेट धोने तो उस समय 8 वर्ष की थी राधा...अमर देर रात तक काम करता तो राधा उसके पीछे खड़ी-खड़ी मंद-मंद मुस्कराती रहती ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती गई राधा की हँसी भी परवान चढ़ती गई। मंद-मंद मुस्कान हल्के गुलाबी रंग में गुलाबी हँसी हुई गुनगुनी धूप सी...कली जब गुलाब बनी तो राधा के होंठ तो सुख गुलाब हो ही चुके थे हँसी भी चटक धूप सी गुलाबी हो चुकी थी।

यह हँसी राधा को अपनी माँ से विरासत में मिली थी। हाँ ठाकुर रिछपाल सिंह ने उसमें कुछ सुधार ही किया था। सावली सलोनी माँ की हँसी, होंठ, होंठों के बीच में खूबसूरत बतीसी जिसे केवल भगवान को ही बना सकते हैं, अच्छे से अच्छा डैन्टिस्ट भी नहीं...डैन्टिस्ट...हाँ लाखो का गेंहुआ रंग राधा में खुले-खुले चटक रंग में बदल गया था। ठाकुर रिछपाल से पाया था

यह खुला-खुला धूप सा चटक रंग राधा ने...इस संगमरमरी देह पर यह चटक रंग बहुत फबता और अमर के देखने पर राधा का संगमरमरी शरीर भी मरमरी हँसी हँसता। मंद-मंद होंठ ही नहीं पूरा शरीर हँसता। अमर बर्दाश्त नहीं कर पाता इस मरमरी हँसी को और चूम लेता गुलाबी होंठ राधा के। इससे आगे कभी नहीं बढ़ा अमर...पढ़ा लिखा था अमर।

अमर दुकान पर आया था सातवीं की पढ़ाई छोड़कर। हुशियार था अमर। चाय की दुकान का हिसाब किताब दिमाग में ही जोड़ घटा देता...राई रती का हिसाब, जिस हिसाब को ठाकुर लिखकर करते कॉपी पर और जिस हिसाब को निपटाने हेतु चाची लाखों अंगुलियों पर कसरत करने लगती, अमर इसे चुटकी बजाते ही पूरा कर देता...लाखों प्यार करती इस कुशाग्र बुद्धि पर...सातवीं की परीक्षा में बैठा अमर और न केवल बेठा कक्षा में प्रथम भी रहा। मजा आ गया लाखों को। आठवीं की भी परीक्षा दी थी अमर ने, प्रथम आया था। दसवीं की भी परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। हॉ राधा भी उसके नक्शे कदम पर चलती 9वीं में पहुँच चुकी थी। लाखों खुश होते, सोचती...राधा को कोई ऊँचा घर-वर नहीं भी मिलेगा तो कोई दुःख नहीं, अमर तो है ही। प्यारा सा अमर बड़ी जात का सा रंग-रूप ही नहीं रखता था दिमाग भी वैसा ही पाया था। यही बहुत था लाखों को...राधा को भी...अमर को भी पूरा-पूरा विश्वास था जातीय गणित अमर के पक्ष में ही बैठेगा...लाख ठाकुर की बेटी बोले राधा को रिछपाल, पर कोई ठाकुर का बेटा तो रहा राधा को अपनाने से। अमर का भ्रम तो तब टूटा जब नए-नए सीमेन्ट फैक्टरी के मालिक का लम्पट छोरा हरिप्रताप मर मिटा राधा पर। मर मिटा ही नहीं राधा द्वारा अनैतिक ढंग से शरीर नहीं सौंपने पर बाकायदा राधा को पाने ने के लिए ब्याह करने का नाटक करने में भी सफल हो गया। दुकान पर रहते-रहते बी.ए. हो गया था अमर। वह शिक्षा विभाग में बाबू बन गया था।

राधा के जाते ही दुकान भी छोड़ दी अमर ने। पर उसे विश्वास था पूरा-पूरा, हरिप्रताप तो केवल शरीर का भूखा भड़िया है। उससे खेल-खाने के बाद छोड़ देगा राधा को...और सचमुच हुआ भी यही। पक्का नजुमी निकला अमर...उसके घर वाले सिर पटक-पटक कर मर गए...परगने के चमारों के कई चौधरी चक्कर लगा-लगा कर मर गए, पर वह टस से मस नहीं हुआ। माँ कहती—“तेरा सत्यानाश जाए चाय वाली बिहारिन अपनी बेटी को तो भगा दिया फैक्ट्री वाले के साथ। मेरे बेटे पर कर दिया जादू टोना...‘कील’ दिया मेरे बेटे को...अरे अब तो इसे मुक्त कर, जब तेरी छोरी ही चली गई तो...” पर नजुमी अमर को पता था जल्दी ही लौट आएगी राधा...इतनी बड़ी माँग रखी हरिप्रताप ने, उसका बाप जाया भाई पूरा तो कर सकता था पर मकान दुकान बेच बाच कर...दहेज की माँग तो सुरसा के मुँह सी बढ़ती ही जाती है। इसे ठाकुर का बेटा भी जानता था और राधा भी। बस इंकार कर दिया। उसी रोज छोड़ गया हरि राधा को फूले पेट के साथ...।

उसी दिन से राधा की मरमरी हँसी तब्दील हो गई थी खूनी हँसी में, घृणित हँसी में, मरद जात के घिन्न—पूरी मरद जात से...। अमर पर भी वही कटाक्ष भरी हँसी हँसती राधा...। अमर कहता रो, मुझे मार डाल...पर कटाक्ष भरी हँसी मत हँस। मेरा तो कोई कसूर नहीं था इसमें। अमर ने प्रस्ताव रखा ब्याह का तो भड़क गई राधा। नहीं हर मरद की जात एक ही होती है। मरद ऊँच या नीच किसी भी जाति—बिरादरी का हो वह सबसे पहले मरद होता है। पर अमर ने उसे मना ला था। लौट आयी थी उसकी बिंदास करकरी हँसी में...अपनी माँ की जाने वाली सेवा सुश्रुसा से, पगली माँ को अमर ही करता काबू में, अमर ने दिल जीत ही लिया था राधा का। आखिर कामयाब हो गया था अमर अपनी राधा की हँसी लौटाने में और विवाह कर लिया था।

पर अमर भी राधा को पत्नी का सम्पूर्ण दरजा नहीं दे सका...उसे रोज रौंदता, रोज खूँदता था। वह मात्र शरीर नहीं बनना चाहती थी, मात्र मांस का लोथड़ा भर नहीं है वह, अमर समझता क्यों नहीं। पर अमर तो उसके जौबन को पीना चाहता था। भरा-भरा सा, गदराया सा जौबन, हँसता मुस्कुराता जौबन। एक भी क्षण जाया नहीं देता अमर। राधा बराबर समझाती उसे, पर नहीं समझता अमर...। एक दिन राधा ने दुःखी हो ताना दे मारा—“नीच से भला नेम निभ पाया है कभी...” अमर इस तक ताने को नहीं झेल पाया। उसने बुरी तरह मारा—पीटा राधा को...अरे ओ लुच्ची छिनार तू ठाकुर है या डोमनी या चमारी पर इस सबसे पहले तू राण्ड है। राण्ड-लुगाई मरद के नीचे पड़ती आयी है। तू राण्ड है, नीचे पड़ना ही तेरी नियति है यदि मंजूर नहीं तो निकल बाहर हो।

और राधा सचमुच निकल गई थी...। पर अब कहाँ जाएगी राधा...लखनडीह चली जाए। नहीं, लखनडीह को खोजना चाहे भी, तो जिसकी जवानी को दीमक ने चाट लिया हो उसे कौन अपनायेगा भला वहाँ भी। फिर जिस नीच जात के वंश से दुःखी हो उसकी महतारी ने बिहार छोड़ा था किसी भी हाल में वहाँ नहीं लौटने की वह। रो दी अमर के घर से निकलने के बाद राधा...“पर माँ तू नीची जाति के वंश की भरपाई ऊँची जाति की बहू बन, मुझे ऊँची जात की बहू बना, बदला क्यों लेना चाहती थी। अरे बावरी तू तो अपनी जात को ही नहीं पहचान पायी रे। तू एक औरत है, और औरत चाहे वह नीच जात हो चाहे ऊँच जात। वह डोमनी हो या चमकारी हो या फिर ठकुरानी-बामनी हो, सबसे पहले औरत है और औरत जात के भाग में हमेशा दुःख ही दुःख लिखा है। माँ तू इस औरत शरीर को नष्ट कर ही बदला ले सकती है—पूरी मरद जात से। इस देश में, इस संसार में इस ब्रह्माण्ड में केवल दो ही जात है माँ, एक औरत, दूसरा मरद...और औरत अछूत जात है, नीची जात। उसे तो हमेशा मरद जात से दुःख ही सहने हैं। समाज की कोई जात में भी हो औरत, हमेशा नीच जात ही रहेगी री माँ...।” और वह पतझड़ के पत्तों के समान हँस दी—एक सूखी सी, कमजोर सी—पीली हँसी।

उसी कुएँ की मुण्डेर पर मौत की प्रतीक्षा में खड़ी थी राधा जिसमें कुछ वर्ष पहले उसकी माँ ने छलांग लगायी थी, और डूब गई थी। वह भी छलांग लगाने जा रही थी कि दो अदृश्य हाथों ने उसे पीछे खँच लिया। उसने मुक्त न होने देने वाले अदृश्य हाथों की ओर देखा। ये दो हाथ अमर के थे, दुःखी अमर के। आदि महिला से राधा तक समस्त दुःखी महिलाओं की पीड़ा घनीभूत हो राधा की आँखों से बह चली थी। अमर ने राधा को अपनी बाँहों में जकड़ कर कस दिया था। मुक्ति के लिए छटपटाती कसमसाती राधा अमर की स्मृति में बसी, पहली-पहली बार देखी आठ वर्षीय राधा कौंध गयी। अमर ने अपनी बाँहों में कसमसाती राधा को मुक्त कर गुदगुदा दिया जैसे बालिका राधा के दुःखी या गुस्सा होने पर गुदगुदा दिया करता था वह...राधा गुदगुदाने पर बालिका सी निर्मल हँसी में खिलखिला उठी...राधा के खिलखिलाने पर उसकी मृग सी मोटी आँखों से मोटे-मोटे मोतियों से आँसू बह निकले। राधा के दूधिया चेहरे पर आँसू जमकर मोतियों से दमकने लगे। जिन्हें अमर ने जाया नहीं जाने दिया और चूम लिया इन मखमली मोतियों को।

राधा मंद-मंद मुस्कुरा उठी, जिसमें लाखों की निरीह हँसी के साथ-साथ गोपालपुरा के ठाकुरों की खनकती हँसी भी सम्मिलित थी। बादलों में डूबे सूरज के उजास सी खिल उठी राधा, और राधा का गुलाबी चेहरा गुलाबी उजास में दमक उठा...इस गुलाबी उजास में नहा गया अमर भी...राधा विस्मित हिरनी सी ताक रही थी अमर को...कैसी होगी राधा की कल की हँसी?

“सीमो! तू मेरा विश्वास कर, मैं तुझे कभी धोखा नहीं दूँगा। मेरा भरोसा रखियो...।”

पञ्जवाल से चलते हुए उसने यही कहा था और सीमो भी उसे भरी आँख स्टेशन तक विदा करने आई थी। स्टेशन छोड़ने उसके साथ बापू और छोटा भाई आया था, लेकिन उनकी नज़र बचाकर सीमो भी प्लेटफार्म पर चली आई थी। बुक व्हीलर पर खड़े होकर मैग्जीन पलटते हुए उसकी निगाहें देर तक, दूर तक उसे ही देखती रही थीं। तब भी जब वह अपने बापू के पैर छूकर डिब्बे में चढ़ा था और तब भी जब वह सामन रखकर खिड़की से हाथ हिलाकर सबसे विदा ले रहा था।...फिर क्या हुआ सीमो को? मोबाईल पर बात करते हुए वह कुछ उखड़ी-उखड़ी क्यों रहती है! उसके लहजे में यह बेगानापन क्यों? इंसान को दूरियाँ क्या इतना सर्द बना देती हैं कि वह अपने रिश्तों की गर्माहट को ही भूल जाये? नहीं, जरूर कुछ बात है। जरूर मेरी सीमो के साथ कुछ हुआ है। उसका मन गवाही न देता। जरूर उसके रोने का कारण कोई दूसरा ही है। ऐसा तो तब होता है जब सामने वाले का कोई अता-पता ही न चले। वर्षों हो जायें। मेरी तो उससे बात भी होती है। भले ही वो रोज़ न हो, पर होती तो है। उसने उसे समझाया भी था—“नौ महीने की ही तो ट्रेनिंग है। बाद में सब कुछ ठीक हो जाएगा। मेजर ड्रिल और पी-टी- करवाते हुए इतना थका देता है कि, मैस में खाना खाने का भी मन नहीं करता। बिस्तर पर गिरता तो फिर होश नहीं रहता। सुबह फिर वही काम। जरा सा डिसऑर्डर हुए कि लाद दिया पिट्टू।—मैं क्या करता सीमो, मुझे मौका ही नहीं मिलता तुझसे बात करने का...(जब बात करना चाहूँ तब तूँ घर में अकेली नहीं होती। माँ-बापू, ताया, दादी और दुनिया भर के डर)...मैंने कई बार मखलू के नंबर से भी बात करनी चाहीं, पर उससे तो तू शुरू से ही बात नहीं करना चाहती थी। वो बात करवाता (तब भी तू बात न करती)...सीमो! अब तू ही बता मैं क्या करता...।” बिस्तर पर पड़े-पड़े उसे नींद नहीं आ रही थी। उस पर दिन में आज मेजर ने भी उसे उसकी इस बेखुदी पर कई बार कसा था—“तरन, तुम्हारी हालत

बता रही है कि तुम्हारा दिलो-दिमाग ठीक नहीं है, ट्रेनिंग में इस तरह की लापरवाही अच्छी नहीं होती...अब की थोड़ी मेहनत जिन्दगी भर का आराम।” ऊपर से साथ में झिल कर रहे चंबल के एक साथी रंगरूट ने उस पर एक अलग फिकरा कसा था-“भई जट्ट सरदार है! राँझे के देश का...जरूर वहाँ अपनी कोई हीर छोड़ आया है...तभी तो उसका मन यहाँ ट्रेनिंग में नहीं लगता...लेफ्ट कहो राइट मुड़ जाता है?” वह ऊपरी तौर पर गुस्सा दिखाते हुए, मन ही मन मुस्करा कर रह गया था।

ट्रेनिंग का अब एक ही महीना बचा था। आठ महीने पहले देश के विभिन्न भागों से भर्ती होकर आ तरह-तरह की शक्लो-सूरत और बोली-बानियों वाले लड़कों में से कई अब उसके ज़िगरी दोस्त बन गए थे। फिर भी सीमो की शक्ल वह एक पल के लिए भी नहीं भूला था। उसके लिए एक-एक दिन वर्ष और रात सदियों के समान गुज़र रही थी। जिस घर को उसने कभी दस दिन के लिए नहीं छोड़ा था। ननिहाल और दरबार साहिब अमृतसर के अलावा उसने कोई दूसरी जगह नहीं देखी थी। इस बार वह पहली पहल घर से हजारों कि.मी. दूर समुद्र के किनारे बसे इस मुंबई एयरपोर्ट पर सर्विस करने चला आया था। वह जानता था कि घर में और कोई उसकी चिंता करे न करे, पर माँ जरूर याद करती होगी। लेकिन ठीक उसे माँ यहाँ वैसे ही याद आती, जैसे घनघोर घटाओं के बीच कभी-कभार चमकने वाली बिजली..., और सीमो...उसके लिए एक ऐसा ख़ाब, जो उसकी आँखों पर दिन-रात चस्पा रहता है। एक ऐसा नशा, एक ऐसा खुमार जो नहीं उतरता।...

अब क्या हुआ सीमो को, उसका दिमाग हमेशा चक्कर-भँवरी पर रहता। फोन लगाओ तो कभी उठता नहीं, उठ भी जाता है तो उसे अटेंड करने वाला सिर्फ रोने के कोई जवाब नहीं देता। यह लड़की तो उसकी जिन्दगी बरबाद करके रख देगी! कभी उसे गुस्सा भी आ जाता...।

उसने जैसे-तैसे एक महीना और निकाला। जिस दिन सी.आई. एस.एफ. की ट्रेनिंग और कसम-परेड समाप्त हुई सबके साथ-साथ वह भी खुश था। इसलिए नहीं कि उसने अपनी सर्विस के विधिवत प्रारंभ करने का एक चरण सफलता पूर्वक हासिल कर लिया है, बल्कि इसलिए कि अब एयरपोर्ट पर ड्यूटी चढ़ने से पहले वह भी अन्य रिक्तियों के साथ कुछ दिन के लिए अपने घर जायेगा- वर्दी में। उसकी इच्छा है कि वर्दी में सबसे पहले उसे सीमो ही देखे। देखे कि उसका ‘जुगनू’ अब कितना बड़ा आदमी बन गया है। जिन जहाजों को वह अपने गाँव के ऊपर से उड़ते हुए दूर तक देखती रहती है, उन जहाजों में अब उसका ‘जुगनू’ आता-जाता भी है।

और तब यह पिछले दिसंबर की बात है। मौसम की ठंडक से ही उसने महसूस कर लिया था कि ‘कठुआ’ के आसपास तो अभी भयंकर बर्फवारी हो रही होगी। दादर-अमृतसर एक्सप्रेस में बैठते हुए उसे इतनी उतावली हो रही थी कि रेल कहीं प्लेन हो जाए और वह जितनी जल्दी हो सके अपनी सीमो के पास जा पहुँचे। उसके इतने करीब, इतने कि जितने करीब अभी कोई और पहुँचा न हो। वह उसके पास जाकर कहना चाहता था-“देख सीमो, मैं आ गया न! फोन पर तू फालतू में रोती थी। सबसे पहले मैं तेरे ही पास आया हूँ...तू मेरा विश्वास करती है न...?”

लेकिन जब वह उसके पास पहुँचा तो लगा कि वह उसकी सीमो नहीं, कोई और है। उसकी आँखों में कोई चमक न थी। उत्साह तो रंचमात्र भी नहीं। बर्फ जैसी सर्द खामोशी। झुकी

नज़र। दाँत से अँगूठे का नाखून कुतरते उदास किन्तु आँठों पर एक फीकी मुस्कान के साथ उसका उसने स्वागत किया था-“कब आये...?”

“आज, अभी तो आया देखो मैंने वर्दी भी नहीं उतारी...माँ से झूठ बोल आया हूँ कि गुरुद्वारे मत्था टेकने जा रहा हूँ, तू कैसी है...?”

-“चंगी हूँ..., और तुम कैसे हो...?” उसने नपे-तुले शब्दों में कुछ इस तरह जवाब दिया, जैसे कोई अपना पुराना अहसान चुकता करता है। उसे बड़ा गहरा धक्का लगा। कहाँ उसे वह दिल की सारी बातें बताने आया था कि जिन्हें सुनते वक्त कम पड़ जा, और सुनाने वाला न थके। मुम्बई एयरपोर्ट, प्लेन, एयरहोस्टेस, पुलिस, कॉलगर्ल, गेट-वे-ऑफ इंडिया, समन्दर, पानी के जहाज, डबल डेकर बसें और न जाने कितनी-कितनी चीजों के बारे में, जिन्हें उसने अभी देखा कम अपने दोस्तों और साथी रिक्शों से अधिक जाना था। वह उन सारी चीजों के बारे में उसे ब्योरेवार बताना चाहता था। चाहा तो उसने यह भी था कि जाते ही वह अपनी सीमो को बाँहों में भरकर अपने सीने से लगा लेगा। आठ-दस माह की सारी दूरियों की खाई को वह एक ही क्षण में पाट देगा। उसकी आँखों में बसी तन्हाई को दूर कर, खुशियों की चमक भर देगा।...पर यह क्या, सीमो का यह रूप देख उसके भीतर की सारी खुशी अन्दर-ही-अन्दर घुटकर रह गई थी। जिस अरमान से वह उसे जी भरकर प्यार देना चाहता था, वे हाथ उसे छूने से रह गए थे। अचानक उसे जाने क्यों महसूस हुआ कि यह उसकी अनाधिकार चेष्टा होगी। जबकि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। स्कूल में वह तो उसे न जाने किन-किन बहानों से छूने और बात करने की कोशिश करता था, जिसमें कभी वह टीचर की डॉट खाता तो कभी स्वयं ‘सीमो’ ही उसे झिड़क देती थी। पर आज न जाने क्यों उसे इस प्रक्रिया में परायापन महसूस हुआ था।

इस तरह बहुत देर हो गई थी, कोई किसी से कुछ कह नहीं पाया। वह दोनों बाँहें बाँधे बीच रास्ते प्रश्नवाचक मुद्रा में कुछ इस तरह खड़ा था, जैसे पूछ रहा हो-‘आखिर हुआ क्या है?’ और वह भी गुरुद्वारे के बगल से गुजरने वाली गली के उस एकांत में पैर के अंगूठे से ज़मीन पर नब्बे अंश का काल्पनिक कोण बनाती/मिटती, झुकी नज़र मुट्ठीबंद अँगूठे के नाखून पर अपनी ठोड़ी टिका, बुत बनी खड़ी थी।...कोई कुछ न कह पाता यदि वे कुछ देर यों ही और खड़े रहते संभवतः बिना बोले ही अपने-अपने घर लौट जाते कि तभी गुरुद्वारे के कँगूरे से एक कबूतर का जोड़ा उनके ऊपर से पंख फड़फड़ाता पास खड़े आम के पेड़ की टहनियों में जा छुपा था। उनके पीछे बाज था।...दो के बीच किसी अन्य की उपस्थिति के अहसास मात्र ने एकाएक उन्हें सचेत कर दिया था। पता नहीं उसमें जाने कहाँ से इतना साहस आ गया कि उसने लड़की का कंधा पकड़कर हिला दिया था-“सौह रब दी सीमो! सच बता तेरे साथ क्या हुआ है---?” और उसने खींचकर अपने सीने से लगा लिया था। जैसे कच्ची मिट्टी की दीवार जरा सी बरसात में भरभरा कर गिर पड़ती है। जैसे नदी की बाढ़ में कमजोर बाँध फूटकर बह निकलता है। ठीक वैसे ही उसके गले लगाते सीमो, हिचकियाँ ले फूट-फूटकर रो पड़ी थी।

जब शांत हुई और उसने जो बताया उसे सुनकर ऐसा लगा, जैसे उसके पैरों तले ज़मीन नहीं। सिर पर आसमान नहीं। आँखों में अंधेरा और मन से एकाएक सोचने की शक्ति समाप्त हो गई हो।...नास्तिक का भी अपना एक भरोसा होता है, उसका अपना ‘आत्मबल’! पर वह नास्तिक नहीं!! माँ और गुरुओं से ज्यादा जिस पर भरोसा किया, अपना विश्वास और आत्मबल माना आज सीने से लगकर सिसकते हुए, उसी ने बताया कि वह उसका भरोसा बनाकर नहीं रख पायी है!!!

अचानक उसके भीतर कच्चे धागे की तरह कुछ चट-चटाक होकर टूटा और वह अपने को सँभाल नहीं पाया। लगा जैसे आँख ही नहीं सारा बदन यहाँ तक कि उसके सारे रोम-रोम में नशतर जैसा कुछ चुभा है, उसकी पकड़ ढीली हो गई। दोनों हाथों की उँगलियाँ मिलाकर सड़सी के आकार में अपना पगड़ी सहित सिर दबाता, पीछे और पीछे गुरुद्वारे की दीवाल से जा टिका था-“सीमो! लोग तो कुछ देर मुर्दे का भी इंतजार करते हैं, मैं तो दाते दी मेहर जिन्दा था? कुछ दिन मेरा एतबार और कर लेती...मैं नू जाते वक्त यकीन दिलाया था न कि तू मेरा भरोसा रखियो, फिर तेनू ऐसा की करौं...क्यों की मेरे पे ऐसी बेएतबारी...?” कलेजा चाक सिसकियों और आँसुओं से चेहरा भिंंगोता वह, अब तक अपने केश नोंचने की स्थिति में आ गया था। पर वह खामोश थी। एकदम पाषाणवत। लेकिन वह चुप नहीं रहा-“इससे अच्छा होता मैं वहीं किसी रोड एक्सीडेंट में मारा जाता, कम से कम मुझे तुम्हारा ये रूप देखने को तो नहीं मिलता...ट्रेन पर चढ़ते मेरी आँखों में तुम्हारा वहीं आँसुओं भरा चेहरा छाया था, जिसे मैं इन नौ महीनों में एक पल के लिए भी नहीं भूला...मेरी हर रोज़, हर पल यही कोशिश रही कि कब मुझे इस ट्रेनिंग से छुट्टी मिले और कब मैं जल्द से जल्द पञ्जवाल पहुँच अपनी सीमो का हँसता हुआ चेहरा देखूँ...पर तुमने तो मुझे लहू के आँसू रुला दिया तुम्हें हँसाना तो दूर जिंदगी में फिर कभी खुद पहले जैसा खुलकर मुस्करा भी नहीं पाऊँगा...मुझे अपने से ज्यादा तेरे पर भरोसा था-सीमो?”

“...!” वह अब भी खामोश थी। पर वह तब भी शांत नहीं हुआ। अपनी खाकी शर्ट की बाँहों से आँखें पोंछ ज़मीन पर बूटों की आवाज़ करता, तनकर खड़ा हो गया था। उसकी आँखों में इस बार दीनता नहीं क्रोध था। प्यार नहीं हिंसा थी। लगभग दाँत पर दाँत चढ़ा, नथुने फुलाकर शर्ट की बाँह ऊपर चढ़ा बोल उठा था-“मैं उस कम्मी हीर के मामा को छोड़ूँगा नहीं...?”

“...उसे मारने जाने से पहले एक बार मुझसे यह नहीं पूछोगे कि उसने मेरे साथ ऐसा क्यों किया, क्यों की मैंने तुम्हारे साथ ऐसी बेएतबारी...?” वह जब हमले की मुद्रा में उसके बगल से जाने को हुआ, तो लड़की ने सिर झुकाते हुए ही मजबूती से उसका हाथ पकड़ लिया था। उसका गुस्सा भी सातवें आसमान पर था-“वो तेरी जात का है इसलिए तू अब उसकी तरफ़दारी करेगी...?” अब वह पूरी तरह, अपने जट्ट सरदारों वाले रौब में था।

“...!” उसने अस्वीकृति में हाथ पकड़े-पकड़े ही सिर हिला दिया था।

-“तो क्या तुझे उससे प्यार...?” मजबूती से उसने अपना हाथ छुड़ा उसकी कलाई पकड़ी और आँखों में आँख डालकर एक दूसरा ही प्रश्न जड़ दिया था।

-“नहीं...!” इस बार उसने भी थोड़े प्रतिरोध के साथ अपनी कलाई छुड़ाकर, संक्षिप्त किन्तु मुखर उत्तर दिया था।

-“फिर...?” उसने प्रश्न किया।

-“...रिन्कू मुझे चाहता था और तुम्हारा दोस्त मखलू भी, पर मैं नू ना तो मखलू को अपना बेलिया बनाया ना ही रिन्कू को...पर ना जाने कैसे रिन्कू यह मान बैठा कि मखलू के बहकाने पर ही तुमने मुझे अपना यार बनाया है यह सोचकर कि ‘भगतों’ की यह गोरी-चिट्ठी कुड़ी, मुझे नहीं तो तेरे नाल ही फँस जाए...।”

-“कुफ़्र तौलता है स्साला...वाहे गुरु दी कसम सीमो! मैंने किसी मखलू के कहने पर तुझसे यारी नहीं की, यह मेरा रब्ब जानता है!...मैं और मेरा परिवार दुनियादारी से ज्यादा गुरजियों और दरबार साहिब पर यकीन रखता है, जिसके माने सारा जग एक नूर ते उपजा

है कोई बड़जात या कमजात नहीं!!! रिन्कू को भी मैं अपने बराबर का यार मानता था, फिर...?” अपने गुस्से पर काबू पाते उसने एक गहरी साँस ली थी।

-“तुम्हारे अकेले मानने से क्या होता है जुगनू? उसे कोई भी अपने बराबर नहीं मानता, न जट्ट न बामण(स्कूल में भी उसे पीछे बैठना पड़ता और गुरुद्वारे में भी...संक्रांति और गुरुपर्व पर द्वारे के भाई का प्यार और परसाद तुम्हें ज्यादा मिलता और उसे गालियाँ और डपट अधिक!...तुमसे यारी करके भी वह एक पल को नहीं भूला कि वह कमजात है कोई कुछ भी कहे, उसे तुम्हारे पीछे ही रहना है...पर यह बात एक लड़की या औरत के बारे में झूठ पड़ जाती है, उसे हर कोई अपने से नीच और पैरों की जूती समझता है! रिन्कू की जात की लड़की होने वास्ते, वह तुमसे पहले मुझ पर अपना ज्यादा हक मानता था!! पर मैं नादान, उसकी यह चाल जान ना सकी और...।”

-“वो मेरे साथ ऐसा नहीं कर सकता सीमो! उसने मुझे भरोसा दिया था(तुम्हारी हिफाज़त, तुमसे मिलाने और बात कराते रहने का...वो ऐसा कैसे कर सकता है...?” अविश्वास के मारे उसकी आँखें चौड़ी हो गईं और माथे पर बल पड़ गया था। उसने स्मृति पर जोर डाला तो कुछ महीने पीछे चला गया, जब दो-तीन माह तक रिन्कू ने ट्रेनिंग के दौरान सीमों से उसकी बात अच्छी तरह करवाई थी। वह एक दो दिन में कोई न कोई मौका निकालकर, सीमों से उसकी बात करा ही देता था। तब रिन्कू की निष्ठा और सीमो की प्यार भरी बातें उसके दिन भर की ट्रेनिंग की सारी थकान हर लेतीं थीं, उसे अपनी दोस्ती और प्यार पर गर्व आता।

-“रिन्कू शायद मेरे साथ ऐसा न करता और तुम्हारा भरोसा भी बनाये रखता, पर...।”

-“पर क्या सीमो?...मुझे अभी भी विश्वास नहीं हो रहा कि रिन्कू तेरे नाल ऐसा कैसे कर सकता है, कहीं तुम मुझे...?”

-“ना...।” एकाएक बात का रुख पलटता देख लड़की ने नज़र झुका, हथेली के मौन इशारे से उसके उतावलेपन पर विराम लगाया, तो उसाँस भरते ‘ना’ में उसके भी ओंठ खुले रह गए थे। यद्यपि यह लड़की की ओर से न तो कोई सांत्वना ही थी, ना ही कोई सफाई, किन्तु उसके चेहरे पर एकाएक अजीब सी शांति और आँखों में एक विचित्र से सुख की प्रतिछाया उभर आयी थी। शायद यह उन क्षणों का सुख था जब हमारे विश्वास को चारो ओर से ठेस लगे, मन हमें अपने ही चुनाव पर धिक्कार उठे और केवल घृणा के अतिरिक्त हमारे पास कुछ शेष न रहे।...तब ऐसे में लाख सी न सही लीक सी ही कोई भरोसे की डोर हमारे हाथ लग जाए और उसके सहारे हम उस अविश्वास, धिक्कार एवं घृणा का समुद्र तर जाए...। उसे भी ऐसा ही लगा था। उसने फिर एक बार भरोसे की डोर थामते हुए मन ही मन ‘ना’ में गर्दन झटकी और आगे का बाकया जानने के लिए लड़की के आगे फिर अपनी जिज्ञासा ज्ञापित कर दी थी-“क्या यारी ते जात इत्थी बड़ी है -सीमो? कि उसके फेर बिच लोग अपने यार नू ही...?”

लड़की अब तक शायद इसी इन्तजार में उसके सामने गर्दन झुकाये खड़ी थी। कंधे पर सरक आये नीले सालू से दुबारा सिर ढँका और दूसरा छोर कंधे के पीछे उछालते हुए, पहले अन्यमनस्क सी फिर तड़पती सी अपनी बात पर आ गई थी-“नहीं...उसे उकसाया गया था, वरना वो मेरे नाल ऐसा नी करता...तुम्हारे जाने के बाद कुछ दिन तक तो उसने हमारी गल अच्छी तरह करवायी, साये की तरह मेरे पीछे-पीछे लगा रहा।...कई बार वह स्कूल में मेरे पीछे आये जट्टों-बामणों के लड़कों से मार भी खाई और मुझे उनकी बुरी नज़र से बचाया भी...पर वह अपनी ही बिरादरी के आगे हार गया—उसने कुछ ठहर कर एक ठंडी आह भरी-‘मेरे घर

से दो घर परे सीबो ताई का नशेड़ी मुंडा है न-करमजीत, वो तुम्हारे जाने के बाद दिल्ली अपने ताये के यहाँ से पढ़ाई छोड़कर घर लौट आया है।...एक दिन उसी माँ के यार ने रिन्कू को, तुमसे मेरी बात कराते देख लिया था। करमजीत ने ही रिन्कू को भड़काया था-‘सरदारों के छोरों के लिए, तू अपनी जात दी कुड़ी की भडुवागीरी करता है?’-‘गुस्से से उसके गुलाबी होंठ फड़क उठे और माथे पर पसीने की बूँदें छल-छला आई थीं। सीने में धाड़-धाड़ बजते दिल की धड़कनों पर काबू पाते हुए, जरा सा ठहर एक बार फिर उसने बात आगे बढ़ाई-करमजीत दिल्ली से बहुत सी नई-नई बातें सीख आया है। गली के आवारा मुंडों को अपने चौबारे पर इकट्ठा करके समझाता फिरता है—हम जट्ट-बामणों से इतने मदे इसलिए हैं, क्योंकि हमारी औरतें और कुड़ियाँ फ़ाहशाएँ होती हैं! उन्हें हमने अपने काबू में नहीं रखा!! जब तक हम उन पर जोर आजमाइश नहीं करेंगे, उन्हें पर्दे में नहीं रखेंगे, तब तक हम सच्चे सिंह पुत्र नहीं बन सकते!!!...वह तो यहाँ तक कहता है—जब हमारे घर बच्चा हो तो उसका डी.एन.ए. टेस्ट कराना चाहिए, क्योंकि दोगली औलादें कदी इक पाले विच्च खड़े रहकर रण नहीं जीता करतीं!!!... रिन्कू जब से करमजीत की संगत में पड़ा, तब से मेरे तई उसकी नज़र बदल गई थी।...धीरे-धीरे उसने मेरी तुमसे बात करवाना बंद कर दिया...और इस तरह तुम्हारा जब कभी आने वाला फोन भी मेरे लिए पूरी तरह बंद हो गया था!’”

-“मैंने जान-बूझकर तुम्हें फोन करना कम नहीं किया था सीमो! तुम नहीं जानती मैं वहाँ कितना थक जाता था।...यहाँ बापू और माँ ने कभी इतनी मेहनत नहीं करने दी, सदा ही लाड़ लड़ाया और उल्टे...ट्रेनिंग में कर्नल मेहनत के आगे धूप-छाँव कुछ भी नहीं देखने देता था। लाइन में एक सूखे रुक्ख की जड़ उठवाते तो मेरा दाँया पैर ही बुरी तरह ज़ख्मी हो गया था और मैं कई दिनों तक बेहोशी की हालत में कम्पनी हॉस्पिटल में एडमिट रहा था, फिर मैं तुमसे कैसे बात करता?” उसके ‘जब-कभी’ वाक्य पर अचानक वह तड़प उठा और उसकी आँखें छल-छला आई, बोलते हुए उसका गला भर्रा गया।...

पहले जहाँ बात-बात पर रूठना मनाना होता। रास्ते में चलते हुए किसी एक को लगी जरा सी ठेस पर दूसरे का मन धक करके रह जाता था। कोई कुछ कह दे, तो मन उसे फाड़ खाने को उतावला हो उठता।...पर आज जैसे सब कुछ ठहर सा गया था। सामने जो कहा जा रहा था, वो ऐसा लग रहा था जैसे यह सब तो कानो ने पहले ही से सुन रखा है और अब जिसकी आवृत्ति होना शेष है। लड़की ने गर्दन उठाकर यंत्रवत एक सूनी निगाह उसके चेहरे पर डाली, फिर आँख पर आकर ठहर गई अपनी घुँघराली स्याह लट ठीक की और पुनश्च अपनी गर्दन झुका ली थी-“करमजीत की बातों पर मैं नू कभी यकीन न रहा लेकिन रिन्कू पर मुझे भरोसा था, वो भी तुम्हारी वज़ह से...पर मैं नादान न जाण सकी कि यह करमजित्तो का सीख-सिखाया है या तुम्हारी ओर से मिल रही सच्चाइयों का निसाण...मुझसे कहता-‘सीमो! तरनजीत हवाई अड्डे पर नौकर हो गया है! वो तुझसे मन नहीं मानता!!!...अब वो तुझसे नहीं, तेरे ते ज्यादा पढ़ी-लिखी, पैसे वालियाँ जात-बिरादर कुड़ी से ही अपना ब्याह करेगा!!! हम कम्मियों के दिल से खेलणा तो इनका पुराणा शौख है?’”

-“...और तूने उस सौदाई की बात को मान लिया...अरे ! माथाफिरी, कुछ दिन मेरा और इंतजार कर लेती, उस कनकुतरे की बात को तूने सच्च कैसे मान लिया?...जो मैंने किया ही नहीं, उसकी सजा दी है तुम लोगों ने मुझे, मैं कैसे इस धोखे से अपना मन रखूँगा?” उसका गला रूँध गया और हथेली की गदियों से आँखें मींजने के चलते कोएँ और डोरे ही नहीं, दर्द के मारे आँसुओं से पुता सारा चेहरा ही सुर्ख हो गया था। जिसे पता नहीं लड़की ने क्यों एक

बार भी देखने की जहमत नहीं उठाई। हथेली को बालिस्त की शकल में दाईं कनपटी से लगाकर गर्दन झुकाएँ लगातार ज़मीन घूरती खड़ी रही थी।

...फिर कुछ देर की चुप्पी के बाद एकाएक गर्दन को दूसरी ओर कर शून्य में एक लम्बी निगाह भरते हुए, लड़की ने उसाँस ली थी-“दगा तो मेरे नाल हुआ है-‘तरन’ और खतावार मुझे ही ठहरा दिया?” इस बार लड़की को उसकी ‘तुम लोगों’ वाली बात खटक गई थी और वह भी एकाएक अपने कहे पर शर्मिन्दा था। कल तक ‘अपना-अपना’ अचानक ‘हमारा-तुम्हारा’ कैसे हो गया। लड़की ने क्या कहा उसे पता नहीं, किन्तु इस बार उसकी अपने कहे पर मारे शर्म के गर्दन झुक गई थी। लेकिन अब तक अपराधी की तरह खड़ी लड़की इस बार मौन न रह सकी। गले में पड़े दुपट्टे का एक कोना उँगली में लपेट तिरछा कर दाँत से दबाते हुए उसके कुछ और करीब आ गई थी-“जुगनू! माना मैं रिन्कू के कहे उसके नाल हो ली, पर मैंने कदी आशा का दामण नी छड़डा!! एक कुँड़ी होने का खतरा और उस पर कमजात होने का खौफ़ तुम कभी महसूस नहीं कर सकते-तरन?...हमें एक ओर गुरबत की मार मिलती है, तो दूसरी ओर इश्क और यकीनी के नाम पर फ़रेब और मक्कारी। एक पल हम सोचते हैं कि यह सच है, तो दूसरे पल वह...। हमारे भरोसे की कश्ती हमेशा सुराखों वाली ही क्यों रही...?”

-“पर यह सुराख मैंनू तो नी कीत्ता, ना ही रब्ब से कहकर मैं जट्टों के घर पैदा हुआ, फिर यह सज़ा मुझे क्यों?” जबाव देने की बजाय दोनों ही एक दूसरे के आगे सवाल छोड़कर मौन हो गए थे और ना ही फिलहाल इन प्रश्नों के जबाव दोनों में से किसी एक के पास थे। लग रहा था जैसे नेह के सारे बँध टूट चुके हैं। अस्था की कोई डोर साबूत नहीं बची है। घृणा की नदी के पाट फिर चौड़े हो गए हैं। संगम पर मिलने से पूर्व ही दो सहगामी नदियों ने अपने रास्ते बदल, विपरीत दिशाओं के लिए प्रयाण आरंभ कर दिया है। ठीक उसी समय बहुत देर न जाने क्या सोचने के बाद, उसने लड़की से धीरे से पूछ ही लिया-“यह सब हुआ कैसे--?” बात कुछ इस तरह से पूछी गई थी कि सामने वाले के मन पर कोई आघात न पड़े और पूछने वाले को भी बेअदबी की निगाह से न देखा जाए। जबाव देने वाला भी इतना बेशक़र नहीं था कि सामने वाले की सदाशयता को नकार कर, अपने अहं को उभारता।... एक अविश्वास की चोट से तिलमिलाया हुआ था, तो दूसरा छल हो जाने की हीनग्रंथि से भयभीत। सम्बन्धों का तार तोड़ने में दोनों ही असमर्थ।...

-“...उस दिन अमावस थी। माँ बुआ के घर रावी पार माधौपुर गई हुई थी। बापू साँझ से ही ढोर-डंगरों की खैर-सुख मनाने बाबा सिद्ध चानो^३ की साल^३ में आरती-अरदास करता, मुहल्ले वालों के साथ, रिन्कू की चौपाल पर बैठा हुआ था।...नशे में धुत बसोली वाला सोहण मामा द्वार पर सोया हुआ था और मैं आंगन में। ...बिन चाँनण सूनी स्याह रात में नव लख तारे निहारती तुम्हारा फोन न आने पर बहुत उदास थी। वाहे गुरू झूठ न बुलावाए, मुझे जितना भरोसा तुम पर था उतना ही रिन्कू पर लेकिन मैं यह नहीं जानती थी कि फुड़की पैणे करमजीत की बातों में आकर ऐ अपने को इत्ता गिरा लेगा...।” लड़की ने मन से उमड़े घृणा के ज्वार को क्रोध के साथ प्रकट करते बीच में एक लम्बी उसाँस ली और फिर आगे बढ़ गई थी-“द्वार पर धीरे से दो बार कुँड़ी खटकी। मैंने सोचा मामे को प्यास लगी है और वही पाणी के लिए...पर जब दरवाजा खोला तो सामने रिन्कू था। एक हाथ में लाठी और दूसरे हाथ में कटोरदान लिए। मैंने पूछा-‘तूँ, इती रात गए?’ उसने कहा-‘हाँ, तेरे बापू ने भेजा है मीठा रोट और चूरमा देकर, वो रात के तीसरे पहर माल-डंगरों की भारी^४ उतारने के बाद सुबह तक ही आ पाएगा...।’ और उसने बढ़कर कटोरदान मेरे हाथ में पकड़ा दिया था-‘ले खा ले...।’

मैं निगोड़ी सब्र न कर सकी। वह कटोरदान अपनी मंजी (खाट) पर ले जाकर खोला और उसमें से वे मिठियाँ रोटियाँ और चूरमा निकालकर खुशी-खुशी ज़मीन पर पैर हिलाती खा उठी थी। रिन्कू तब तक सामने पड़ी दूसरी टूट्टी मंजी पर आ बैठा था। कुछ देर बाद जब मैंने उससे कहा-‘जाता क्यों नहीं?’ उसने उठकर अन्दर से कुंडी चढ़ा दी और मेरी ओर पलट कर बोला-‘नहीं...ताये ने कहा है सीमो घर पर अकेली है, तू वहीं रुक जाना...।’ मैंने कहा-‘सच्ची?’ मन में एक आश थी कि तुम्हारा फोन मेरे पास न सही रिन्कू के पास जरूर आता होगा और उससे आज जी भरकर तुम्हारे बारे में बात करूँगी।...पर यह क्या? उसने मेरे देखते-देखते दरवज्जे की कुंडी भीतर से चढ़ा दी और आगे बढ़कर ताखे में रखा दीवा भी बुझा दिया था।

मैं नू खाट से उठकर उसे हटाणा चाहा, पर अपने पैरों पर खड़ी न रह सकी। सिर में ऐसी घुमेर उठी और लगा कि जैसे सारा आंगण ही उप्पर-निच्चे हो रहा है। हाथ से चूरमा भरा कटोरदान छूट गया और पैरों की ठोकर से ज़मीन पर पानी भरा छन्ना। अगले बखत मैं कटे रुक्ख सी खाट पर थी, फिर मैं नू पता नी की होया- काफिर चूरमें में पहले से ही बेहोशी की दवा मिला लाया था।...बहुत देर गए जब होश आया तो दर्द के मारे मेरा हाल-बेहाल था। लगा किसी ने कमर से नीचे अंदर ही अंदर पैनी किरच चला दी हो, जिसके दर्द से मुझे अब जिन्दगी भर छुटकारा नहीं मिलेगा? मैं चाहकर भी खाट से उठ नी पा रही थी। आँख खुली पर जुबान से कोई हरफ नहीं फूट रहा था। लगता जैसे किसी बेकाबू साँड़ ने अपनी ठोकरों से सारे बदन का भुरकुश निकाल दिया हो और मैं नाल से तोड़-मरोड़ कर फेंक दिए कमल फुल्लों मुरझाई, खाट पर अलग पड़ी थी। सामने रिन्कू पायजामे का नाड़ा कसता पीठ फेरकर खड़ा था। उसने जैसे ही मेरी कराह सुनी तो वह मेरी ओर मुखातिब हुआ, उस दिन उसकी आँखों में एक अजीब बहशीपना था-‘तू मेरी जात दी कुड़ी है न, और इस वास्ते तुझ पर पहला हक मेरा ही बनता है? अब तू अजाद है किसी जट्ट-बामण से यारी करने वास्ते...।’ लड़की ने रुककर एक गहरी उसाँस ली।

-‘बापू से नहीं कहा?’ लड़के ने कुछ पिघलते स्वर में कहा।

-‘माँ से कहा था। छूटते ही बोली-चुप रह मरजाणी वो तुझसे यारी मानता है, हो गई होगी कोई भूल-गलती।...अपनी जात दा पुत्तर है, बापू से कहकर उससे तेरी कुड़माई करवा देंगे...!’

-‘जात! जात!! जात!!! यह जात क्या बला है सीमो ? जिसके आगे सारे गुनाह माफ हो जाते हैं, इंसानियत भी अपना सर झुका लेती है और प्यार-प्रीत दे नाते भी मंदे पड़ जाते हैं क्या इसका रंग हमारे लहू से भी गाढ़ा है-सीमो ?’ वह एकदम फिर फूट पड़ा था।

अब पता नहीं वह स्वयं उत्पीड़ित होने के बाद भी सदियों से अपराधी ठहराई जाती रही स्त्री मन की आत्मग्लानि थी, या सामने खड़े प्रिय द्वारा अपना लेने या ठुकरा दिए जाने के बीच का भय कि लड़की एकदम मूर्तिवत हो गई थी। इधर आवेश में आकर जाति के विरोध में कहने को तो वह भी बहुत कुछ कह गया, किन्तु उसके भी अपने कुछ संस्कार थे। मन में कुछ अनसुलझी गुत्थियाँ थीं, जिनकी गाँठ उसने स्वयं नहीं लगाई थी किन्तु वह उनसे बंधनमुक्त भी नहीं हो पाया था। जिनके अनुसार बलात्कृत हुई लड़की उस जूठ भरे पत्तल के समान है, जो फिर किसी के खाने योग्य नहीं रहती उसे कुत्ते, कौवे और चूहे ही खाते हैं।

यह विचार आते ही प्यार किस चिड़िया का नाम होता है, दिल क्यों वश में नहीं रहता है? साँसें क्यों रुक जाती है? जुबाँ पर किसी का नाम आते ही क्यों मुँह में शहद सा घुल जाता है? क्यों हजारों कोस दूर होने पर भी किसी के आसपास होने का अहसास बना रहता

है। उसका मन एक अजीब सी घृणा और लिजलिजाहट से भर गया था। मन हुआ कि वह वहाँ एक पल भी खड़ा न रहे, लौट जा...अपने घर...। वह मुड़ा और आगे बढ़ा किन्तु पैर ठिठक गए। लगा सीमों ने कुछ कहा है—‘तरन! तुम भी मुझे इंसान नहीं अपनी मिलिक्यत समझे, जो अब लुट चुकी है...बराबर दा यार-बेली नहीं बासण भर खीर माना, जो अब किसी का जूठ है...तो जुगनू! हम वह दोनों ही नहीं थे!! जाओ...तुम भी जाओ-जी लेंगे हम तुम्हारे बिना!!!’ वह घबड़ा गया।...पीछे मुड़कर देखा तो लड़की अब भी सिर झुका, चुपचाप खड़ी थी। उसे आश्चर्य हुआ क्रिया की प्रतिक्रिया देखकर, जो सब जगह थी और कहीं नहीं...! उसे तुरंत अपनी भूल का हुआ अहसास कि वह यह क्या सोच बैठा अपनी सीमो के बारे में!...रब उसे मुआफ करे!!!’

प्रायश्चित में आँख बंदकर आह! भरते हाथ जब तक कानों तक पहुँच पाते कि उनमें उससे पहले सीमो के यह कातर वाक्य स्पष्ट रूप से गूँज उठे थे--“जुगनू! मैं तो मुहब्बत के झनौं में विश्वास का पक्का घड़ा लेकर ही उतरी थी, पर कमबख्त कच्चा निकल गया!! जो मुझे मेरे माहीं से मिलाने के पहले ही बह फूटा और अपने साथ-साथ मुझे भी ले डूबा...इसमें मेरा कोई कुसूर नहीं!!!” लड़की की आवाज़ में गहरी पीड़ा और कसमसाती मनुहार थी कि वह अंदर तक पिघल गया, किंतु संकोच की दीवार मजबूती के साथ अब भी सामने खड़ी थी।...कौन पहल करे इस अनिर्णय की स्थिति में बहुत देर हो गई--खड़े-खड़े।...तभी उन्होंने देखा कि बाज के न रहते आम की डालियों पर देर से अलग-अलग बैठा वह कबूतर का जोड़ा फिर से एक होकर उड़ता, गुरुद्वारे के कंगूरे पर जा बैठा है...।

सन्दर्भ :

1. जूठ—पंजाबी में जूठन।
2. कृष्ण का समकालीन पंजाब की भगत (चमार) जाति का एक योद्धा और पशुओं का देवता, जिससे 18 दिन मल्लयुद्ध के उपरांत कृष्ण उसे छल से ही परास्त कर पाए थे।
3. वर्षा ऋतु में पशुओं के मुँह-खुर की बीमारी से रक्षा के निमित्त होने वाली एक रस्म।
4. साल के अन्तिम दिन अर्धरात्रि को ढोर-डांगरों के ऊपर से रोग-बाधा हटाने का एक टोटका।
5. पंजाब की प्रसिद्ध प्रेमगाथा ‘सोहनी-महिवाल’ में वर्णित एक नदी (चिनाब), जिसे घड़े के सहारे तैर कर पार करती सोहनी आधी रात को अपने प्रेमी महिवाल से मिलने जाया करती थी। एक दिन सास के कहने पर सोहनी की ननद ने विश्वासघात में पक्के घड़े की जगह कच्चा घड़ा रख दिया और जब वह उसे लेकर नदी पार हुई, तो उसमें डूब मरी थी।

‘गोदान’ की उत्तरकथा : ‘मढ़ी की दीवा’

जीतेन्द्र गुप्ता

भारत में वैश्वीकरण की नीति के लागू हुए दो दशकों से ज्यादा का वक्त बीत गया है। समाज के सभी परिक्षेत्रों को प्रभावित करने वाली इस नीति के दुष्परिणाम कुछ इस तरह से सामने आ चुके हैं कि इन नीतियों के प्रवक्ता ही ‘मानवीय विकास’ की मांग करने लगे हैं! इसमें कोई संशय की बात नहीं है कि इन मांगों का मूल्य घड़ियाली आंसुओं से ज्यादा नहीं है। लेकिन ऐसा भी नहीं कि इन नीतियों का विरोध नहीं हुआ है। समाज के उत्पीड़ित वर्गों और समुदायों की ओर से इन नीतियों का लगातार विरोध हुआ है, परन्तु इस विरोध में इतनी शक्ति नहीं रही है कि वैश्वीकरण की नीतियों में कोई गुणात्मक परिवर्तन करने में सक्षम हो। प्रतिरोध की विशालता के बावजूद अपेक्षित परिणाम न प्राप्त होना किंचित विस्मय ही उत्पन्न करता है। लेकिन प्रतिपक्ष की यह सफलता इस तथ्य की ओर स्पष्ट इशारा करती है कि वैश्वीकरण के प्रतिरोध के लिए वैचारिक रूप से जो सैद्धांतिकी गढ़ी गई है, उसमें कहीं न कहीं कोई दोष जरूर है।

वास्तव में कहा जाए तो वैश्वीकरण आदि शब्दावली ने भारत की आर्थिक नीतियों में जो बदलाव किया है, उससे कहीं ज्यादा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत के इतिहास को धुंधला करने का कार्य किया है। भारतीय स्वतंत्रता का अंतिम दशक साम्राज्यवाद सहित देशी शासक वर्ग (जो कई बार साम्राज्यवाद से संघर्ष भी करते थे) की इस भयावह बेचौनी का गवाह है कि कहीं भारतीय सत्ता का क्रांतिकारी हस्तांतरण न हो। सरल शब्दों में इसके मानी यह हैं कि इस समय ब्रितानी साम्राज्यवाद भारत की स्वतंत्रता पर असहमत नहीं था, बल्कि स्वतंत्रता ‘देने’ के लिए उपयुक्त अवसर की खोज रहा था कि सत्ता हस्तांतरण आसानी से भारतीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में किया जा सके। जाहिर सी बात है कि यही एकमात्र स्थिति थी, जिससे भारत में साम्राज्यवादी पूंजी ही नहीं बल्कि साम्राज्यवादी हित भी सुरक्षित रह सकते थे। इसके बाद से अब तक का इतिहास साम्राज्यवादी पूंजी की शक्ति और तीव्रता के उतार-चढ़ाव

का ही इतिहास है। निश्चित रूप से वैश्वीकरण के विश्लेषण के लिए हमें कम से कम बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक से शुरूआत करनी चाहिए, तभी हम भारत के उत्पीड़ित वर्गों को चिह्नित कर पाएंगे, प्रतिक्रियावादी वर्ग को पहचान पाएंगे और वास्तविक प्रतिरोधी शक्तियों के मूलाधारों को चिह्नित कर पाएंगे।

बिल्कुल इसी तरह से सांस्कृतिक स्तर पर वैश्वीकरण की शब्दावली यह विभ्रम उत्पन्न करती है कि इस संक्रमण ने विभिन्न उत्पीड़ित जातियों और लिंगों को अपने प्रतिरोधी स्वयं को बुलंद करने की सुविधा प्रदान की। लेकिन यह विचार परंपरा शून्यता के कारण उत्पन्न होता है, अन्यथा जातिगत प्रतिरोध में सबसे तीक्ष्ण स्वर डॉ. अम्बेडकर का था, और वे 'वैश्वीकरण' की उपज नहीं थे! स्वतंत्रतापूर्व भारतीय इतिहास में ब्रितानियों की नीतियों व उसका चरित्र ही भारत की दुर्दशा को लेकर होने वाली बहसों का केंद्रीय मुद्दा रहा है, और इसमें ब्रितानी नीतियों की उचित व स्तरीय आलोचना कर ली जाती है। लेकिन स्वतंत्रता उपरांत? हमेशा ही यह प्रश्न विवाद का मुद्दा रहा है। यहां तक कि कम्युनिस्ट पार्टी तक में इस प्रश्न के कारण विवाद-विभाजन की स्थिति उपन्न हो गई थी ('आधी आजादी' आदि शब्द)। स्वतंत्रता उपरांत नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस को सत्ता स्थानांतरित की गई, और नेहरू ही भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। नेहरू भले ही स्वप्नदर्शी रहे हों, लेकिन उनमें अपने और बुर्जुआ वर्ग के वर्गीय हितों को नजरअंदाज करने का साहस नहीं था। नेहरू ने भले ही कितनी क्रांतिकारी बातें लिखी हों, लेकिन सामाजिक गतिकी से उन्हें बेतरह भय था, और इसीलिए उन्होंने उन नीतियों को प्रश्रय दिया, जो भारतीय समाज को 'बंद समाज' में तब्दील करें, और उनकी इस नीति को आज भी उनके उत्तराधिकारी बखूबी कार्यान्वित कर रहे हैं।

नेहरू के स्वप्नों की मोहकता ('निर्माण') को तोड़कर 1963 में लिखा गया उपन्यास 'मट्टी का दीवा' समाज के यथार्थ को कुछ इस तरह से प्रस्तुत करता है कि आज विभिन्न विमर्शों के अंतर्गत लिखा गया साहित्य पुराकालीन ही प्रतीत होता है। फकीर मोहन सेनापति, प्रेमचंद और ताराशंकर बंधोपाध्याय की समृद्ध भारतीय परंपरा में गुरदयाल सिंह का पूर्वोक्त उपन्यास ऐसे अग्रिम मुकाम पर मौजूद है, जिसकी तीक्ष्णता का शतांश भी आज कोई अनुकरण नहीं कर पाया है। सच्चे अर्थों में यह 'आग चुराने वाले' लेखक की रचना है, जिसकी सच्चाई आज भी हर एक मनुष्यविरोधी प्रवृत्ति को आंख चुराने-झुकाने के लिए मजबूर कर देती है।

यह उपन्यास मनुष्यता के समस्त उदात्त गुणों से परिपूर्ण जगसीर की त्रासदी का विवरण ही नहीं है, बल्कि इससे भी बढ़कर यह त्रासदी समाज के हर एक मनुष्य विरोधी स्तर और संरचना का कटु महाआख्यान है। जगसीर निर्विकार रूप से इस त्रासदी को सहन कर रहा हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है कि जगसीर के पास यह प्रश्न है-

बन्दया तेरियाँ दस देहियाँ

इक्को गई विहा नौ किधर गइयाँ

जाहिर सी बात है कि शोषक-शोषित मुद्दे से भी आगे इस प्रश्न का लक्ष्य मनुष्य जीवन के वास्तविक स्वरूप की ओर है। यह प्रश्न इतना गौरवपूर्ण है कि प्राचीन हिन्दू धार्मिक सिद्धांतकारों से लेकर मनुष्य की सर्वोच्च मुक्ति के प्रस्तावक कार्ल मार्क्स को भी इस प्रश्न से उलझना पडा है। असल में यह प्रश्न मनुष्य की सौंदर्यप्रियता और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का है। मनुष्य जीवन का आशय क्या है? यह प्रश्न हर एक समय और युग में मौजूद रहा है, लेकिन विभिन्न समयों की समाज संरचना व वर्गीय स्थिति के कारण इस प्रश्न का कोई उत्तर ऐसा

नहीं रहा है जो केवल 'मनुष्य' के लिए हो, क्योंकि यदि यह उत्तर सभी मनुष्यों के लिए समान होगा, तब किसी भी शोषक संरचना के लिए वैचारिक वैधता ही नहीं रह जाएगी। इसीलिए इस प्रश्न का उत्तर हमेशा 'भाववादी' दृष्टिकोण से दिया जाता रहा है, जिसमें यदि 'सभी मनुष्यों' के लिए उत्तर की यदि कोई प्रस्तावना भी की गई हो, तो ऐसा भौतिक जगत से रिश्ता तोड़कर किया गया। मार्क्स की महानता यही है कि इस तरह के समस्त भाववाद का टाट उलटने के बाद उन्होंने सामाजिक उत्पादन और प्राकृतिक संसाधनों के सामंजस्य में मनुष्य के लिए अपनी रचनात्मकता के सौंदर्य को पाने की संभावनाओं को सृजित किया है। एक वर्गविहीन समाज में मनुष्य की मुक्ति, स्वतंत्रता के उदात्ती स्वरूप की प्राक्-कल्पना उन्होंने कुछ इसी तरह से की थी।

श्रम-विभाजन जैसे ही अस्तित्व में आया, हर एक मनुष्य हेतु गतिविधि के लिए एक खास विशिष्ट परिक्षेत्र निर्धारित हो गया है, जो हमेशा उस पर प्रभाव बनाए रखता है, और जिससे वह कभी नहीं निकल सकता है। वह एक शिकारी है, वह एक मछुआरा है या वह एक समीक्षक-आलोचक है, और यदि वह अपनी जीविका नहीं खोना चाहता है, तो उसे वही बने रहना होता है, जो वह है। जबकि एक कम्युनिस्ट समाज में किसी भी व्यक्ति की किसी गतिविधि के लिए कोई भी निर्धारित परिक्षेत्र नहीं होता है (होगा), बल्कि हर एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी भी क्षेत्र में निष्णात हो सकता है। समाज सामान्य उत्पादन (की गतिविधियों) को विनियमित करता है (करेगा), और इस तरह से मेरे लिए संभव होगा कि आज एक चीज करूँ, तो कल दूसरी। सुबह शिकार करूँ, दोपहर में मछली मारूँ, शाम को पशुओं की देखभाल करूँ, रात को भोजन के बाद आलोचना करूँ, और यह सब मैं इसलिए करूँ कि मेरे पास दिमाग है, और मैं यह सब शिकारी, मछुआरा, गड़रिया या आलोचक बने रहते हुए करूँ... (अब मनुष्य जाति को कुछ होने की आवश्यकता नहीं)..... विशिष्ट रूप से चित्रकार, मूर्तिकार हुए बिना..... एक कम्युनिस्ट समाज में कोई भी चित्रकार नहीं होता है, बल्कि डेरों लोग होते हैं, जो दूसरी गतिविधियों के साथ चित्रकारी भी करते हैं।

आज भी, जगसीर तो क्या, किसी भी मनुष्य के पास यह विकल्प नहीं संभव है कि वह मार्क्स के उदात्त स्वप्न को भविष्य का स्वप्न बना सके। लेकिन जगसीर अपने इस प्रश्न से अतीत और वर्तमान की आलोचना करने में जरूर सक्षम है। 'मढ़ी का दीवा' की सबसे बड़ी उपलब्धि यही कही जाएगी कि जीवन की सामान्य गतिकी में इस मनुष्य समाज के सबसे बड़े प्रश्न को प्रस्तुत किया गया है।

जगसीर का जन्म निम्न जातिगत समुदाय हरिजन में हुआ है। भले ही इस्लाम की तरह सिक्ख धर्म सैद्धांतिक स्तर पर जात-पात, ऊँच-नीच पर विश्वास न करता हो, लेकिन यथार्थ जीवन में यही सामाजिक विश्वास सर्वोच्च स्थान पर विद्यमान है। 'मढ़ी का दीवा' से पहले पंजाबी साहित्य की परंपरा में पंजाबी समाज में विद्यमान इन संस्तरों से नजरें ही चुराई जाती थीं, और पंजाब के बाहर तो खासतौर से इस बात पर यकीन नहीं किया जाता था कि सिक्ख समुदाय में जाति-भेद विद्यमान है। इसके दूसरे जो भी कारण हों, सबसे प्रमुख कारण हमारे सांस्कृतिक इतिहास की व्याख्या का प्रश्न था। असल में सिक्ख धर्म को भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि के तौर पर स्वीकार किया जाता है, जिसमें भक्त कवियों के उदात्त मानवीय मूल्यों को सर्वोच्च रूप से प्रतिष्ठा हुई। परन्तु यथार्थ यह है कि धर्म का विकल्प धर्म नहीं होता है। समानता की प्रतिश्रुति पर आधारित इस्लाम के मामले में भी यही हुआ! जाहिर सी बात है कि भक्ति आंदोलन समाज के स्वरूप की तो पहचान कर पाया, लेकिन व्यापक सामाजिक

हित की अवधारणा नहीं प्रस्तुत कर पाया, और यही उसकी विफलता का कारण रहा।

जगसीर की निम्न जातिगत स्थिति तो स्थिति का एक पक्ष है, स्थिति का दूसरा पक्ष यह है कि वह अपने जातिगत समुदाय में भी सबसे अधिक वंचित है। जगसीर के पिता ने साहसियों की बेटी के साथ प्रेम विवाह किया था, इस कारण स्वयं अपनी जाति में जगसीर के पिता को जातिच्युत कर दिया गया था, यहाँ तक कि हर एक किस्म के सामाजिक संबंधों को भी तोड़ लिया गया था। इसी कारण जगसीर की बहनों का विवाह भी बहुत मुश्किल से होता है, और जगसीर की उम्र 42 वर्ष हो जाने के बाद भी उसे कोई अपनी बेटी देने के लिए नहीं तैयार है (यह अलग बात है कि स्वयं जगसीर विवाह करने के लिए उत्सुक नहीं है)।

इसी कारण उसकी चारों बेटियाँ अच्छे घरानों में नहीं ब्याही जा सकी थीं। तीन के रिश्ते तो ऐसे घरों में करने पड़े, जहाँ लडकों का कई-कई बरस से रिश्ता ही नहीं हो पा रहा था।

ऐसा नहीं है कि यह जातिगत जकड़बंदी हिंदुस्तान के इतिहास में कोई नई बात है, वरना तुलसीदास को कहने की जरूरत ही न पड़ती कि 'काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहव काहूँ की जाति बिगार न सोऊ'। इसके बजाए यहां प्रश्न जकड़बंदी के और अधिक तीव्र होते जाने का है। नेहरू के नवनिर्माण ने सामाजिक कल्याण की विभिन्न योजनाओं का आरंभ किया, यहां प्रश्न इन योजनाओं के मूल चरित्र का है। नेहरू घोषित तौर पर भले ही समाजवादी झुकाव रखते हों, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वर्गीय प्रतिरोध को सीमित करने के लिए भारतीय समाज को जातिगत और सामुदायिक आधार पर तीव्रता से एक बंद समाज में तब्दील किया गया। आरक्षण आदि सामाजिक कल्याण की दूसरी योजनाओं की जो भी सामाजिक भूमिका रही हो, लेकिन मूल रूप से इस तरह की योजनाओं के माध्यम से शासक वर्ग ने अपने हितों की पूर्ति की।

आज के वक्त में समाज के वंचित वर्गों के लिए सत्ता जिन रियायतों को प्रस्तावित करती है, उसके लिए वह तर्क नहीं हैं, जो संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर ने दिए थे। ये तर्क समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन न हो पाने की पृष्ठभूमि में दिए गए थे, जिसमें यह अंतर्निहित तथ्य था कि समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन होना चाहिए। समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन क्यों होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह था कि यह परिवर्तन वैज्ञानिक नियम के अनुरूप है, तार्किक है और यह वैज्ञानिक व तार्किक इसलिए है क्योंकि यह वैज्ञानिक-विकासवाद की पुष्टि करता है।

आज इन तर्कों को कोई याद नहीं करता है! समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन की जरूरत को कोई रेखांकित नहीं करता है। इस फिक्र के मायने खत्म हो गए हैं कि अंतर्जातीय या अंतर्धार्मिक विवाह की सामाजिक मूल्यवत्ता क्या है। अब प्रश्न केवल जड़ता और सुविधा का है। एक समुदाय खाप पंचायत जैसी सामाजिक संरचना पर यकीन रखता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र-राज्य से आरक्षण की मांग करता हुआ पूरे देश को बंधक बना लेता है या वह एक धर्म, जिसका उदय ही 'समानता' की प्रतिश्रुति के साथ होता है, वह अपने भीतर मौजूद 'असमानता' को स्वीकारते हुए सत्ता से सुविधा प्राप्ति (आरक्षण) की मांग करता हुआ अपने धार्मिक कट्टरपंथ (सामंती संरचना) को सुरक्षित रख पाता है!

हिन्दुस्तान के परिप्रेक्ष्य में इस संदर्भ में सबसे शानदार उदाहरण डॉ. अम्बेडकर का है। उनका मानना था कि, दलित समाज की मुक्ति वास्तव में हिन्दू, ब्राह्मणवादी समाज की मुक्ति है। दलित समाज की सामाजिक विषमता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने आरक्षण की वकालत की थी, तो दूसरी ओर दोनों ही समुदायों की सामाजिक अंतर्क्रिया के लिए अंतर्जातीय व अंतर्धार्मिक

विवाहों की हिमायत की थी। लेकिन आज राज्य सत्ता जिन मानकों को अपना कर दलित (या दूसरे समुदायों) को रियायतें दे रही है, उसकी पहली शर्त यही है कि वे एक 'बंद, लौहदुर्ग समान दलित समुदाय' के सदस्य हों।

यह युक्ति आसान है कि 'अपनी सामाजिक हैसियत में परिवर्तन किए बगैर दमित जातियों और समुदाय को अधिकार दे दिया जाए।' कहावत भले ही पुरानी लगे, लेकिन इसका मतलब यही है कि 'सांप भी मर गया, और लाठी भी न टूटी'। मूल प्रश्न उस सामाजिक गतिकी का है, जो मनुष्य की स्वतंत्रता (प्रेम आदि) का प्रसार करे, न कि जगसीर के पिता को दिए गए दण्ड के समान दण्ड दे।

इस उपन्यास को प्रकाशित हुए लगभग आधी शताब्दी बीत चुकी है और दलितों के स्तर पर ढेर सारी रचनाएं सामने आ चुकी हैं, लेकिन अभी भी इस तरह के प्रश्न का सामना किसी कृति में नहीं किया गया है! यह प्रश्न भारतीय सामाजिक संरचना में परिवर्तन के दृष्टिकोण से सबसे अहम और 'आधुनिक' है।

लेकिन यह उपन्यास इतने ही प्रश्न तक सीमित नहीं है। असल में यह उपन्यास एक ऐसे संक्रमण स्थल पर मौजूद है जहाँ एक अतीत हुए युग की अंतिम सांसें आ-जा रही हैं, और लोलुपता, लंपटता व लालच के क्रूर अमानुषिक युग अपने छली यौवन की भरपूर अँगड़ाई ले रहा है। यदि मरणासन्न युग के आधार पर तुलना करनी हो, तो इस उपन्यास के सापेक्ष 'गोदान' को रखा जा सकता है, जहां होरी अपनी मरजाद से बंधी जिंदगी जीता है और इसी मरजाद से बंधकर मृत्यु को प्राप्त करता है। यहां जगसीर होरी का प्रतिनिधि नहीं है, होरी का प्रतिनिधि जगसीर का पिता है, जिसका कहना है कि 'जब मैंने चारों बेटियां पुण्य की ब्याही यानि रूपए के लेन-देन के बिना, तो बेटे की खातिर यह कलंक माथे पर क्यों लगाऊँ?' या 'जिसने दुनिया के पीछे लगकर अपना धर्म छोड़ दिया वह भी कोई आदमी है!.... जन्म एक बार हुआ है। बार-बार मानस-देह नहीं मिलेगी... मैं अधर्मी लोगों के पीछे लगकर नर्क का भागी बन जाऊँ?' तुलनात्मक रूप से देखें, तो 'गोदान' में लेन-देन के क्रूर संबंधों की बजाए सामंती संरचनाओं की क्रूरता को व्यक्त करता है, जिसमें समाज के किसी न किसी स्तर पर 'प्रेम' या 'संवेदना' की उपस्थिति है। सीधे शब्दों में 'गोदान' में लेन-देन और लाभ जैसे 'मूल्यों' पर बन रही एक समानांतर दुनिया की खर्चलिस अधिक तीव्रता से नहीं मौजूद है, और इसका कारण समकालीन यथार्थ ही है। लेकिन 'मढ़ी का दीवा' इससे एक कदम आगे बढ़कर इस नई पैसे-कौड़ी की दुनिया की हकीकत को अपनी यथार्थता में सामने प्रस्तुत करता है। 'स्नेह के बिना, जगसिया, कैसी दुनिया! कैसा जीना!..... और स्नेह लोगों के मन से नदारत हुआ जाता है। जमीन-जायजाद को क्या आग लगाएगा, जब आपस में स्नेह ही नहीं हुआ आदमियों का! जमीन-जायजाद तो, जगसिया, हाथों का मैल है..... और आदमी जब मैल ही चाटने लगे तो धिक्कार है ऐसे जीने को.....!' यहां यह आशय कतई नहीं है कि गोदान में पूंजीवादी संरचनाएं नहीं हैं, और प्रेमचंद उसके प्रति सचेत नहीं थे, इसके बजाए यहां आशय यह है कि गोदान में गांव में इन पूंजीवादी मूल्यों का प्रवेश आंशिक हुआ है, या कहीं तो यह अपने 'प्रोटोटाइप' में मौजूद हैं, और इसका कारण तत्कालीन समय में भारत की औपनिवेशिक स्थिति है।

यहाँ याद रखना चाहिए कि 'मढ़ी का दीवा' में उपन्यासकार ने सामंती शोषण की गंभीरता को कहीं से आंच नहीं आने दी है, लेकिन इसके साथ सामंती संरचनाओं में जो भी शेष बचे मानवीय मूल्य हैं, उनकी गरिमा को भी कहीं से नुकसान नहीं पहुंचाया है। 'धर्म सिंह का पिता

जगसीर के बाप को उसके जट्टी गांव से पगड़ी देकर अपने गांव लाया था। सांझी के अनाज के साथ से चार बीघे के खेत भी दे दिया।' गुरदयाल सिंह के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि उनमें जीवन की सप्तधुनी अनुगूँजें रहती हैं, जीवन और मनुष्य के प्रति आसक्ति व्यक्त होती है और इस सबसे बड़ी बात कि उनकी रचनात्मक कृतियों (उपन्यास और कहानियों में) में किसी तरह की कोई सैद्धांतिक जोर-अजमाइश देखने को नहीं मिलती है। जिस तरह से वे मनुष्य जीवन की विवशता को चित्रित करते हैं बिल्कुल उसी तरह से मनुष्य में व्याप्त उदात्त गुणों व मनोभावों को भी व्यक्त करने में वे महारथी हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच आपसी संबंध सद्भाव और प्रेम की वजह से उत्पन्न होते हैं। हालाँकि सामाजिक संरचनाएं इसे प्रतिबंधित करती हैं, परन्तु यह मनुष्य ही होता है जो हर एक शोषक संस्तर का विरोध करने का प्रयास करता है। 'धर्म! ठोले जगसीर के पिता, को मेरा ही रूप समझना..... हम पिछले जन्म के सगे भाई हैं। हमने एक मां के पेट से जन्म नहीं लिया..... यह तो हमारी भक्ति में कोई विघ्न पड़ा है जो एक जाट के घर पैदा हुआ और किसी और के घर..... थे हम सगे भाई ही.....'।

लेकिन धर्म सिंह और उसका पिता इस पूरी व्यवस्था में अपवाद हैं। यदि दूसरे संपत्तिशाली उदार न हो? या धर्म सिंह का पुत्र वन्ता की मौजूदगी हो? इस मामले में प्रो. मैनेजर पाण्डेय की मान्यता बिल्कुल सही प्रतीत होती है। भक्ति काल के संदर्भ में प्रो. पाण्डेय का कहना है कि 'सिर्फ सदाचारवाद से—चाहे वह कितना भी क्रांतिकारी क्यों न हो—सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलती'। 'मट्टी का दीवा' में यह स्थिति बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है। निश्चय ही यहां प्रश्न भूमि के स्वामित्व का नहीं, बल्कि भूमि के उचित और क्रांतिकारी वितरण का है। धर्म सिंह का पिता जगसीर के पिता को उसकी मेहनत और पुरुषार्थ के वशीभूत होकर दिए गए खेत को औपचारिक रूप से उसके नाम करना चाहता है, परन्तु '.....जाने सरकार का क्या पेट फूटता है..... ऐसा भी क्या कानून हुआ कि मैं अपनी जमीन, अपनी मरजी से 'अपने भाई' के नाम नहीं लगवा सकता। सौ जूता ऐसे कानून के सिर पर! और सौ जूता ऐसे कानून को बनाने वाले के सिर पर!'

यह स्थिति और कुछ नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता के सबसे विद्रुप और घृणित पक्ष की ओर इशारा करती है। ब्रितानी उपनिवेशवाद को लेकर पिछले 50-60 वर्षों की बहसों से यह तथ्य बहुत अधिक स्पष्ट हो गया है कि ब्रितानी यहाँ आधुनिकता के भारवाहक बनकर नहीं आए थे, बल्कि अपने मरते हुए सामंतवाद को प्रेत की तरह कंधे पर लादे हुए आए थे, और यहां की व्यवस्था में किंचित छेड़छाड़ (पिरामिड की ऊपरी ईंट हटाकर) करके यहां के सबसे बड़े सामंत बन गए। यही सामंतवाद और इसका सर्वोच्च सामंत भारतीय किसान और खेत मजदूरों की त्रासदी का अजस्र स्रोत था। तितली (1934) में जयशंकर प्रसाद इसी समस्या से मुखातिब थे। लेकिन आजादी के बाद भी राजनीतिक स्तर पर इस समस्या को हल करने के लिए सचेत प्रयास नहीं हुए। तेलंगाना (1947-1951) की अग्निधर्मी चेतना के बावजूद राजनीतिक स्तर पर इस समस्या की गंभीरता को पहचानने से लगातार इंकार किया गया। वास्तविकता यह है कि आजादी के बाद सबसे बड़ी जरूरत थी, भूमि के क्रांतिकारी वितरण और भूमि सुधारों की। लेकिन यह स्थिति भारत के सत्ताधारी वर्गों के हितों से टकराती थी, और इससे भी बड़ी बात कि नेहरू की 'प्रगतिशीलता' भी इन हितों से टकराने का साहस नहीं कर पाई! प्रो. रणधीर सिंह ने स्वतंत्रता प्राप्ति के विद्यमान सत्ता की कार्यनीति का विश्लेषण करते हुए उचित व तार्किक रूप में लिखा है :

सत्ता में पहुँचने के बाद नेहरू ने बेहतर भूमि सुधारों की कीमत चुकाने से परहेज किया। पहली पंचवर्षीय योजना की प्रारूप रूपरेखा में चेतावनी दर्ज की गई, 'ये बेहतर भूमि सुधार, असंख्य व्यवहारिक समस्याओं को उत्पन्न करने के साथ आधारभूत सामाजिक विवादों को भी जन्म देंगे (दे सकते हैं), जिससे अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली सामाजिक शक्तियों का उभार होगा'। अधिक कहें तो साधारण तौर पर उन्होंने नेहरू ने, 'वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ' में समाजवाद से किनारा कर लिया था। इसका मतलब आधारभूत आर्थिक-संरचनागत परिवर्तन से किनारा करने से है।

इतना ही नहीं, नेहरू की 'प्रगतिशीलता' ने साम्राज्यवादी पूंजी की सुरक्षा का भी बंदोबस्त तो किया ही, साथ ही महारानी की ताबेदारी में भी कोई कमी नहीं आने दी। निश्चित रूप से भारतीय स्वतंत्रता के साथ सबसे बड़ी त्रासदी यह हुई कि यहां सत्ता का क्रांतिकारी स्थानांतरण होने की बजाए यह स्थानांतरण बुर्जुआ वर्ग की ओर हुआ। आज भी इसी स्थिति का रूपक एक भिन्न लय और ताल में हिन्दुस्तान में मौजूद है। किसानों की जमीनों का स्वामित्वहरण और साम्राज्यवादी पूंजी की सुरक्षा में सत्ताधारी वर्ग बिल्कुल इस हकीकत को सामने रखते हैं।

निश्चित रूप से आज अपने लिखे जाने से लगभग आधी सदी बाद 'मढ़ी का दीवा' ने अपने अर्थ का अत्याधिक विस्तार किया है। लेकिन यह अर्थ विस्तार तभी संभव था, जब वह अपने वर्तमान की सचेत, तार्किक व मानवीय परख करता 'मढ़ी का दीवा' एक बार फिर प्रमाणित करता है कि कालजीविता की शर्त पर ही कालजयता अर्जित की जाती है।

लेकिन इस उपन्यास की विराटता यही समाप्त नहीं होती है। इसमें जगसीर के जीवन का एक अन्य उद्घात पक्ष शेष है। और यह उद्घात पक्ष भानी और जगसीर के संवेदनात्मक संबंधों का है। भानी निक्के की बहू (पत्नी) है, और मुंह दिखाई के दौरान जगसीर उससे बेतरह प्रभावित होता है। लेकिन इस संबंध को सामान्य रूप से प्रचलित अर्थों में 'प्रेम' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। भानी को देखना जगसीर के लिए इस प्रश्न में तब्दील हो जाता है कि 'सूरज की ओर कितनी देर तक देख सकता है।' और स्वयं 'भानी को अपना तन गंगाजल से पवित्र अनुभव होने लगता था और उसके अंगों से उसे अद्भुत सी सुगंध आने लगती, जिससे कई-कई दिनों तक वह आनंद-विभोर हुई रहती।'।

असल में जगसीर और भानी के संबंधों को चित्रित करते हुए गुरदयाल जी ने पंजाबी साहित्य की परंपरा को एक नया आयाम दिया है, या सही मायनों में इस परंपरा को नए अर्थों और मानकों के साथ व्यक्त किया है। वारिश शाह ने 'हीर-राँझा' का जो काव्यात्मक सृजन किया है, वह मनुष्य की विवशताओं को जितना व्यक्त करता है, उससे कहीं अधिक मनुष्य संबंधों की उद्घातता को। सैदे का विवाह हीर के साथ हीर की 'सहमति' के बिना ही मान लिया जाता है, लेकिन बाद में राजा इस विवाह को अमान्य घोषित करके हीर को राँझे की पत्नी घोषित कर देता है। जाहिर सी बात है कि यह उतनी ही क्रांतिकारी बात है, जितना मीरा अपनी कविता में व्यक्त करती हैं, या आधुनिक युग में रूखमाबाई अदालत के सामने कहती है। यानि स्त्री ही फैसला कर सकती है कि उसका पति कौन होगा। लेकिन 'मढ़ी का दीवा' में भानी विवश है, संभवतः भानी से पूछा तक न गया होगा कि वह निक्का को स्वीकारती है कि नहीं। बावजूद इसके जगसीर के लिए भानी विवाहित है। जीवन के दूसरे पक्षों की तरह वह यहाँ भी हर एक सामाजिक परंपरा का सम्मान करता है और यह सम्मान इसलिए कि क्योंकि वह अपने पिता को दिए वचन की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता, 'जाकर सो

जाओ बापू, जो होना था सो हो गया.... आगे से ऐसा कुछ नहीं होगा।' और यह जो कुछ हुआ है, वह यह कि निक्का बेवजह भानी को आरोपित ही नहीं करता, बल्कि बेतरह पीटता भी है और उसकी माँ इस प्रसंग में निक्के का साथ देती है। जैसा इस लेख के आरंभ में कहा गया कि जगसीर मनुष्यता के समस्त उद्दात्त गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति है, और वह भले ही स्वयं पर हुए अत्याचारों को सहता रहे, लेकिन किसी दूसरे कमजोर या अबस व्यक्ति पर हुए अत्याचार को सहन नहीं कर पाता है, 'औरतों को पीटने वाले ऐसे ही किया करते हैं. अगर यही बात है तो आ बाहर निकल आ'। यह मनुष्य का सच्चा पौरुष है। यह वही पौरुष है जो गुरु गोविंद सिंह का परंपरा कहा जा सकता है। हिन्दू व्यवस्था के उत्पीड़न से मुक्ति के सबसे शक्तिशाली प्रतिरोधी आंदोलन 'भक्ति आंदोलन' के सबसे क्रांतिकारी स्वरूप का गोविंद सिंह प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिस प्रेरणा से सिक्खों के लिए समाज परिवर्तन के लिए नव-निर्माण का स्वप्न सजोया, उसमें यही पौरुष विद्यमान था कि मनुष्य सबसे पवित्र है, और उसमें किसी भी तरह का भेद नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है, वह अत्याचारी व कमजोर का है। जगसीर इन मायनों में गुरु की परंपरा का ही प्रतिनिधित्व करता है। हालांकि जो ऊँची जाति के तथाकथित सिक्ख हैं, उनमें केवल सिक्ख धर्म 'धर्म' के रूप में ही शेष रहा है, न कि गुरु की प्रेरणा व परंपरा के रूप में।

जगसीर की यह संवेदना कोई वायवीय किस्म की नहीं है, जो किसी रोमान से ढकी हो, इसके बजाए यह उस कठोर और उत्पीड़ित जीवन में अपनत्व की चाह में पनपी है, जिसे यदि कोई संज्ञा ही देनी हो, तो मनुष्य जीवन के सबसे उच्च व पवित्र संबंध यानि मित्रता का नाम दिया जा सकता है। मनुष्य जीवन में मित्रता ही एकमात्र संबंध होता है, जो 'ईश्वरकृत' नहीं होता है, और इसी संबंध के साथ मनुष्य अपने जीवन में सबसे अधिक सृजनात्मक होता है। इस संबंध में किसी तरह का कोई विचलन तक जगसीर को स्वीकार नहीं है, 'अपने पीछे रब्व है भानो! ऐसे कीचड़ में हमने तब हाथ नहीं लबेड़े जब समय था। अब सफेद चादर पर कैसे दाग लगा लें! जो कोई कहता है, कहने दे। चाँद पर थूका अपने ही मुँह पर पड़ेगा।'

इस प्रेम कहानी की बुनावट में 'हीर-रौंझा' की अनुभूतियाँ मौजूद हैं, 'जगसीर से, क्यों रौंझियाँ भी हुए नहीं हीर सलेटी के दर्शन-दीदार! अब चल पड गोरखनाथ के टिल्ले को! पडवा ले कान आगा-पीछा क्या देखना है! फिर जाकर बोल देना 'अलख-निरंजन!' और घर के सामने मिट्टी का कासा तोड़कर उसकी कंकरें चुगते रहना- इतने से भी नहीं पहचानेगी रौंझे जोगी को!' लेकिन जगसीर को ये बातें अच्छी नहीं लगती।

'मट्टी का दीवा' में मौजूद भयावह त्रासदी के बावजूद मनुष्य स्तर पर जिस तरह के प्रतिरोध की अपेक्षा हो सकती है, उपन्यासकार ने उसे पूरी गरिमा से व्यक्त किया है। इस पूरी संक्रमणकालीन अवस्था में सामंती अवशेषों और लाभ के एकमात्र मूल्य पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था की लहलहाती फसल के बीच में धर्म सिंह जैसे अपवाद विचार रखने वाले चरित्र का अंत कुछ इसी तरह से हो सकता था कि वह इस निष्ठुर संसार को त्याग दे। जब पूरी की पूरी व्यवस्था ही अमानवीय हो गई हो, और भौतिक संघर्ष की एक चिंगारी भी न मौजूद हो, ऐसे में कुछ एक मध्यकालीन भक्त कवियों ने जिस विकल्प को अपनाया, उससे अलग कोई विकल्प क्या हो सकता है?

वास्तविकता यह है कि, इस उपन्यास का आधार जो व्यवस्था और परिवेश है, वह प्रगतिशील चेतना से वंचित है (या वंचित कर दिया गया है), और यह अनादि-अनंत ईश्वर के आधार पर (तथाकथित रूप से) संचालित है। भले ही उस ईश्वर का अस्तित्व न हो, लेकिन

वह इस परिवेश के लोगों के साथ जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि सामाजिक रूप से वंचित और शोषित व्यक्तियों का प्रतिरोध इसी आधार पर रूपाकार होता है। रौनकी, 'अगर भडुवे रब्ब ने हमारे जैसों के साथ ऐसे ही करनी थी, तो ... किसी चिड़ी-जनैर की जूनी में डाल देता, आदमी की जूनी देने की क्या जरूरत थी!' या जगसीर, 'भडवे जहान के! भला ऐसे नरक के कीड़ों को आदमी की जून में डालने की तुझे क्या पड़ी थी!' भौतिक आधार पर प्रतिरोध के लिए जमीन भले ही न तैयार हो, परन्तु अन्यायी और अमानवीय व्यवस्था को तथाकथित रूप से 'बनाने वाले' को यह चुनौती एक आस्तिक समुदाय के नजरिए से कठोर ही नहीं, बल्कि क्रांतिकारी भी है। यह क्रांतिकारी विचार ही भविष्य के भौतिक प्रतिरोध का आधारभूत स्रोत है।

इसके अलावा एक प्रश्न यह भी है कि इस तरह की क्रूर और मानवीय व्यवस्था को सहन कैसे किया जा सकता है। इस मामले में मार्क्स के ही शब्दों को उधार लेकर आसानी से कह सकते हैं, 'पूँजीपति वर्ग ने, जहां पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहां सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और काव्यात्मक संबंधों का अंत कर दिया। उसने मनुष्य को अपने 'स्वाभाविक बंडों' के साथ बांध रखने वाले नाना प्रकार के सामंती संबंधों को निर्ममता से तोड़ डाला या अपने नग्न स्वार्थ के, 'पैसे कौड़ी' के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध बाकी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनंदारितेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया..... संक्षेप में, धार्मिक और राजनीतिक भ्रमजाल के पीछे छिपे शोषण के स्थान पर नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषक की स्थापना की।' जाहिर सी बात है कि आत्मिक स्तर पर धर्म व्यवस्थागत अन्याय के प्रति सहनशीलता को ही उत्पन्न करने का प्रयास करता है, लेकिन यह द्वंदात्मक प्रक्रिया है। इसीलिए दूसरी तरफ धर्म वास्तविक सामाजिक व्यवस्था की तार्किकता को सृजित करने के क्रम में अपनी अतार्किकता को भी स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देता है लेकिन भौतिक आधार की गैरमौजूदगी प्रतिरोध की 'अद्वैतता' को भी जन्म देती है। बिल्कुल इसी तरह से मादक पदार्थों का सेवन भौतिक स्तर पर सहनशीलता को उत्पन्न करने का प्रयास करता है, और मार्क्स ने इसीलिए धर्म की तुलना अफीम से की थी।

एक समय 'जगसीर की खेल-कुश्ती का आदत इतनी बढ़ गयी कि वह, गेलू और घीला तीनों पहर-पहर मालिशें करते और कुश्ती लड़ते रहते। उनके हमउम्र लड़के बीड़ में जाकर बीड़ियां पीते, गांव की लड़कियों की बुरी-भली बातें करते या मण्डी में जाकर दही-भल्ले और खटाई-चाट, जाने क्या गोबर-कूड़ा खाते और पत्ते चाटते रहते।' लेकिन इसके बाद समय का वह दौर भी आता है कि जगसीर शराब पीने लगता है, अफीम की दो-दो गोलियां एक साथ खाने लग गया। यहां मादक पदार्थों के प्रयोग की वकालत नहीं की जा रही है, बल्कि यह समझने का प्रयास किया जा रहा है कि इस प्रवृत्ति के मूल में क्या है। यहां विद्यमान घृणित स्तर की गरीबी, अपरिमित दुःख, अपमान, विवशता और विकल्पहीनता के बीच 'दवा और दारू' एक दूसरे प्रतिरूप में बदल जाते हैं। अपमान की भीषणता यह कि जिस जगसीर के जीवन में स्वार्थ जैसा शब्द अपने मायने ही नहीं अर्जित कर पाया, उस जगसीर को धर्म सिंह के पुत्र से सुनना पड़ता है, 'कमजात, सारी उम्र हमारा नमक खाकर अब हराम करने लगा है।' यह दो युग अवस्थाओं के संघर्ष जैसी स्थिति है, और यह संघर्ष 'मूल्यों' का है। बेमानी हो चुके अपने मूल्यों के साथ जगसीर को बेखुदी की बेतरह जरूरत है, 'आंखें खुली तो कितना दिन चढ़ चुका था। उसके जोड़ों में बहुत दर्द हो रहा था। सारा शरीर तप रहा था। उसी समय जेब

से डिबिया निकाली और दूसरा मावा भी मुंह में डाल लिया'। अथवा 'बुखार से तपते जगसीर के लिए, 'दवा-दारू क्या लेनी है। ठीक हो जायेगा तो भला, नहीं होगा तो अगले पार चल देंगे..... अपने जाने से क्या संसार सूना हो जाएगा.....।'।

आज के दौर में भले ही सामंतवाद मृतप्रायः हो गया हो, लेकिन पूँजीवादी अमानुषिकता अपने चरम पर है, और जगसिया व उसके जैसे अरबों-खरबों कुंदन जैसे शरीर वाले युवाओं के लिए तांडव नृत्य कर रही है। पंजाब ही नहीं, बल्कि पूरे हिंदुस्तान में नशाखोरी की प्रवृत्ति पहले की तुलना में सैकड़ों गुना बढ़ गई है। भले ही नीम-हकीम किस्म के राजनीतिज्ञ यह कहकर युवाओं के दुःखों का अपमान करते हो कि 'पंजाब में दस में सात युवा नशेड़ी हैं', लेकिन इसके मूल में मौजूद विकल्पहीनता की पीड़ा को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

अपने लिखे जाने के साथ ही क्लासिक्स का दर्जा पा चुका 'मढ़ी का दीवा' आज लगभग आधी शताब्दी के बाद भी अपना अर्थ-विस्तार करने में सक्षम है, और अभी भी हमारी सांस्कृतिक चेतना के लिए चुनौती के रूप में मौजूद है। 'मढ़ी का दीवा' तत्कालीन प्रतिक्रियावादियों के लिए जिस तरह से परेशानी का सबब था, बिल्कुल उसी तरह से आज यह मुक्त पूंजी के पैरोकारों के लिए भयावह चिन्ता का सबब है, क्योंकि यह उनके अमानुषिक चेहरों को दिखलाने वाला सच्चा आईना है। इसके साथ ही यह उपन्यास पीड़ित, शोषित और गरीब सर्वहारा जनता की चेतना का अजस्र स्रोत भी है, जो उन्हें सचेत करता है कि 'जगसिया! आदमी की दवा आदमी ही होता है' और प्रेरित करता है कि मनुष्य को अपने हर एक साधन से शोषण का प्रतिरोध करना चाहिए।

बात पते की

- अशोक वाजेपेयी : सी-70, अनुपम हाऊसिंग सोसायटी, बी-13, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-110096
- राधावल्लभ त्रिपाठी : radhavallabh2002@gmail.com
- अर्चना वर्मा : जे-901 एच.आई. ब्रीड, नीहो स्कॉटिश गार्डन अहिंसा खण्ड-2, इंदिरापुरम, गाज़ियाबाद-201010
- अल्पना मिश्रा : हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
- सूर्य नारायण : हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002
- विवेक निराला : 'निराला निवास' 265, छोटी वासुकी, दारागंज, इलाहाबाद-211006
- रवि श्रीवास्तव : 62, वन विहार कॉलोनी, टोंक रोड, जयपुर-302018
- आशीष त्रिपाठी : एल-7, वार्डेन क्वार्टर्स जोधपुर कॉलोनी बी.एच.यू. वाराणसी-221005
- विनोद शाही : 9, चीमानगर एक्सटेंशन, मीठापुर रोड, यवर, टाउन कॉलोनी, जालंधर, पंजाब-144014
- रामकीर्ति शुक्ल : 27, कोसलेश नगर, सुंदरपुर, वाराणसी-221005
- शैलेन्द्र चौहान : पी-1703, जयपुरिया सनराइज ग्रीन्स, प्लॉट न. 12 ए, अहिंसा खंड, इंदिरापुरम, गाज़ियाबाद-201014
- वंदना मिश्रा : हिन्दी विभाग, जी. डी. बिनानी पी. जी. कॉलेज मिर्जापुर-231001
- अस्मुरारी नंदन मिश्र : टी. जी. टी. हिंदी, केन्द्रीय विद्यालय, रायगढ़ (नियर म्युनिसिपैलिटी काम्प्लेक्स) रायगढ़-765001 (उड़ीसा)
- तरुण गुहा नियोगी : 10, दीप अपार्टमेंट, महानंदा, नागपुर रोड जबलपुर-482001
- राजेन्द्र दानी : 15, के. जी. बोस नगर, गढ़ा, जबलपुर-482004
- भवानी सिंह : 85, गायत्री नगर 'ए' महारानी फार्म, दुर्गापुरा, जयपुर-302018
- जितेन्द्र विसारिया : ठ-15 गौतम नगर, साठ फीट रोड, थाठीपुर, ग्वालियर-474011
- जीतेन्द्र गुप्ता : द्वारा : रितु गुप्ता, AAI ग्रुप, सी-डैक, पुणे, 5th फ्लोर वेस्टएंड सेन्टर 3rd, सर्वे न. 169/1 सेक्टर-2 (रिलांसय मार्ट) डी. पी. रोड औंध, पुणे-411007